भारतीय साहित्यशास्त्र

[भारतीय रसशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन

लेखक

बलदेव उपाध्याय, एम० ए० साहित्याचार्य

प्रोफेसर, संस्कृत-पाली विभाग

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

भूमिका-लेखक

डाक्टर अमरनाथ झा

वाइस-चान्सलर

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

प्रथम संस्करण]   २००५ संवत   [मूल्य ८)

साहित्यशास्त्र

उपकारकत्वाद् अलङ्कारः सप्तमम् अङ्गम्। ऋते च तत्स्वरूप-परिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः।

पञ्चमी साहित्यविद्या। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।

—महाकवि राजशेखर।

अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद् ग्रावप्रख्यं निज-रसभरात् सारयति च।
क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसर-सुभग भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयतात्।

अभिनव-गुप्ताचार्य।

लेखक की रचनायें

संस्कृत

भरत—नाट्यशास्त्र

भामह—काव्यालङ्कार

श्रीहर्ष—नागानन्द

वररुचि—प्राकृतप्रकाश

माधव—शङ्कर दिग्विजय

सायण—वेदभाष्य भूमिका

हिन्दी

भारतीय दर्शन

धर्म और दर्शन

बौद्ध दर्शन

आचार्य सायण और माधव

आचार्य शङ्कर

वैदिक कहानियाँ

आर्य संस्कृत के मूलाधार

संस्कृत साहित्य का इतिहास

संस्कृत कविचर्चा

संस्कृत वाङ्मय

सूक्ति मुक्तावली

कवि और काव्य

वैदिक वाङ्मय

वैदिक संस्कृति

कैलासवासिनी

पूजनीया

श्रीमाताजी

की

परम-पवित्र स्मृति में

सादर

सप्रेम

समर्पण

प्रकाशकीय

'नवीन' कही जानेवाली आलोचना में पश्चिमी साहित्यशास्त्र की मान्यता बहुत है और भारतीय या संस्कृत साहित्यशास्त्र की केवल उपेक्षा ही नहीं विरोध भी किया जाता है। कोई निष्पक्ष व्यक्ति यह तो नहीं कह सकता कि एक ही ठीक है, अन्य नहीं, किंतु भारतीय साहित्यशास्त्र के पीछे चिंतन की क्या, गहरे चिंतन की धारा ईसा के जन्म के बहुत पहले से प्रवाहित होती चली आ रही है और समय समय पर उसका प्रसार और विकास भी होता आया है। भारत में अँगरेजी भाषा सुलभ हो जाने से नवीन आलोचक पश्चिमी साहित्यशास्त्र से जितना सुपरिचित हो जाता है उतना संस्कृत साहित्यशास्त्र से नहीं। संस्कृत की पढ़ाई-लिखाई यों ही कम होती जा रही है, सम्प्रति वह कुछ कठिन और दुरूह भी प्रतीत होने लगी है। संस्कृत का शास्त्र तो सूक्ष्म विवेचन के आग्रह, सूत्रात्मक विधान और नैयायिक विचार-सरणि के समावेश से दुर्गम हो ही गया है। अतः शास्त्र के व्याख्यात्मक और ऐतिहासिक निरूपण को दृष्टि मे रखकर किए गए अनुवादों के बिना उनके अंतस् तक पहुँचना कठिन क्या, असंभव है। मम्मटाचार्य के 'काव्यप्रकाश' का अँगरेजी मे मार्मिक अनुवाद करके स्वर्गीय महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथजी झा ने उस भाषा के माध्यम द्वारा संस्कृत साहित्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करनेवालों का बड़ा उपकार किया। जैसे संस्कृत का और वाङ्मय अँगरेजी मे बहुत कुछ अनूदित हो गया है वैसे ही यदि समस्त साहित्यशास्त्र भी उसमे भाषांतरित हो गया होता तो भी उस भाषा के साधन से ही इसमें कुछ लोगों का अभिनिवेश अवश्य होता। हिंदी में पं० हरिमंगलजी मिश्र का किया हुआ 'काव्यप्रकाश' का अच्छा अनुवाद अभी कल प्रयाग के हिंदी-साहित्य-संमेलन से प्रकाशित हुआ है। 'साहित्यदर्पण' पर पं० शालग्रामजी शास्त्री की विमला टीका मूल-सहित अभी परसों हिंदीवालों के सामने आई है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने 'रसगंगाधर' का उल्था अभी अभी प्रकाशित किया है। संस्कृत

साहित्यशास्त्र के स्वरूप-बोध के लिए मूल ग्रंथों के हिंदी अनुवाद की महती आवश्यकता है। साथ ही अपेक्षा है ऐसे विवेचनात्मक, परिचयात्मक तथा तुलनात्मक ग्रथो की भी जो साहित्यशास्त्र के क्रमविकास का, उसके अतर्गत प्रवाहित होनेवाली विभिन्न धाराओं का, उनके पारस्परिक भेद का और पश्चिमी साहित्यशास्त्र में पाई जानेवाली तदनुरूप शास्त्रीय मनोवृत्ति का तुलना-सहित परिचय जिज्ञासुओं को कराएँ।

'भारतीय रसधारा क्या है' जब तक इसका पूर्ण परिचय न दिया जाय तब तक रस के संबंध मे कही जानेवाली अनेक प्रकार की उलटी-सीधी बाते नूतन आलोचना में बंद नहीं हो सकतीं और उनका बंद होना सत्य की रक्षा के लिए आवश्यक है। जो विद्वान् कहते हैं कि भारतीय साहित्यशास्त्र मे पाश्चमी साहित्यशास्त्र की सभी सरणियाँ समाविष्ट हैं उन्हे सप्रमाण इसे सिद्ध करना चाहिए। आधुनिक जिज्ञासा का समाधान रसपद्धति को सर्वोपरि कह देने मात्र से नहीं हो सकता, उसे सर्वत्र घटित करके दिखाना भी होगा। हिंदी मे इस प्रकार का प्रयास सबसे पहले स्वर्गीय आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने किया है। पंडितराज जगन्नाथ के अनतर जो रस-विमर्श एक प्रकार से रुका हुआ था उसे फिर से आरभ कर और आधुनिक दृष्टि से उसका विश्लेषण करके उन्होंने बहुत ही समयोपयोगी कार्य किया। उनके मानदंड और समीक्षा-सरणि का पता उनकी आलोचनाओ से तो चलता ही है, उन्होने 'रसमीमासा' पर एक स्वतत्र सिद्धात-ग्रथ ही प्रस्तुत किया है जो यत्र तत्र अधूरा रह गया है। वह काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो रहा है।

आधुनिक साहित्य में लाक्षणिक प्रयोगो और अभिव्यंजना की बहुलता है। यह पश्चिमी साहित्यशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव है। बहुत दिनों तक कुछ नए लोग यही समझते थे कि अभिव्यजना की नूतन पद्धति और उसका शास्त्रीय विचार पश्चिम की बहुत बड़ी देन है। पर अब लोग भली भाँति जान गए हैं कि संस्कृत साहित्यशास्त्र मे भी बहुत पहले 'वक्रोक्ति' के नाम से इस विषय की विस्तृत और व्यवस्थित चर्चा की जा चुकी है। लोग राजानक कुतक के 'वक्रोक्तिजीवित' का नाम तो जान गए हैं पर उसमे क्या है इसका

पता अभी तक बहुतों को नहीं है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय वस्तुतः काव्य-निर्माण में कर्तृपक्ष का प्राधान्य मानकर चलनेवाला सम्प्रदाय है। सच पूछा जाय तो अनुकार्य या वर्ण्य, कर्ता वा कवि और ग्राहक अथवा सामाजिक तीनों की दृष्टि से पृथक् पृथक् प्रकार का काव्य-विधान माना जाता रहा है। 'स्वभावोक्ति' अनुकार्य या वर्णनीय पर विशेष दृष्टि रखकर चली। आगे जाकर उसका अंतर्भाव अलकार मे कर दिया गया, क्योंकि वह व्यक्ति या वस्तु का यथावत् वर्णनमात्र थी, उसका स्वरूप वाच्य-प्रधान था। स्वभावोक्ति को अलकारों में परिगणित देखकर कुतक बहुत झुँझलाए हैं और उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि जो लोग स्वभावोक्ति को अलंकार अर्थात् वर्णनशैली मानते हैं उनके लिए अलंकार्य या वर्णनीय क्या बच रहता है। वर्ण्य को वर्णनशैली कहना वैसा ही है जैसे अपने कधे पर स्वयम् चढ़ना—

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥
शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम् ।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥

उधर मम्मटाचार्य द्वारा काव्य को 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कहे जाने पर अलंकार-संप्रदाय बहुत क्षुब्ध हुआ और पीयूषवर्षी जयदेव को 'चद्रालोक' मे लिखना पड़ा कि जो बिना अलकार के काव्य मानते हैं वे बिना उष्णता के अग्नि क्यों नहीं मानते—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अधिकतर लाक्षणिक वाग्वैदग्ध्य को काव्य का जीवित कहता हुआ सामने आया। इसी से कुतक की सारी वक्रोक्ति-प्रक्रिया किसी किसी आचार्य ने लक्षणा-प्रपंच के भीतर ही मानी है। वक्रोक्ति मे 'व्यक्ति-वैचित्र्य' अर्थात् कर्ता के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के प्रदर्शन के लिए बहुत चौड़ी भूमि निकल आती है।

रस-सप्रदाय ने व्यंग्य को प्रमुख माना। इस प्रकार स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति के रूप मे विकसित काव्यभूमि प्रस्तुत हुई। भोजराज ने वाङ्मय की त्रिविधता अपने 'सरस्वतीकंठाभरण' में स्पष्ट घोषित की है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥

पश्चिम मे स्वभावोक्ति (कैरेक्टराइजेशन) और वक्रोक्ति (एक्सप्रेसनिज्म) का जितना विचार और विस्तार हुआ उतना रसोक्ति (सेंटीमेंट = स्थायी भाव) का नहीं। मनोविज्ञान के भाव (इमोशन) और स्व-भाव (कैरेक्टर) पर उनकी दृष्टि अधिक रही, स्थायी भाव (सेंटीमेंट) पर कम। सस्कृत साहित्य-शास्त्र ने रस या स्थायी भाव को ही मूलाधार माना है। उसका सीधा और प्रधान सबध सामाजिक से है, इसी सामाजिकता से प्रेरित होकर रस-सप्रदाय ने 'औचित्य' को काव्य का आधारभूमि स्वीकार किया। जब 'स्व-भाव' और 'स्वानुभूति-व्यजना' पर दृष्टि रखनेवाले 'औचित्य' को धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र के क्षेत्र की बात कहकर उसे साहित्य से हटाना चाहते हैं तब भारतीय रसशास्त्र की 'औचित्य' भूमि क्या है और उसमें सामाजिकता कितनी है इसे समझा देना आवश्यक है। 'रीति-वक्रोक्ति' का किस प्रकार श्रव्य काव्य और प्रधानतया मुक्तक रचना से संबंध जुड़ा हुआ है तथा 'औचित्य' किस प्रकार दृश्य काव्य और प्रधानतया 'अनुज्झितार्थसबध' प्रबंध से संबद्ध है इसका विवेचन यहाँ अनपेक्षित है। यहाँ तो बताना यही है कि प्रस्तुत ग्रंथ में रस-संप्रदाय के प्रमुख तत्त्व औचित्य-वृत्ति और अलंकार-सप्रदाय के प्रधान आधार रीति-वक्रोक्ति का विवेचन कराके सबसे पहले इसीलिए प्रकाशित किया जा रहा है कि इसकी वर्तमान काल में विशेष आवश्यकता है। अभी तक इन विषयों का विस्तृत परिचय और विवेचन इस रूप में कही उपलब्ध नही; न हिंदी में, न अन्यत्र। रस, अलंकार आदि का थोड़ा बहुत विवेचन तो सर्वत्र मिलता है। प्रस्तुत ग्रथ में ऐतिहासिक, समीक्षात्मक और तुलनात्मक शैली से विषय का निरूपण किया गया है। संस्कृत के लक्ष्य-ग्रंथों से लिए उदाहरणों के प्रामाणिक हिंदी

अनुवाद भी साथ साथ दिए गए हैं। वक्रोक्ति को समझाने के लिए प्राचीन हिंदी के भी उदाहरण रखे गए हैं; विशेषतया ऋजु प्रेम की अनेकानेक अंतर्वृत्तियों को वक्र मार्ग से ले चलनेवाले भाषा-प्रवीण घनआनद जी की रचना के। विषय को सुबोध और रोचक ढग से उपस्थित करने मे लेखक ने अथक श्रम किया है। जिन जिन काव्यांगो का उपस्थापन किया गया है न तो उनके संबध की एतावत् काल तक उपलब्ध कोई सामग्री छूटी है और न उसका कोई अग अविश्लिष्ट रह सका है। इसे भारतीय साहित्यशास्त्र के तत्तत् विषयों का विद्याकोश ही समझना चाहिए।

'प्रसाद-परिषद्' की ओर से भारतीय साहित्यशास्त्र पर विस्तृत ग्रंथ प्रस्तुत कर देने के लिए मान्यवर श्री पं० बलदेव जी उपाध्याय से मैंने प्रार्थना की थी। यह अंश सबसे पहले प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। प्रकाशन के पूर्व 'परिषद्' की ओर से आयोजित व्याख्यानमाला के अतर्गत व्याख्यान दिलाने का भी समार क्रिया गया था, पर 'श्रेयासि बहुविघ्नानि' ने केवल एक ही व्याख्यान देने दिया। अन्य व्याख्यानों की परिसमाप्ति की प्रतीक्षा न करके पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित करा देना ही समुचित प्रतीत हुआ। इस ग्रथ को प्रस्तुत कर देने के लिए 'परिषद्' उपाध्याय जी की अति अनुगृहीत है। 'परिषद्' काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के कुलपति डाक्टर अमरनाथजी झा की भी कृतज्ञ है, जिन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिख देने की कृपा की है। 'परिषद्' प्रातीय शासन को भी धन्यवाद देती है जिसने उसके साहित्यिक कार्यों की अभिवृद्धि के लिए सहायता प्रदान की और इस प्रकार इसके द्वारा साहित्य-क्षेत्र में हुए और होनेवाले गुरु-गंभीर कार्य का मान किया तथा भव्य एव भाव्य के हेतु उत्साह दिया।

रामनवमी, स० २००५
ब्रह्मनाल, काशी

विश्वनाथप्रसाद मिश्र
(सभापति)

भूमिका

साहित्य-विवेचन और साहित्य-समीक्षा के [सम्बन्ध में भारतवर्ष मे अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं और प्राचीन काल से इनका अध्ययन होता आया है। आजकल के नवयुवक जिन्होंने केवल पाश्चात्य साहित्य पढ़ा है बहुधा वे समझते हैं कि ग्रीक और लैटिन मे और तत्पश्चात् फ्रेंच और अंग्रेजी मे जो पुस्तकें हैं उनमे ही सब साहित्यकला का ज्ञान संचित है और बहुधा उन्ही मे समाविष्ट सिद्धान्तों की कसौटी पर साहित्य की समालोचना हो सकती है। यह उनका विश्वास भ्रमपूर्ण है। सस्कृत मे और हिन्दी मे साहित्य-मीमासा विषयक बहुत पुस्तकें हैं जिनके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शास्त्रकारो ने जिस गम्भीरता और योग्यता से अलङ्कार, रस, ध्वनि, गुण, दोष, औचित्य, रीति इत्यदि की विवेचना की है वह किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन पाश्चात्य ग्रन्थ से किसी अश मे कम नहीं। वामन, राजशेखर, प्रभाकर, गङ्गानन्द, विश्वनाथ, मम्मट, क्षेमेन्द्र. जगन्नाथ आदि आदि अचार्यों के ग्रन्थो से आज भी हम शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, साहित्य की रचना कर सकते हैं, साहित्य की समीक्षा कर सकते हैं। पर सत्य है कि सभी आचार्यों का दृष्टिकोण एक नहीं है—**नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्**। परन्तु यह तो स्वाभाविक है यही तो आलोचना-शास्त्र का वैशिष्ट्य है।

काव्य कल्पलता-वृत्ति के रचयिता अमर का मत है कि साहित्य महानन्द-कारक है; रसप्रदीप मे प्रभाकर भट्ट कहते हैं कि **'सुखविशेषकारित्वं'** काव्य का ध्येय है। पण्डितराज कहते हैं—**रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-**

जनकज्ञानगोचरता; और प्रभाकर ने फिर कहा है—इह तावत् काव्यस्यानेक-प्रयोजन-जनकत्वेऽपि रससंवेदनजन्यं सुखमेव मुख्यं प्रयोजनम्। ध्वन्यालोक मे कहा है—

रसाद्यानुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा मताः॥

प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक ने बड़ी योग्यता से, सरल और हृदयगम भाषा मे, प्राचीन साहित्यशास्त्र का दिग्दर्शन कराया है। साथ ही पश्चिमीय विद्वानो के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। विशेपरूप से जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान की चर्चा है वह अत्यन्त उपयोगी है। ऐसी बहुमूल्य पुस्तक के लिखने पर उपाध्याय जी धन्यवाद के पात्र हैं। हिन्दी साहित्य मे इस ग्रन्थ का आदर अवश्य होगा।

—अमरनाथ झा

वक्तव्य

अलंकारशास्त्र संस्कृत-साहित्य की एक अनुपम निधि है। 'अलकारशास्त्र' के केवल अभिधान पर ही दृष्टि रखनेवाले व्यक्ति को यह शास्त्र काव्य के बहिरङ्ग साधनों का ही प्रतिपादक भले सिद्ध हो, परन्तु इसके अन्तरङ्ग के परीक्षकों से यह बात परोक्ष नही है कि यह काव्य के मुख्य अन्तस्तत्त्वों का वैज्ञानिक रीति से विवेचक शास्त्र है। हमारा 'अलकारशास्त्र' पाश्चात्यों के 'पोइटिक्स', 'रेटारिक' तथा 'एस्थेटिक' का समानभावेन प्रतिनिधित्व करता है। 'पोइटिक्स' मे काव्य तथा नाटक की महनीय समीक्षा की गई है। 'रेटारिक' मे वक्तृत्वकला तथा तदुपयोगी गद्य के गुण-दोषो का प्रकाण्ड विवेचन है। 'एस्थेटिक' मे सौन्दर्य के रूप, तत्त्व तथा महत्त्व का दार्शनिक रीति से विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारतीय अलकारशास्त्र में इन तीनों विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्त का एकत्र सुन्दर समीक्षण है। काव्य का सर्वस्व आत्मभूत है रस और इसी रस के अङ्गों तथा उपाङ्गो का साङ्गोपाङ्ग विवेचन अलंकारशास्त्र का उद्देश्य है। पश्चिमी जगत् की काव्यालोचनपद्धति भी कम मूल्यवान् नही है, परन्तु हमारे रसशास्त्र की तुलना मे उसे वह महत्त्व प्राप्त नही हो सकता जिसे साधारण आलोचक उस पर आरोपित करते हैं। अलकारशास्त्र तो निःसन्देह रसशास्त्र अथवा सौन्दर्यशास्त्र है जिसका अनुशीलन तथा मनन दो सहस्र वर्षों से इस भारत-भूमि में होता आ रहा है। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के मान्य आलोचकों ने अपनी सूक्ष्म विषयग्राहिणी बुद्धि से जिन आलोचनातत्त्वों को उन्मीलित किया है वे ससार के आलोचना-जगत् के लिए नितान्त स्पृहणीय, उपादेय तथा आदरणीय हैं। औचित्य, रस और ध्वनि के सिद्धान्त विश्वसाहित्य के लिए हमारी महती देन हैं जिसका मूल्याङ्कन आज की अपेक्षा भविष्य में और भी अधिकता से होने की सम्भावना है।

हमारे हिन्दी साहित्य में आलोचनाशास्त्र का अभ्युदय धीरे धीरे सम्पन्न हो रहा है। अनेक प्रवीण आलोचक इस साहित्य की अभिवृद्धि के लिए

दत्तचित्त से डटे हुए हैं, परन्तु यह तथ्य ज्ञात है कि संस्कृत के अलंकार-शास्त्र का प्रामाणिक तथा विस्तृत विवरण अभीतक हिन्दी में प्रस्तुत नही किया गया है। अधिकांश आधुनिक आलोचक पाश्चात्य आलोचना पद्धति पर इतना अधिक आग्रह रखते हैं कि आज भी वे उन सिद्धान्तों को हिन्दी मे अपनाने के पक्षपाती हैं जिनका परित्याग पश्चिम के आलोचकों ने बहुत पहिले ही कर दिया है। इसीलिए संस्कृत मे निबद्ध रसशास्त्र का बहुत ही स्वल्प अश अभीतक हमारी राष्ट्रभाषा मे आ सका है और जो कुछ आया भी है वह सीधे मूलग्रन्थों से न आकर इधर-उधर के अधूरे अनुवादों के सहारे ही आया है। हिन्दी के हितैषी अनेक साहित्यिक बन्धुओ के आग्रह पर मैंने सस्कृत के मूलग्रन्थो के आधार पर यह नवीन ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न किया है।

'भारतीय साहित्यशास्त्र' के लिखने की योजना चार खण्डो मे की गई है। ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड आपके सामने प्रस्तुत है। योजनानुसार के अनुसार प्रथम खण्ड का विषय है—संस्कृत तथा हिन्दी मे निबद्ध अलकार-शास्त्र का इतिहास—पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र से इसकी तुलना-कवि के उपकरणो का विवेचन—काव्य का भारतीय तथा पाश्चात्य लक्षण और वैलक्षण्य-नाट्य का स्वरूपनिर्देश। द्वितीय खण्ड का विषय है—औचित्य, रीति, वृत्ति (नाट्यवृत्ति) तथा वक्रोक्ति का तुलनात्मक विवेचन। तृतीय खण्ड का विषय है—दोष, गुण तथा अलंकारों का निरूपण। चतुर्थखण्ड का विवेच्य विषय है—ध्वनि का विवेचन, शब्द-वृत्तियो का स्वरूपनिर्देश, रस का विचार, शैवतन्त्र मे रसतत्त्व, रसों की संख्या, शान्तरस का विवेचन आदि। हमारी दृष्टि मे रसध्वनिवाला चतुर्थ खण्ड इस वाङ्मयमन्दिर का कलश होगा जिसमें पूर्वखण्डो मे वर्णित तत्त्वों का परस्पर समन्वय तथा सामञ्जस्य दिखलाया जायगा। योजना बड़ी अवश्य है। भगवान् के ही अनुग्रह पर इसका विधान सफल बनाने की आशा लगाये बैठा हूँ।

मूलग्रन्थ का द्वितीय खण्ड विज्ञ पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है। इस भाग में वे ही काव्यतत्त्व विवेचित किये गये हैं जिनकी जानकारी हमारे आलोचकों में अपेक्षाकृत कम है। इस खण्ड मे औचित्य, रीति, वृत्ति तथा

वक्रोक्ति के रहस्य का प्रतिपादन कुछ विस्तार के साथ किया गया है। मैंने इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक उभय शैलियों का संमिश्रण कर विषय का विवेचन किया है। बहुतो की यह भ्रान्त धारणा है कि अलंकार-ग्रन्थों मे एक ही प्रकार के काव्यतत्त्वों का सर्वत्र समभावेन वर्णन है। सची बात ठीक इससे विपरीत है। अलंकारशास्त्र एक विकासशील शास्त्र है जहाँ काव्यतत्त्वो के स्वरूपनिर्देश के विषय मे हम क्रमिक विकास पाते हैं। जो मान्यताएँ भामह की हैं वे ही दण्डी की नहीं हैं। जो काव्यसिद्धान्त वामन ने निर्धारित किये हैं वे ही आनन्दवर्धन को समभावेन मान्य नहीं हैं। इस विकास को ठीक ठाक समझने के लिए ग्रन्थ के आरम्भिक अध्याय मे अलंकारशास्त्र का ऐतिहासिक परिचय दे दिया गया है। प्रथम खण्ड में यह विषय विस्तार के साथ रहेगा। उस समय इस परिच्छेद को हटा देने में भी ग्रन्थ मे कोई त्रुटि न होगी।

इस प्रकार मैंने इस ग्रन्थ मे पूर्वोक्त चार काव्यतत्त्वों का ऐतिहासिक विकास दिखलाने का उद्योग किया है। तदनन्तर उनके स्वरूप का विशिष्ट निर्धारण है। उदाहरण के लिए सस्कृत पद्य उद्धृत किये गये हैं, परन्तु उपलब्ध होने पर उनका हिन्दी पद्यानुवाद भी दे दिया गया है। भावार्थ तो सर्वत्र दे दिया है। पाश्चात्य आलोचना के साथ इन तत्त्वों की तुलना सर्वत्र की गई है। मैंने पाश्चात्य आलोचना ग्रन्थो मे अपने काव्यतत्त्व का अन्वेषण बड़े मनोयोग से किया है। मैंने दिखलाने का उद्योग किया है कि भारतीय काव्यतत्त्व पाश्चात्य आलोचनाग्रन्थो मे भी अवश्यमेव उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनका जितना साङ्गोपाङ्ग तथा सूक्ष्म विवेचन हमारे यहाँ प्रस्तुत किया गया है उतना पाश्चात्यों मे नहीं। वक्रोक्ति को क्रोचे के 'अभिव्यञ्जनावाद' (Expressionism) के साथ तुलना के अवसर पर मैंने क्रोचे के सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा उसकी भारतीय दृष्टि से समीक्षण कर दिया है। क्रोचे का सिद्धान्त उतना सुबोध नही है। उनका एतद्विषयक मान्य ग्रन्थ है—एस्थेटिक (सौन्दर्यशास्त्र), परन्तु विषय की कठिनता के कारण यह उतना सुगम नहीं है। इससे अधिक सुबोध है क्रोचे का निजी लेख जो उन्होंने अंग्रेजी विश्वकोष (१४ वाँ सस्करण) के प्रथम भाग में 'सौन्दर्यशास्त्र' के ऊपर

लिखा है। इसके अतिरिक्त (H. Wildon Carr) विल्डन कार रचित The Philosophy of Croce नामक ग्रन्थ भी नितान्त उपादेय तथा मननीय है। इस ग्रन्थ का भी उपयोग मैंने क्रोचे के विचार समझाने के लिए किया है।

अन्त मे मै उन ग्रन्थकारो का बड़ा आभार मानता हूँ जिनके ग्रन्थों की सहायता स्थान स्थान पर ली गई है। मै अपने पूज्य कुलपति डा० पण्डित अमरनाथ झा को विशेष धन्यवाद देता हूँ जिन्होने विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखकर इस ग्रन्थ की महत्ता बढ़ाई है। मैं अपने अंग्रेजी विभाग के अध्यापक पण्डित गणेशदत्त शास्त्री तथा हिन्दी विभाग के अध्यापक डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा को नाना प्रकार की सहायता के लिए धन्यवाद देना अपना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ। हिन्दी विभाग के दूसरे अध्यापक तथा 'प्रसाद परिषद्' के अध्यक्ष पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र को मै इस प्रसङ्ग मे भूल नही सकता क्योंकि उन्हीकी सन्नत प्रेरणा तथा सत्परामर्श से यह ग्रन्थ इस रूप मे प्रकाशित हो रहा है। एतदर्थ वे हमारे आशीर्वाद तथा आभार के भाजन हैं। इस पुस्तक के अनुशीलन से यदि एक भी हिन्दी पाठक भारतीय आलोचनाशास्त्र के प्रति आकृष्ट होगा, तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
रङ्गभरी एकादशी, स० २००४
२०-३-४८

—बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

विषय

द्वितीय परिच्छेद

औचित्य-विचार

विषय पृष्ठ

तृतीय परिच्छेद

रीति—विचार

चतुर्थ परिच्छेद

वृत्ति—विचार

पञ्चम परिच्छेद

वक्रोक्ति विचार

विषय

विषय

परिशिष्ट

भारतीय साहित्य-शास्त्र

विषयप्रवेश

सौन्दर्यमलङ्कारः—वामन

अलकारशास्त्र भारतीय आलोचकों की सूक्ष्म आलोचना-पद्धति का पर्याप्त सूचक है। यह शास्त्र वेदों से लेकर लौकिक ग्रन्थों के पूर्ण ज्ञान के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसी उपकारिता के कारण राजशेखर ने अलकार-शास्त्र को वेद का सप्तम अङ्ग माना है[1]। उन्होंने साहित्यविद्या को स्वतन्त्र विद्या ही नहीं माना है, प्रस्तुत उसे प्रसिद्ध चार विद्याओं—तर्क, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति—का निचोड़ स्वीकार किया है[2]। अलकार-शास्त्र की महत्ता नितान्त व्यक्त है। कविता मे शब्द तथा अर्थ का सौंदर्य लाने तथा उसे हृदयगम बनाने मे अलकारशास्त्र की भूयसी उपयोगिता है।

अलङ्कारशास्त्र का नामकरण

इस शास्त्र का नाम है अलकारशास्त्र। यह नाम उतना समुचित न होने पर भी बहुत ही प्राचीन है। भामह ने अपने अलकारग्रन्थ को काव्या-लंकार के नाम से पुकारा है। अतः प्राचीन नाम अलकारशास्त्र है, इसमें कुछ भी सदेह नहीं। यह उस युग का अभिधान है जब काव्य में अलकार की सत्ता सब से अधिक आवश्यक तथा उपादेय मानी जाती थी। अलकार युग ही इस शास्त्र के इतिहास मे सर्वप्रथम युग है। और इसी युग मे यह नामकरण किया गया। राजशेखर ने इस शास्त्र को 'साहित्यविद्या' कहा है। यह नामकरण भामह के (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) काव्यलक्षण के आधार

---

१ उपकारकत्वादलकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः।
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतेः। काव्यमीमासा पृ० ३।

२ पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि
विद्याना निष्यन्दः। वही, पृ० ५।

पर दिया गया है। काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ का समुचित सामञ्जस्य हो, साहित्य हो। साहित्य की इस कल्पना को पिछले आलंकारिको ने खूब अपनाया।

आचार्य कुन्तक 'साहित्य' की कल्पना को अग्रसर करनेवालो मे मुख्य हैं। भोजराज का 'शृङ्गार प्रकाश' साहित्य की कल्पना के ऊपर ही रचित हुआ है। साहित्य विद्या या साहित्य शास्त्र—यह नामकरण है बड़ा सुन्दर तथा युक्ति-युक्त, परन्तु यह उतना प्रसिद्ध न हो सका। बहुत प्राचीन काल मे इसका नाम था **'क्रिया-कल्प'**। वात्स्यायन ने (कामसूत्र १।३।१६) चौसठ कलाओं के अन्तर्गत क्रिया कल्प को भी एक कला माना है। क्रिया का अर्थ है काव्यग्रन्थ और कल्प का अर्थ है विधान। इस प्रकार क्रिया-कल्प इस शास्त्र की प्राचीन संज्ञा है। परन्तु ये नाम प्रसिद्धि न पा सके। प्रसिद्ध नाम हुआ अलकारशास्त्र ही। परन्तु अलंकार की कल्पना बदलती गई। वामन की दृष्टि में अलंकार केवल शब्द और अर्थ की शोभा करनेवाला वाह्य उपकरण-मात्र नही है, प्रत्युत यह काव्य को रोचक बनानेवाला आन्तर धर्म है। वामन अलंकार को सौदर्य का पर्यायवाची मानते हैं (सौन्दर्यमलकारः)। इस प्रकार अलंकारशास्त्र काव्य मे सौदर्य सपन्न करनेवाले समस्त उपकरणों का प्रतिपादक शास्त्र है। अलंकार शब्द का यही व्यापक अर्थ है।

प्राचीनता

राजशेखर ने काव्यमीमांसा मे इस शास्त्र की उत्पत्ति की रोचक कथा लिखी है। उनके अनुसार भगवान् शंकर ने इस शास्त्र की शिक्षा पहले पहल ब्रह्माजी को दी जिन्होंने इसका उपदेश अनेक देवताओं तथा ऋषियों को किया। अठारह उपदेशकों ने अठारह अधिकरणों में इस शास्त्र की रचना की। भरत ने रूपका निरूपण किया। नन्दिकेश्वर ने रस का, बृहस्पति ने दोष का, उपमन्यु ने गुण का निरूपण किया आदि। पता नहीं यह वर्णन काल्पनिक है या वास्तविक। काव्यादर्श की टीका हृदयंगमा का कथन है कि काश्यप और वररुचि ने काव्यादर्श के पहले अलंकार ग्रन्थ बनाये थे। श्रुतानुपालिनी टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दीस्वामी का नाम दण्डी से

पूर्व आलङ्कारिकों मे गिनाया गया है। परन्तु ये ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। अग्निपुराण मे अलङ्कारशास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है अवश्य, परन्तु इसकी प्राचीनता में विद्वानो को पर्याप्त सन्देह है। द्वितीय शतक के शिलालेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय अलकारशास्त्र का उदय हो चुका था।

रुद्रदामन् के शिलालेख की भाषा ही अलंकारपूर्ण नहीं है बल्कि उसमे अलङ्कारशास्त्र के कतिपय सिद्धान्तो का भी निर्देश है। काव्य के गद्य, पद्य दो भेद थे। गद्य को स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार होना आवश्यक था। यहाँ काव्यादर्श में वर्णित प्रसाद, माधुर्य, कान्ति, और उदारता गुणो का स्पष्ट निर्देश है। हरिषेण ने समुद्रगुप्त को 'प्रतिष्ठित-कविराज-शब्द' लिखकर अलकारशास्त्र की सत्ता की ओर सकेत किया है। यह शास्त्र इससे भी प्राचीन है। पाणिनि ने शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा निर्मित नटसूत्रों का नाम निर्देश किया है*। इनसे भी पहले यास्क ने उपमालंकार का विस्तृत वर्णन दिया है। यास्क के पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने उपमा का बड़ा ही वैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत किया है (अर्थात् उपमा यद् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः)। निरुक्त ने उपमा के उदाहरण में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों को उद्धृत किया है। इस प्रकार अलकारशास्त्र की प्राचीनता प्रमाणसिद्ध है। भरत के नाट्यशास्त्र के अनन्तर तो इस शास्त्र का अनुशीलन स्वतत्र शास्त्र के रूप मे बहुलता से होता रहा। यहाँ इस शास्त्र का सक्षिप्त इतिहास तथा नाना अलकार सम्प्रदायों के सिद्धान्तो का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

भरत नाट्यशास्त्र

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नटसूत्रो का उल्लेख किया है। 'नटसूत्रों' से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जिनमें रंगमच पर नटों के खेलने, वस्त्र धारण करने तथा अन्य आवश्यक उपकरणो का विधान रहता है। पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट नटसूत्र आज-कल

---

* पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयोः। (४।३।११०)
कर्मन्द कृशाश्वादिनिः॥ (४।३।१११)

उपलब्ध नही हैं। आजकल नाट्य तथा अलंकार विषयक उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ भरत रचित नाट्यशास्त्र है। इस ग्रन्थ को हम भारतीय ललित कलाओ का विश्वकोश कह सकते हैं क्योंकि इसमे नाट्य की प्रधानता होने पर भी तदुपकारक अलकारशास्त्र, सगीतशास्त्र, छन्दःशास्त्र आदि शास्त्रो के मूल सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन हम यहाँ पाते हैं। ग्रन्थ मे ३६ अध्याय है तथा ५००० श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् ही हैं। केवल छठे, सातवें, तथा २८ वें अध्याय मे कुछ अश गद्यात्मक भी है। नाट्यशास्त्र एक ही काल की रचना नही है, प्रत्युत अनेक शताब्दियो के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का परिपक्व फल है। नाट्यशास्त्र मे तीन अश विद्यमान हैं— (१) सूत्र-भाष्य—यह गद्यात्मक अश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है। मूल ग्रन्थ में सूत्र तथा भाष्य ही थे जिसमे विकास होने पर अन्य अश सम्मिलित कर दिये गये। (२) कारिका—मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिये इन कारिकाओं की रचना की गई। (३) अनुवश्य श्लोक—गुरु-शिष्य परम्परा से आनेवाले प्राचीन पद्य, जो आर्या अथवा अनुष्टुप् में निबद्ध हैं। अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार ये पद्य भरतमुनि से भी प्राचीनतर आचार्यों के द्वारा रचित हैं। अपने सूत्रों की पुष्टि मे भरत ने इन्हे इस ग्रन्थ मे संग्रहीत किया है[१]।

भरत रस सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इनकी सम्मति में नाटक मे रस की ही प्रधानता रहती है। अलंकारशास्त्र का विवेचन आनुषगिक रूप से ६, ७ और १६ अध्यायो मे किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना का निश्चित समय अभी तक अज्ञात है। परन्तु यह ग्रन्थ कालिदास से प्राचीन ही है। कालिदास भरत को देवताओं के नाट्याचार्य के रूप मे उल्लिखित करते हैं और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओ के द्वारा अभिनय किये जाने

१—ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैः लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः—अभिनव भारती अध्याय ६।

२—मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः—विक्रमोर्वशी

का निर्देश करते हैं। कालिदास से प्राचीनतर होने से भरतमुनि का समय ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से उतर कर नही हो सकता। मूल सूत्रों का समय तो और भी प्राचीन है।

भामह

भरत के अनन्तर अनेक शताब्दियाँ हमारे लिए अन्धकारपूर्ण प्रतीत होती हैं, क्योंकि इस समय के आलकारिको के नाम तथा काम से हम बिलकुल अपरिचित हैं। भामह का **काव्यालंकार** ही भरत-पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है जिसमें अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को उन्मुक्त कर एक स्वतत्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। भामह के पूववर्ती आचार्यों मे **मेधाविरुद्र** का नाम निर्दिष्ट मिलता है, परन्तु इनकी रचना अभी तक उपलब्ध नही हुई है। भामह का ग्रन्थ भी अभी हाल ही मे उपलब्ध हुआ है। भामह के पिता का नाम था रक्रिल गोमी। वे काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। एक समय था जब दण्डी और भामह के काल-निर्णय के विषय मे विद्वानो मे बड़ा मतभेद था। परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ मे प्रत्यक्ष का लक्षण प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग के अनुसार दिया है, धर्मकीर्ति के अनुसार नहीं; जिससे इनका समय इन दोनो आचार्यों के बीच षष्ठ शतक का मध्य भाग मानना उचित होगा।

भामह के ग्रन्थ का नाम **काव्यालकार** है। इसमे ६ परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद मे काव्य के साधन, लक्षण तथा भेदों का वर्णन है। दूसरे तथा तीसरे मे अलंकारो का विशिष्ट वर्णन है। चौथे परिच्छेद मे भरत प्रदर्शित दश दोषो का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है जिनमे न्यायविरोधी दोप की मीमासा पूरे पञ्चम परिच्छेद मे की गई है। षष्ठ परिच्छेद में कतिपय विवादास्पद पदों के शुद्ध रूप का विवेचन किया गया है; इस प्रकार ६ परिच्छेदों तथा चार सौ श्लोकों मे अलकारशास्त्र के समस्त प्रधान तथ्यों का समावेश किया गया है। भामह के सिद्धान्त समस्त आलकारिकों को मान्य हैं। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं—(क) शब्द-अर्थ युगल का काव्य होना। शब्दार्थौ

काव्यम्। (ख) भरत प्रतिपादित दश गुणो का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद— इन गुणत्रय के भीतर ही समावेश। (ग) वक्रोक्ति का समस्त अलकारों का मूल होना जिसका चरम विकास कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' मे दीख पड़ता है। (घ) दशविध दोषो का सुन्दर विवेचन।

दण्डी

ये दक्षिण भारत के निवासी थे। समय है सप्तम शतक। इनका **'काव्यादर्श'** पण्डितो मे सदा लोकप्रिय रहा है। इसीका अनुवाद कन्नड भाषा की प्राचीन पुस्तक 'कविराज-मार्ग' मे, सिंघली ग्रन्थ 'सिय-वसलकर' (स्वभापालकार) मे तथा तिब्बती भापा मे उपलब्ध होता है। इससे इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि की पर्याप्त सूचना मिलती है। इस ग्रन्थ मे चार परिच्छेद हैं तथा श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद मे काव्य का लक्षण, विस्तृत भेद, वैदर्भी तथा गौड़ी रीति, दशगुणो का विस्तार के साथ वर्णन है। दूसरे परिच्छेद मे अलंकारो के लक्षण तथा उदाहरण सुन्दर रूप से दिये गये हैं। दण्डी ने उपमा अलंकार के अनेक प्रकार दिखलाये हैं। तीसरे परिच्छेद में शब्दालंकारों का विशेषतः यमक अलकार का व्यापक वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद मे दशविध दोषों का लक्षण तथा उदाहरण है। दण्डी ने भामह के सिद्धान्त का खण्डन स्थान-स्थान पर किया है। ये अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर वैदर्भी और गौड़ी रीतियों का पारस्परिक भेद प्रथम बार स्पष्टतः दिखलाने का श्रेय इन्हे ही प्राप्त है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्ग-दर्शक माने जा सकते हैं।

वामन

इनके ग्रन्थ में रीति सम्प्रदाय का चरम उत्कर्ष दिखलाई पडता है। ये रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले महान् आलकारिक हैं—रीतिरात्मा काव्यस्य। इनके ग्रन्थ का नाम है **'काव्यलंकार सूत्र'** जिसमे इन्होंने अलङ्कारशास्त्र के समग्र सिद्धान्तो का विवेचन सूत्रों मे किया है और इन सूत्रों के ऊपर स्वय वृत्ति भी लिखी है। सूत्रो की संख्या ३१९ है। ग्रन्थ मे कुल पाच परिच्छेद या अधिकरण हैं। प्रथम शरीर अधिकरण मे काव्य के प्रयोजन, लक्षण, तथा वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियो का वर्णन है। द्वितीय

(दोष दर्शन) अधिकरण मे पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष प्रतिपादित है। तृतीय (गुण विवेचन) मे दश गुणो के शब्द तथा अर्थ गत होने से बीस भेद बतलाये गये हैं। चतुर्थ (आलकारिक) मे शब्दालकार तथा अर्थालकार का लक्षण तथा उदाहरण है। अन्तिम अधिकरण मे कतिपय शब्दो की शुद्धि तथा प्रयोग की बात कही गई है। काव्यालकार सूत्र के प्राचीन टीकाकार 'सहदेव' का कथन है कि वामन का यह ग्रन्थ किसी कारण से नष्ट हो गया था जिसका उद्धार मुकुलभट्ट ने दश शतक के आरम्भ मे किया।

वामन काश्मीर नरेश जयापीड़ के मत्री थे।

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमाँस्तथा।
बभूवुः कवयः तस्य वामनाद्यश्च मन्त्रिणः ॥

जयापीड का समय अष्टम शतक का अन्तिम भाग है। वामन का भी यही समय है। वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। रीति को काव्य की आत्मा जैसे सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय इन्हे ही प्राप्त है। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं:—(क) गुण और अलकार का परस्पर विभेद (ख) वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली त्रिविध रीतियाँ। (ग) वक्रोक्ति का विशिष्ट लक्षण (सादृश्याल् लक्षणा वक्रोक्तिः) (घ) विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण (ङ) आक्षेप की द्विविध कल्पना (च) समग्र अर्थालकारों को उपमा-प्रपच मानना।

उद्भट

उद्भट—ये वामन के समकालीन थे। जयापीड़ की सभा के ये सभापति थे। कल्हण पण्डित का तो कहना है कि इनका प्रतिदिन का वेतन एक करोड दीनार (स्वर्ण मुद्रा) था *। यदि यह बात बिलकुल सत्य हो तो उद्भट सचमुच बड़े भारी धनाढ्य और भाग्यशाली व्यक्ति होंगे। एक ही राजा के आश्रय मे रहने पर भी वामन और उद्भट साहित्य के क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धी प्रतीत होते हैं। वामन रीति सम्प्रदाय के उन्नायक थे, तो उद्भट अलंकार सम्प्रदाय के पृष्ठपोषक थे। दोनों ही अपने विषय के मौलिक सिद्धान्तो के आविष्कर्ता आराधनीय आचार्य हैं। इन्होने भामह के ग्रन्थ पर

* दीनारशतलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूत् उद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥ राजतरंगिणी ४।४९५

'भामह-विवरण' नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा था। जिसका निर्देश तो लोचन आदि प्रामाणिक ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ।

उद्भट की कीर्ति **'काव्यलंकार सार संग्रह'** नामक ग्रन्थ के ऊपर ही अवलम्बित है। इस ग्रन्थ मे ६ वर्ग हैं जिनमें ७९ कारिकाओं के द्वारा ४१ अलंकारों का वर्णन है। ग्रन्थ का विषय अलंकार ही है। इसकी टीका मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दु राज (९५० ई०) ने की है। भामह के समान अलकार सम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी ये भामह से अनेक सिद्धान्तों मे भिन्नता रखते हैं। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(क) अर्थ भेद से शब्द भेद की कल्पना (अर्थ भेदेन तावत् शब्दाः भिद्यन्ते)। (ख) शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेषभेद से श्लेष के दो प्रकार और दोनों का अर्थालंकार होना जिसका विशिष्ट खण्डन मम्मट ने नवम मे किया है। (ग) अन्य अलंकारों के योग में श्लेष की प्रबलता। (घ) तीन प्रकार से वाक्य का अभिधा व्यापार। (ङ) अर्थ की द्विविध कल्पना—विचारित-सुस्थ तथा अविचारित रमणीय। (च) गुणो को संघटना का धर्म मानना।

रुद्रट

रुद्रट—ये काश्मीर के रहने वाले थे। राजशेखर (९०० ई०) ने काव्यमीमासा मे इनके नाम का निर्देश काकु-वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानने के अवसर पर किया है—काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालकारोऽयमिति रुद्रटः। इससे स्पष्ट है कि ये ९०० से प्राचीन हैं। इनका ग्रन्थ **'काव्यालंकार'** विषय की दृष्टि से अतीव व्यापक है और इसमे अलंकारशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की गई है। काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य तथा कविसामग्री के अनन्तर अलंकार का विस्तृत तथा सुव्यवस्थित वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। भाषा, रीति, रस तथा वृत्ति की मीमासा होने पर भी अलंकारों की समीक्षा ही ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। पद्यो की संख्या ७३४ है। सब उदाहरण रुद्रट की निजी रचनाए हैं।

रुद्रट अलकार-सम्प्रदाय के ही अनुयायी हैं। अलंकारो की व्यवस्था

करना ग्रन्थ का उद्देश्य है। रुद्रट ने पहिले पहल अलंकारों का वैज्ञानिक विभाग किया है। उन्होंने अलकारो के लिए चार मूल तत्त्व खोज निकाले हैं:—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। भामह और उद्भट के द्वारा व्याख्यात अनेक अलकारों को रुद्रट ने छोड़ दिया है और कही-कही उनके लिए नये नामों का उद्देश्य किया है। यथा रुद्रट का व्याजश्लेष (१०/११), भामह की व्याजस्तुति है। 'जाति' मम्मट की स्वभावोक्ति है, 'पूर्व' अलंकार अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। कही-कही इन्होंने नये अलकारों की भी कल्पना की है। रसों का भी इन्हों ने विस्तार के साथ वर्णन किया है। पर इनका आग्रह अलंकार के ऊपर ही है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन का नाम साहित्यशास्त्र के इतिहास मे सुवर्णाक्षरो से लिखने योग्य है, क्योंकि इन्होने '**ध्वन्यालोक**' लिखकर इस शास्त्र के सिद्धान्त को सदा के लिये आलोकित कर दिया है। ध्वन्यालोक एक नवीन युग का उत्पादक ग्रन्थ है। अलकारशास्त्र मे इसका वही स्थान है जो वेदान्त मे वेदान्त-सूत्रो का है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन-शक्ति तथा गूढ विषयग्राहिता का परिचय मिलता है। रस गगाधर का कथन बिलकुल ठीक है कि ध्वनिकार ने साहित्यशास्त्र के मार्ग को परिष्कृत बना दिया है (ध्वनिकृताम् आलकारिकसरणि-व्यवस्थापकत्वात्)। आनन्द-वर्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५—८८३ ई०) के सभापण्डित थे—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

ध्वन्यालोक मे तीन अश हैं—(१) कारिका, १२६ कारिकाएं, (२) वृत्ति (कारिकाओ की गद्यात्मक विस्तृत व्याख्या) (३) उदाहरण। इनमे उदाहरण तो नाना प्राचीन ग्रन्थो से उद्धृत किये गये हैं परन्तु प्रथम दो अशों की रचना के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ लोग आनन्द को वृत्तिकार ही मानते हैं; कारिकाकार को उनसे पृथक् स्वीकार करते हैं। परन्तु वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही कारिका और वृत्ति दोनों की रचना की है। इस ग्रन्थ मे चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि—विरोधी मतों की समीक्षा है। दूसरे

और तीसरे मे ध्वनि के प्रकारों का विवेचन है। चतुर्थ में ध्वनि की उपयोगिता का वर्णन है। आनन्द के लिखने की शैली बड़ी ही प्रौढ़, विद्वत्तापूर्ण तथा रोचक है। ये कवि भी थे। इन्होने 'अर्जुन चरित', 'विषमबाण लीला' तथा 'देवी शतक' जैसे सरस काव्यों की रचना की है। परन्तु आनन्द की विपुल कीर्ति ध्वन्यालोक के ऊपर ही अवलम्बित रहेगी। राजशेखर का कथन बिलकुल ठीक है:—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

आनन्दवर्धन की महती विशेषता ध्वनि—विरोधियों के सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन कर ध्वनि तथा व्यञ्जना की स्थापना है। इनके पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—(क) अभाववाद (ख) भक्ति (लक्षणा) वाद (ग) अनिर्वचनीयता वाद। इन तीनो का मुँह-तोड़ उत्तर देकर आनन्द ने व्यञ्जना की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की और ध्वनि के प्रकारो का पहली बार विवेचन किया। इस ग्रन्थ का प्रभाव अवान्तर ग्रन्थकारों के ऊपर बहुत पड़ा। ध्वनि सम्प्रदाय की उत्पत्ति यहीं से हुई।

अभिनवगुप्त

आनन्दवर्धन को एक बड़े ही विद्वान् टीकाकार उपलब्ध हुए जिन्होंने इनके सिद्धान्तों के मर्म को भली भाँति समझा दिया। इनका नाम था आचार्य अभिनव गुप्त। ये भी काश्मीर के निवासी थे और लगभग दसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे विद्यमान थे। ये शैव दर्शन के माननीय आचार्य थे जिनका एक ही ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' तन्त्र शास्त्र का विश्वकोश है। साहित्यक्षेत्र मे इनकी दो कृतियाँ हैं और ये दोनों ही टीकाएँ हैं। एक है ध्वन्यालोक लोचन, ध्वन्यालोक की टीका और दूसरा है अभिनवभारती, जो भारत नाट्यशास्त्र का एकमात्र उपलब्ध व्याख्याग्रन्थ है। टीकाग्रन्थ होने पर भी ये दोनों ग्रन्थ नितान्त मौलिक हैं। अनेक साहित्य सिद्धान्तों के लिये हम अभिनव गुप्त के ऋणी हैं। रस-विषयक जो इनकी समीक्षा है वह नितान्त वैज्ञानिक और युक्तियुक्त है। अभिनव भारती न होतीतोनाट्यशास्त्र के तथ्यों का पता ही नहीं चलता।

ध्वनिविरोधी आचार्य

इन दोनो माननीय आचार्यों के द्वारा ध्वनि की स्थापना होने पर भी इसके दो बड़े विरोधी आचार्यों ने नवीन ग्रन्थो की रचना की। दोनो प्रायः समकालीन ही थे। एक का नाम है **कुन्तक** तथा दूसरे का **महिम भट्ट।** दोनों काश्मीर के निवासी थे और दोनो ने एकादश शतक के आरम्भ में अपने ग्रन्थ बनाये। कुन्तक के ग्रन्थ का नाम है **'वक्रोति जीवित'**। दुर्भाग्य-वश यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है। परन्तु इसके उपलब्ध अशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचनशैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं जिनमे वक्रोक्ति के विविध भेदो का बड़ा ही सागोपाग विवेचन है। **वक्रोति** का अर्थ है—वैदग्धभङ्गीभणिति अर्थात् सर्व साधारण के द्वारा प्रयुक्त प्रकार से विलक्षण कहने का ढंग। इसी काव्यतत्त्व के अन्तर्गत ध्वनि का भी समावेश किया गया है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है, परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व के रूप मे विकसित करना कुन्तक की निजी विशेषता है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्यिक तत्त्व को सम्मिलित कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उस पर साहित्य का मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

महिम भट्ट का ग्रन्थ **'व्यक्ति विवेक'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे तीन विमर्श हैं। ग्रथ का मुख्य उद्देश्य ध्वनि को अनुमान का ही प्रकार बतलाना है। ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नही है बल्कि अनुमान का ही भेद है; महिम भट्ट का यही सिद्धान्त है जिसे प्रतिपादित करने के लिए उन्होने अपने उत्कृष्ट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। ग्रन्थ के पहले विमर्श मे ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान मे अन्तर्भाव दिखलाया गया है। दूसरे विमर्श मे अर्थविषयक अनौचित्य का विवेचन है। अन्तरंग अनौचित्य से अभिप्राय रस-दोष से है और बहिरंग अनौचित्य पॉच प्रकार का है। मम्मट ने महिमभट्ट का खण्डन किया है, पर अनौचित्य-विषयक उनके समस्त सिद्धान्त को अपने दोष प्रकरण में भली भाति अपनाया है।

धनञ्जय—धनञ्जय भी रस की निष्पत्ति के विषय मे भावकत्ववादी हैं। व्यञ्जनावाद के खण्डन करने के कारण ये भी ध्वनि विरोधियों मे अन्यतम

हैं। धनञ्जय और इनके भाई धनिक दोनो धारा के विद्याप्रेमी विद्वान् राजा मुञ्ज (९७४-९९४ ई०) के दरबार के पण्डित थे। इसी समय धनञ्जय ने **'दशरूपक'** की रचना की जिस पर धनिक ने 'अवलोक' नामक टीका मुञ्ज-राज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज (९९४--१०१८ ई०) के शासन काल में लिखी। इसके पहले इन्होंने 'काव्य-निर्णय' नामक अलकारग्रन्थ की रचना की थी। दशरूपक नाट्य के आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसमे चार प्रकाश हैं और लगभग तीनसौ कारिकाएं हैं। प्रथम प्रकाश में वस्तु निर्देश, द्वितीय में नायक वर्णन, तृतीय में रूपक भेद, चतुर्थ मे रस निरूपण हैं। रस सिद्धान्त मे इनका अपना विशिष्ट मत है जो भट्ट नायक के मत से अधिक साम्य रखता है।

ध्वनिमार्ग के आचार्य

भोजराज—भोजराज (ई० १०१८--५६) द्वारा रचित दो विशालकाय अलकार ग्रन्थ हैं—**'सरस्वती-कंठाभरण'** तथा **'शृङ्गार-प्रकाश'**। ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहले मे अलंकार, गुण, दोष का विस्तृत विवेचन है तो दूसरे मे रस का निरूपण बड़े ही व्यापक तथा मार्मिक ढग से किया गया है। भोजराज का मत है कि शृङ्गार रस ही सब रसों का मूलभूत आदिम प्रकृत रस है। अन्य रस इसीके विकारमात्र हैं। रसो के वैज्ञानिक प्रकार प्रस्तुत करने करने मे भोज ने अपनी सूक्ष्म विवेचनशक्ति दिखलाई है। सरस्वतीकण्ठाभरण तो बहुत दिनों से विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, परन्तु शृङ्गारप्रकाश आज भी पूर्णरूप से प्रकाश मे नही आया है।

मम्मट—ध्वनि विरोधियों के मत का खण्डन आचार्य मम्मट ने इतने सुचारुरूप से किया है कि उनके अनन्तर किसी को ध्वनि के विरोध करने का साहस न रहा। इसी कारण मम्मट को 'ध्वनि-प्रस्थान परमाचार्य' की उपाधि दी गई हैं। ये भी काश्मीर के ही निवासी थे। सुनते हैं कि 'महाभाष्य-प्रदीप' के रचयिता कैयट तथा वेदभाष्यकार उव्वट इनके अनुज थे। भोजराज की दानशीलता की इन्होंने प्रशंसा की है। अतः इनका समय एकादश शतक का उत्तरार्ध है। मम्मट बड़े भारी विद्वान् थे। ये बहुश्रुत वैयाकरण प्रतीत

होते हैं। लेखनशैली सूत्रात्मक है, तभी तो इनके 'काव्यप्रकाश' की विपुल टीकाओं के होने पर भी यह आज भी वैसा ही दुर्गम माना जाता है।

काव्यप्रकाश के तीन अंश हैं—कारिका (१४२ कारिकायें), वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण। कुछ कारिकायें भरत से भी ली गई हैं। समग्र कारिकायें भरतमुनि के द्वारा निर्मित हैं, यह प्रवादमात्र है। मम्मट ही दोनो (कारिका तथा वृत्ति) के रचयिता हैं। इसमें दश उल्लास हैं जिनमे क्रमशः काव्यरूप, वृत्ति विचार, ध्वनि-भेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, चित्र काव्य, दोष, गुण, शब्दालकार तथा अर्थालङ्कार का विवेचन है। यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ, सारगर्भित तथा पाण्डित्यपूर्ण है। ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन अन्यत्र नही। इसके ऊपर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। इसीलिये विश्वनाथ कविराज जैसे मौलिक ग्रन्थो के रचयिता विद्वानों ने भी इस पर व्याख्या लिखना परम प्रतिष्ठा माना है। दशम उल्लास के परिकर अलङ्कार तक ग्रन्थ मम्मट की रचना है। अगला भाग अलक या अल्लट नामक किसी काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर ग्रन्थ पूरा किया है।

क्षेमेन्द्र—मम्मट के समकालीन आलकारिक क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों मे हमें अनेक मौलिक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। ये भी काश्मीर के ही निवासी थे और मम्मट के समान ही एकादश शतक के उत्तरार्ध मे विद्यमान थे। इनका 'सुवृत्तितिलक' छन्दःशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है जिसमे छन्द विषयक अनेक मौलिक बातें प्रस्तुत की गई हैं। 'कविकंठाभरण' मे काव्य के बाह्य साधनों की विशिष्ट चर्चा है, परन्तु इनकी सबसे मौलिक कृति है— 'औचित्य विचार चर्चा' जिसमे औचित्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की विस्तृत समीक्षा की गई है। औचित्य रस का प्राणभूत है। वह अनेक प्रकार का है। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, कारण, लिङ्ग आदि के साथ भलीभाँति दिखलाकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य की महत्ता अच्छे ढंग से दिखाई है।

रुय्यक—ये भी काश्मीर के निवासी थे। ये काश्मीर के राजा जयसिंह (ई० ११२८—४९) के सान्धिविग्रहिक महाकवि मंखक के गुरु थे। इसलिए इनका समय बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'अलंकार-

सर्वस्व' है, जिसमें ७५ अर्थालकार तथा ६ शब्दालकारो का पांडित्यपूर्ण वर्णन है। इनकी अलंकार-समीक्षा मम्मट की समीक्षा से कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इसके ऊपर जयरथ तथा समुद्रबन्ध की पाण्डित्यपूर्ण टीकाए हैं।

हेमचन्द्र (ई० १०८८-११७२)—इन्होने अलकार के ऊपर एक ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम है **'काव्यानुशासन'**। इसके ऊपर उन्होने वृत्ति लिखी है। इसमें आठ परिच्छेद हैं जिनमे अलंकार के तथ्यो का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ मे मौलिकता बहुत ही कम है। प्राचीन ग्रन्थों से संकलन ही अधिक है।

विश्वनाथ कविराज—ये उत्कल के राजा के सान्धिविग्रहिक थे। इनका कुल पाण्डित्य के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखर रचित 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' उपलब्ध हैं। इनके पितामह के कनिष्ठ भ्राता चण्डीदास ने काव्यप्रकाश पर दीपिका नामक विख्यात टीका लिखी है। इन्होने गीतगोविन्द तथा नैषध से श्लोक उद्धृत किये हैं। दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का एक श्लोक मे उल्लेख किया है[१]। अलाउद्दीन की मृत्यु १३१६ इ० मे हुई। अतः इनका समय १४ वीं शताब्दी का मध्यभाग मानना (१३००-१३५०) उचित है। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है—**'साहित्य दर्पण'** जिसके दश परिच्छेदो में काव्य तथा नाट्य दोनो का विवेचन बड़ी ही सरस तथा सरल ढंग से किया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढ़ता इस ग्रन्थ मे नहीं है। विश्वनाथ आलकारिक की अपेक्षा कवि अधिक थे। यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है और अलंकारशास्त्र के मूल सिद्धान्तों के जिज्ञासु छात्रो के लिए परम उपयोगी है।

पण्डितराज जगन्नाथ—इनका **'रसगंगाधर'** साहित्यशास्त्र का मर्म-प्रकाशक ग्रन्थ है। पण्डितराज जिस प्रकार प्रतिभासम्पन्न कवि थे उसी प्रकार अलौकिक शेमुषीसम्पन्न पण्डित भी थे। ग्रन्थ तो केवल अधूरा

१—सन्धौ सर्वस्व हरणं विग्रहे प्राण निग्रहः।
अलावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥ ४/१४

ही है। परन्तु इन्होंने जो कुछ लिखा है उसे सोच-विचारकर पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण भी इन्होंने नये-नये जमाये हैं। रस-निरूपण के अवसर पर इन्होंने नवीन समीक्षाएं की हैं। सब प्रकार से यह ग्रन्थ उपादेय है। शैली प्रौढ़ तथा विचार मौलिक हैं।

अब तक प्रमुख आलकारिको का सामान्य परिचय दिया गया है। इतर आलकारिको का निर्देशमात्र अब किया जा रहा है। (क) **राजशेखर** (९१० ई०) इनकी 'काव्यमीमासा' मे कविशिक्षा का ही विपय प्रधान है। (ख) **मुकुल भट्ट** (९२० ई०)—इनकी 'अभिधा-वृत्ति-मातृका' मे लक्षणा और अभिधा की विस्तृत समीक्षा है। इनका खण्डन काव्यप्रकाश मे यत्र-तत्र किया गया है। (ग) **वाग्भट** (१२ शतक का पूर्वार्ध)—इनका 'वाग्भटालकार' अलकार का विस्तृत ग्रन्थ है जिसमें दोप, गुण, वृत्ति, रस तथा अलकारो का सरल विवेचन है। (घ) **रामचन्द्र** तथा **गुणचन्द्र**—की सम्मिलित रचना 'नाट्य दर्पण' है जिसमे नाटक के अगों का उपादेय वर्णन है। (ङ) **शारदातनय** (१३ शतक) का 'भाव प्रकाशन' नाट्य शास्त्र का ही ग्रन्थ हैं। इसके दश अधिकरणो मे रस तथा भाव का बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। (च) 'जयदेव' का चन्द्रालोक, 'विद्याधर' का एकावली, 'विद्यानाथ' का प्रतापरुद्र-यशोभूपण, 'कवि कर्णपूर' का अलकार कौस्तुभ; 'अप्पय दीक्षित' का कुवलयानन्द अलकारशास्त्र के माननीय ग्रन्थ हैं। इस प्रकार अलंकार शास्त्र के विपय मे ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति ईस्वी के आरम्भ से लेकर १८ वे शतक तक किसी न किसी रूप मे जागरूक रही है।

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय

अलकार- शास्त्रों के ग्रन्थों के अनुशीलन से जान पड़ता है कि उसमे अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलकारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य मे काव्यत्व विद्यमान रहता है? इस प्रश्न के उत्तर देने मे नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलकार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं, कुछ गुण या रीति को, कुछ लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की

समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों मे नये नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई । अलंकारसर्वस्व के टीकाकार 'समुद्रबन्ध' ने इन सम्प्रदायो के उदय की जो बात लिखी है वह बहुत ही युक्तियुक्त हैं। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है—(१) धर्म से (२) व्यापार से; (३) व्यग्य से । धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का है नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म से अभिप्राय अलकार से है और नित्य धर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्म मूलक वैशिष्ट्य के प्रतिपादन करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलकार सम्प्रदाय (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति के द्वारा काव्य मे चमत्कार माननेवाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्ट नायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर भरत के रस-मत के भीतर ही इसे अन्तर्भूत करना चाहिये, क्योंकि भट्ट नायक ने विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिये अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की है। व्यग्यमुख से वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्द्धन हैं जिन्होने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। समुद्रबन्ध के शब्दों मे उनका मत सुनिये—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापार-मुखेन व्यग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति-वैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चमो आनन्दवर्धनेन।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है—अभाव वादी, भक्तिवादी तथा अनिर्वचनीयतावादी । अभाव-वादियों में भी तीन छोटे-छोटे सम्प्रदाय है। कुछ तो गुण, अलकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं। परन्तु कुछ लोग अलकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश करते हैं।

भक्तिवादी लक्षणा के द्वारा ध्वनि की कार्यसिद्धि मानते हैं। अनिर्वचनीयता वादी ध्वनि के स्वरूप को शब्द से अगोचर बतलाकर ध्वनि को अनिर्वनीय बतलाता है। आनन्दवर्धन ने तीनो मतो का पर्याप्त खण्डनकर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है। इन मतो का पृथक् वर्णन न देकर हम अलकार शास्त्र के प्रसिद्ध सम्प्रदायो का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय मुख्यत छः हैं:—

(१) रस सम्प्रदाय—भरत मुनि
(२) अलङ्कार सम्प्रदाय—भामह, उद्भट तथा रुद्रट
(३) गुण सम्प्रदाय—दण्डी तथा वामन
(४) वक्रोक्ति ,, —कुन्तक
(५) ध्वनि ,, —आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त
(६) औचित्य,, —क्षेमेन्द्र

(१) रस सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्माजी के उपदेश से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया। परन्तु नन्दिकेश्वर के रसविषयक मत का पता नही चलता। उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरतमुनि के साथ सम्बद्ध है। भरत रस-सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायो मे रस और भाव का जो निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य-ससार में एक अपूर्व वस्तु है। भरत के समय मे नाट्य का ही बोलबाला था। इसलिये भरत ने नाट्यरस का ही विस्तृत, व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः'। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने मे तो यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने मे यह उतना ही सार-गर्भित है। भरत ने इसका जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सुगम है। भरत के टीकाकारो ने इस सूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्याए की हैं जिनमे चार मत प्रधान हैं। इन टीकाकारो के नाम हैं—भट्ट लोल्लट, शकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त। भट्ट लोल्लट उत्पत्ति-वादी हैं। वे रस को विभावादि का कार्य मानते हैं। शकुक विभावादिकों के

द्वारा रस की अनुमिति मानते हैं। उनकी सम्मति मे विभावादिकों से तथा रस से अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध है। भट्टनायक भुक्तिवादी हैं। उनकी सम्मति मे विभावादि का रस से भोजक- भोज्य सम्बन्ध है जिसे सिद्ध करने के लिये इन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार भी स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त व्यक्ति- वादी हैं। उन्ही का मत अधिक मनोवैज्ञानिक है और इसलिये उनका मत समस्त आलंकारिकों के आदर तथा श्रद्धा का पात्र है। समग्र स्थायी भाव वासनारूप से सहृदयों के हृदय मे विद्यमान रहते हैं। विभावादिको के द्वारा ये ही सुप्त स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस रूप प्राप्त कर लेते हैं।

रस की संख्या के विषय में आलङ्कारिको में मतभेद दीख पड़ता है। भरत ने आठ रस माने हैं—(१) शृङ्गार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) बीभत्स (८) अद्भुत। शान्त रस के विषय मे बड़ा विवाद है। भरत तथा धनञ्जय ने नाटक मे शान्तरस की स्थिति अस्वीकार की (शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य—दशरूपक ४। ३५) नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और शान्तरस सब कार्यों का विरामरूप है। ऐसी दशा मे शान्त का प्रयोग नाटक में हो नही सकता। काव्यादिको मे उसकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मूल रस शान्त ही है। रुद्रट ने प्रेयान् को भी रस माना है। विश्वनाथ 'वात्सल्य' को रस मानने के पक्षपाती हैं। गौड़ीय वैष्णवो की सम्मति में 'मधुर रस' सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम रस है। साहित्य में रस मत की बड़ी महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक—जो क्रौंचवध से मर्माहत होकर महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ—रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायो ने अपनाया है परन्तु अपने-अपने मतानुसार इसे ऊँचा नीचा स्थान दिया हैं।

(२) अलङ्कार सम्प्रदाय

अलङ्कार मत के प्रधान प्रवर्तक आचार्य भामह हैं तथा इसके पोषक हैं 'भामह' के टीकाकार उद्भट तथा रुद्रट। दंडी को भी अलंकार की

प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकृत थी। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य का जीवातु है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णता-रहित मानना उपहास्यास्पद है, उसी प्रकार काव्य को अलकारहीन मानना अस्वाभाविक है[1]। अलकारों का विकाश धीरे-धीरे ही होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र मे तो चार ही अलकारों का नामनिर्देश मिलता है—अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक। मूल अलंकार ये ही हैं जिनमे एक तो है शब्दालकार और तीन हैं अर्थालंकार। इन्ही चार अलंकारों का विकाश होकर कुवलयानन्द मे १२५ अलकार माने गये हैं। अलकारो के इस विकाश के लिये अलग अनुशीलन की आवश्यकता है। अलकारो के स्वरूप मे भी अन्तर पड़ता गया। भामह की जो वक्रोक्ति है वह वामन मे नये परिवर्तित रूप मे दीख पड़ती है। अलकारों के विभाग के लिये कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं। रुद्रट ने पहले पहल यह संकेत किया और औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकारमूल माना। इस विषय मे एकावलीकार विद्याधर का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। उन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क, आदि को अलकार का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी सुन्दर समीक्षा की है।

अलकार मत को माननेवाले आचार्यो को रस का तत्त्व अज्ञात न था। परन्तु उन्होने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर अलकार का ही प्रकार माना है। रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी और समाहित इन चारो अलकारो के भीतर रस और भाव का समग्र विषय भामह के द्वारा अन्तर्निविष्ट किया गया है। दण्डी भी रसवत् अलंकार से परिचित हैं। उन्होंने आठ रस और आठ स्थायीभावो का निर्देश किया है। इस प्रकार अलकार मत के ये आचार्य रसतत्त्व को भली-भाँति जानते हैं। पर उसे अलकार का ही एक प्रकार मानते हैं। वे प्रतीयमान अर्थ से भी परिचित हैं जिसे उन्होंने समासोक्ति, आक्षेप आदि अलकारो के भीतर माना है। अलकार

१—अङ्गीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती॥ चन्द्रालोक १। ८

के विशिष्ट अनुशीलन तथा व्याख्या करने से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। इस प्रकार साहित्य शास्त्र के इतिहास मे अलंकार मत की बड़ी विशेषता है।

३—रीति सम्प्रदाय

रीतिमत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य **वामन** हैं। उनके मत मे रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति क्या है? पदो की विशिष्ट रचना है। रचना मे यह विशिष्टता गुणो के कारण से उत्पन्न होती है। रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसलिये रीतिमत 'गुण सम्प्रदाय' के नाम से पुकारा जाता है। वैदर्भी और गौड़ी रीतियो के विभेद को स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करने का श्रेय आचार्य दण्डी को है। गुण और अलंकार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन ने गुणो को शब्दगत तथा अर्थगत मान कर उनकी संख्या द्विगुणित कर दी है। दश गुणो का नाम निर्देश तो भरत के नाट्यशास्त्र मे ही किया गया है। उनके नाम ये हैः—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, तथा कान्ति। दण्डी ने भी इनका निर्देश किया है जिन्हे वे वैदर्भ मार्ग का प्राण बतलाते हैं। वामन ने वैदर्भी रीति के लिये इन दश गुणों की आवश्यकता स्वीकार की है। गौड़ी के लिए ओज और कान्ति की, पाञ्चाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद की सत्ता रहना आवश्यक बतलाया है।

रीति सम्प्रदाय ने अलकार और गुण का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बड़ा उपकार किया है। वामन का कथन है कि काव्य शोभा के करने वाले धर्म गुण हैं और उसके अतिशय करनेवाले धर्म अलंकार हैं। (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवोऽलकाराः)। अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचक दृष्टि गहरी तथा पैनी दीख पडती है। भामह आदि ने तो रस को अलकार मानकर उसे काव्य का बहिरङ्ग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति के

भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयगम तथा व्यापक है।

४—वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति को काव्य का जीवित सिद्ध करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को ही है। उन्होने इसीलिए अपने ग्रंथ का नाम ही 'वक्रोक्ति-जीवित' रखा है। 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ है—वक्रउक्ति अर्थात् सर्वसाधारण लोगो के कथन से भिन्न, अलौकिक चमत्कार से युक्त, कथन। कुन्तक के शब्दो मे वक्रोक्ति 'वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति' है। साधारण जन अपने भावो की अभिव्यक्ति के लिए साधारण ढंग से ही शब्दो का प्रयोग किया करते हैं, परन्तु उससे पृथक् चमत्कारी कथन का प्रकार 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित है[१]। वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए कुन्तक भामह के ऋणी हैं। भामह अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति के नाम से पुकारते हैं और उसे अलंकार का जीवनाधायक मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।

भामह की सम्मति मे वक्र अर्थवाले शब्दो का प्रयोग काव्य मे अलंकार उत्पन्न करता है—वाचा वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते (५।६६)—हेतु को अलंकार न मानने का कारण वक्रोक्ति शून्यता ही है (२।८६)। भामह की इस कल्पना को आलकारिकों ने स्वीकृत किया। लोचन ने भामह (१।३६) को उद्धृत कर स्पष्ट लिखा है—शब्द और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप से उनकी अवस्थिति है (शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेण रूपेणावस्थानम्—पृ० २०८)। दण्डी ने भी वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति रूप से वाङ्मय को दो प्रकार का माना है तथा वक्रोक्ति मे श्लेष के द्वारा

---

१ वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।
वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा
वैदग्ध्य कविकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः।
—वक्रोक्ति जीवित १।११

सौन्दर्य की उत्पत्ति की बात लिखी है[१]। कुन्तक ने इसी कल्पना को अपना कर वक्रोक्ति को काव्य का जीवित बनाया है। निःसन्देह ये बड़े भारी मौलिक विचारों के आचार्य हैं।

कुन्तक ध्वनिमत से खूब परिचित हैं। ध्वन्यालोक के पद्यों का भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, परन्तु उनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमट कर विराजने लगता है। वक्रोक्ति छः प्रकार की मुख्य रूप से है—

(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्धवक्रता, (३) प्रत्ययवक्रता (४) वाक्यवक्रता, (५) प्रकरण वक्रता, (६) प्रबन्धवक्रता। उपचारवक्रता के भीतर ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया गया है। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आचार्य ने इस भावना को और अग्रसर नहीं किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को अपना कर वक्रोक्ति को एक सामान्य शब्दालङ्कार-मात्र ही मानते थे। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' की महनीय भावना को बीजरूप मे सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है और उस बीज को उदात्तरूप से अङ्कुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुन्तक को है।

५—ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि-मत रस-मत का विस्तृत रूप है। रस-सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटकों के सम्बन्ध में ही पहले पहल किया गया। यह 'रस' कभी वाच्य नहीं होता, प्रत्युत व्यग्य ही हुआ करता है। इस विचारधारा को अग्रसर कर **आनन्दवर्धन** ने व्यंग्य को ही काव्य में प्रधान माना है। 'ध्वनि' शब्द के लिए आलंकारिक वैयाकरणों का ऋणी है। वैयाकरण स्फोटरूप मुख्य अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द के लिये 'ध्वनि' का प्रयोग करता है। आलंकारिकों ने इस साम्य पर इस शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ विस्तृत

---

१ श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा समासोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥
—काव्यादर्श २।३६३

तथा व्यापक बना दिया है। इस मत के आद्य आचार्य आनन्दवर्धन ने युक्तियो के सहारे व्यग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की है और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर दी है। आनन्द के पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—अभाववादी, भक्तिवादी, अनिर्वचनीयवादी—इनका समुचित खण्डन आनन्द की बुद्धि का चमत्कार है। ध्वनि के तीन मुख्य भेद है—रस, वस्तु तथा अलकार और इनके भी अनेक प्रकार है।

अलकार के इतिहास में 'ध्वनि' की कल्पना बड़ी ही सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलकारिक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइडन की उक्ति—More is meant than meets the ear—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। ध्वनिवादी सिद्धान्तो के व्यवस्थापक दीख पड़ते हैं क्योकि उन्होने अपनी पद्धति के अनुसार गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्यतत्त्वो की सुन्दर व्यवस्था की है।

६—औचित्य-सम्प्रदाय

'औचित्य' की भावना रस-ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वो की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलकारिको ने 'औचित्य' की रक्षा करने की ओर अपने ग्रन्थो मे सकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' लिख कर इस काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है। उनका यह कथन ठीक है कि 'औचित्य' ही रस का जीवनभूत है, प्राण है[१]। जो जिसके सदृश हो जिससे मेल मिले उसे 'उचित' कहते हैं और उचित का ही भाव 'औचित्य' है[२]। इस 'औचित्य' को पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिग, वचन आदि अनेक स्थलो पर दिखला कर तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखला कर क्षेमेन्द्र ने साहित्य रसिको का महान् उपकार किया है। परन्तु इस तत्त्व की

१—औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ (का० ३)

२—उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ (का० ७)

उद्भावना क्षेमेन्द्र से ही मानना भयङ्कर ऐतिहासिक भूल होगी। औचित्य का मूलतत्त्व आनन्द ने ही उद्घाटित किया है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अनौचित्य को छोड़कर रसभङ्ग का दूसरा कारण नहीं है। रस का परम रहस्य—परा उपनिषद्—यही है=औचित्य से उसका निबन्धन। परन्तु आनन्दवर्धन से बहुत पहले यह काव्य का मूल तत्त्व माना गया था। भरत ने अपने पात्रों के लिए देश और अवस्था के अनुरूप वेषविन्यास की व्यवस्था कर इसी तत्त्व पर जोर दिया है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

(नाट्यशास्त्र २३।६९)

पिछले आलंकारिको ने भी इस तत्त्व की महत्ता मानी है। इन्हीं सब सूचनाओं का विशद विवरण क्षेमेन्द्र ने अपने मौलिक ग्रन्थ मे किया है। क्षेमेन्द्र का यह कथन भरत की पूर्वोक्त कारिका का भाष्य है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नुपूरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः।

अलङ्कारशास्त्र ने आलोचनाशास्त्र को तीन महनीय काव्यतत्त्वों के रहस्य से परिचय कराया है। ये तीन तत्त्व हैं—औचित्य, रस और ध्वनि, परन्तु इन तीनों में व्यापकतम तत्त्व औचित्य ही है। इसके भीतर रहकर ही रस तथा ध्वनि अपने गौरव और मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं। औचित्य के मूलाधार पर ध्वनि और रस के तत्त्व अवलम्बित हैं। औचित्य के बिना 'रस' मे न तो सरसता है और न 'ध्वनि' मे महत्ता। औचित्य के तथ्य पर ही साहित्य का समग्र सिद्धान्त आश्रित है, इसे महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री ने इस ग्राफ में दिखलाया है:—
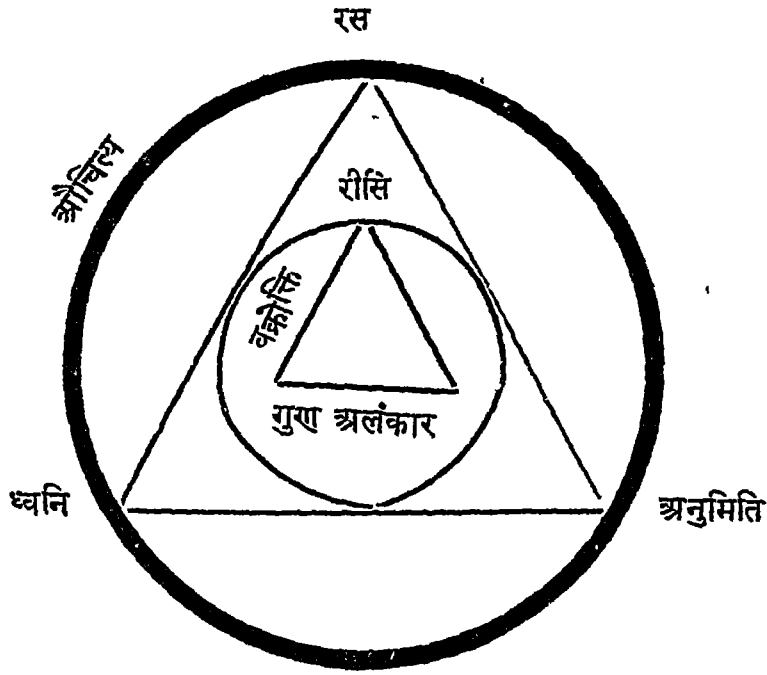
औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालङ्कृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः ॥

साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर 'अलङ्कृति' तक का विकास है। इस चित्र के बड़े वृत्त पर दृष्टिपात कीजिए। यह काव्य के अन्तरंग अर्थात् प्राणभूत तत्त्व की समीक्षा करता है। इस पूरे वृत्त की परिधि है—औचित्य, जिसे भारतीय साहित्यकारों ने व्यापकतम काव्यतत्त्व अंगीकृत किया है। इस वृत्त के भीतर जो बड़ा त्रिकोण है उसका शीर्ष-

स्थान है रस और नीचे के कोण हैं ध्वनि- और अनुमिति। रस का शीर्ष-स्थान सूचित करता है कि भारत के किसी भी साहित्यसम्प्रदाय मे रसतत्त्व की अवहेलना नहीं है। आनन्दवर्धन तो इस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, और उनके विरोधी आलकारिक कुन्तक तथा महिमभट्ट काव्य में इसकी सत्ता का अपलाप नही करते। रस उन्हे भी मान्य है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। रसाभिव्यक्ति दो प्रकार से सिद्ध की जाती है—(१) ध्वनि के द्वारा (आनन्दवर्धन) तथा (२) अनुमिति—अनुमान के द्वारा (महिमभट्ट)। यहाॅ अनुमिति ध्वनिविरोधी समग्र मतों का उपलक्षण है। ध्वनिसम्प्रदाय व्यञ्जना के द्वारा रस की अभिव्यक्ति मानता है, परन्तु महिम भट्ट अनुमान के द्वारा रस का प्रकटीकरण मानते हैं। वे व्यञ्जना के पक्षपाती नही है, प्रत्युत व्यञ्जना के समग्र प्रपञ्च अनुमान के द्वारा उन्होंने प्रमाणित किये हैं। उनके 'व्यक्ति-विवेक' का इसी से गौरव है।

भीतरी वृत्त में काव्य के बाह्य उपकरण तथा स्वरूप का विवेचन है। वृत्त की परिधि 'वक्रोक्ति' है जो वृहत् वृत्त को स्पर्श कर रही है। वक्रोक्ति कवि के कथन का एक विशिष्ट प्रकार है। इस वृत्त के भीतर एक त्रिकोण है जिसका ऊपरी बिन्दु है—रीति, और निचले बिन्दु है गुण और अलंकार। रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय वामन को है। गुण की व्यवस्थात्मक विवेचना दण्डी ने सर्वप्रथम की तथा अलकार का काव्य मे समधिक महत्त्व का प्रतिपादन भामह ने किया। गुण और अलंकृति का सुचारु विवेचन परस्पर सम्बद्ध युग के साहित्यिक प्रयास का फल है। दोनों का प्रतिपादन प्रायः समसामयिक ही हुआ है। रीति, गुण और अलंकार— ये तीनों तत्त्व काव्य के वहिरग साधन हैं और इनका वक्रोक्ति पर आश्रित होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार इस ग्राफ मे अलंकारशास्त्र के पूर्वोक्त समस्त सम्प्रदायों का पारस्परिक सम्बन्ध व्यवस्थित रूप से दिखलाया गया है[१]।

---

१ द्रष्टव्य कुप्पुस्वामी शास्त्रीः Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit पृ० २७-३०

औचित्यविचार

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"

—क्षेमेन्द्र

औचित्य का लोक में सर्वत्र साम्राज्य है। औचित्य के ऊपर अवलम्बित होनेवाला व्यवहार ही सद्व्यवहार माना जाता है। औचित्य से विरहित व्यवहार की ही दुर्व्यवहार संज्ञा है। लोकव्यवहार मे सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि किस वस्तु का सन्निवेश कहाँ किया जाय तथा किस व्यक्ति के साथ किस प्रकार का आचरण काम मे लाया जाय। लोक व्यवहारो की समष्टि ठहरा। पिता का पुत्र के साथ, पति का पत्नी के साथ, स्वामी का सेवक के साथ, राजा का प्रजा के साथ और मनुष्य का अपने कुटुम्बियो के साथ, जो परस्पर आचरण हुआ करता है उन्हीसे तो हमारे लोक-व्यवहार की सीमा निर्धारित की जाती है। इनमें यदि औचित्य का आधार न रहे तो हमारा जीवन छिन्न-भिन्न होकर अव्यवस्था के गर्त मे गिर जाय। संसार मे पाप-पुण्य की कल्पना भी औचित्य के तिरस्कार तथा उसके सत्कार पर ही क्रमशः अवलम्बित है। राजा नहुष के पतन का कारण इसी औचित्य का तिरस्कार ही था। जिन माननीय तथा महनीय महर्षियों के प्रति उसे श्रद्धा तथा सत्कार प्रदर्शित करना चाहिए था उनके ही प्रति उसने औचित्य का उलङ्घन कर, उन्हे अपनी शिविका ढोने के अनुचित काम मे नियुक्त किया। इस औचित्य के अनादर का जो विषम परिणाम फला कौन उससे भली-भाँति परिचित नही है? यह हुई व्यवहार के विषय मे औचित्य की चर्चा।

ससार में सौन्दर्य की भावना इसी औचित्य तत्त्व के ऊपर आश्रित है। प्रत्येक वस्तु का अपना एक विशिष्ट तथा निर्दिष्ट स्थान है जहाँ से भ्रष्ट होने पर उस का मूल्य तथा महत्त्व नष्ट हो जाता है। शरीर को सुसज्जित करने के लिए आभूषणों की सृष्टि की गई है। परन्तु इन आभूषणों का आभूषणत्व तभी तक है जबतक वे उचित स्थान में धारण किये जाते हैं। अनुचित स्थान पर धारण किया गया अलंकार केवल असुन्दर ही नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत धारण करनेवाले की मूर्खता का कारण बनकर उसे

उपहास्यास्पद भी बना देता है। बिहारी ने ठीक ही कहा है कि जिस मुकुट को अपने सिर पर धारण कर राजा और महाराजा गौरवान्वित हुआ करते हैं उसी को गवईं का गँवार पैर में पहन कर अपनी मूर्खता प्रकट करता है और संसार में हँसी मोल लेता है:—

जो सिर धरि महिमा मही, लहियत राजा राव।
प्रगटत जड़ता आपनी, मुकुट पहिरियत पाव॥

क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचार चर्चा' में औचित्य की महती महत्ता स्पष्टरूप से उद्घोषित की है। उनका कथन है कि औचित्य ही सौन्दर्य का मूल तत्त्व है। यदि कोई सुन्दरी स्त्री अपने गले में करधनी, नितम्ब के ऊपर हार, हाथों में नुपूर (पायजेब) और पैरों में केयूर पहन ले तो उसकी प्रचण्ड मूर्खता देखकर उस पर कौन नहीं हँस पड़ेगा? यदि कोई पुरुष शरण में आये हुए प्रणत के ऊपर वीरता दिखावें और शत्रु के ऊपर दया का भाव प्रदर्शित करे तो उसकी कौन हँसी नहीं उड़ायेगा? सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलङ्कार ही सौन्दर्य का उन्मेष करते हैं और न गुण ही प्रीति का विस्तार करते हैं:—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुर-बन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते, नालंकृतिर्नो गुणाः॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के प्रत्येक व्यवहार में और प्रत्येक कार्य में औचित्य का ही अखण्ड साम्राज्य विराजमान है। कोई भी वस्तु असुन्दर इसीलिए मानी जाती है कि उसमें औचित्य का अभाव है। स्थान-भ्रष्ट वस्तु का महत्त्व इसीलिए कम हो जाता है कि वह उचित स्थान से च्युत हो गई है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि दन्त, केश, नख और मनुष्य स्थानभ्रष्ट होने से शोभा प्राप्त नहीं करते हैं:—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ताः केशा नखा नराः॥

परन्तु येही चार वस्तुए क्यो ? ससार में कोई भी वस्तु अपने औचित्य का उल्लङ्घन कर शोभा प्राप्त नही करती। इसी प्रकार गुणों की दशा समझनी चाहिये। अहिसा तथा दया दोनो निःसन्देह दैवी गुण हैं। इनका प्रयोग करना मनुष्य के लिए धर्म बतलाया गया है। परन्तु इनका भी यदि उचित स्थान पर प्रयोग न किया जाय तो ये लोक-मगल के साधन नही होते। किसी आततायी के ऊपर दया दिखलाना पाप है क्योंकि वह इसका पात्र नही है। कहने का आशय केवल इतना ही है कि औचित्य का अतिक्रमण कर ससार मे कोई भी वस्तु—चाहे वह गुण हो या अलकार—शोभा प्राप्त नही कर सकती।

सामान्य परिचय

कला तथा काव्य लोक के प्रतिबिम्ब है। ललित कलाओं मे आदर्शवाद के साथ यथार्थता का कितना सामञ्जस्य रहता है, यह विज्ञ आलोचकों के पर्याप्त मतभेद का स्थान है। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कोई भी कला हो, वह लोक का सर्वथा परिहार नहीं कर सकती। प्रकृति तथा कला मे स्वाभाविक सामरस्य है। कला के अन्तस्तल से लौकिक अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति सदा करती रहती है। यही कारण है कि लोक के समान कला-जगत् मे भी औचित्य का सर्वत्र साम्राज्य लक्षित होता है। तभी तक कला मे सहृदयो के अनुरञ्जन करने की योग्यता बनी रहती है, जबतक वह औचित्य से पराङ्मुख नही होती। औचित्य के ऊपर प्रतिष्ठित कला ही वस्तुतः कला-पद से वाच्य हो सकती है। अनौचित्य को आश्रय देनेवाली कला 'कला' जैसे महत्त्वपूर्ण अभिधान की कथमपि पात्री नही बन सकती। ललित कलाओं मे विशेष रुचिकर होने से चित्रकला की ही विशेषता परखिये। हमें चित्रजन्य चमत्कार मे औचित्य की ही विशेष समर्थता दीख पड़ेगी। कालिदास ने अभिज्ञान-शकुन्तल नाटक के प्रथम अक मे शकुन्तला को अपनी दोनो सखियो के साथ कोमल बालपादपों को जल से सीचती हुई चित्रित किया है। वहाँ उन्होंने इन्हे ('वयोऽनुरूपैः सेचनघटैः') अवस्था के अनुरूप घड़ों से सीचने का वर्णन किया है। इस चित्र के चमत्कृत होने का कारण यही औचित्य है। यदि इनके हाथ मे उनकी अवस्था के प्रतिकूल बड़ी उम्रवाली

बालिका के हाथ मे छोटा घड़ा होता या छोटी उम्र की कन्या के हाथ में बड़ा घड़ा होता, तो यह दृश्य दर्शकों के हृदय मे आनन्द का उद्बोधन न कर विरसता का कारण बनता।

काव्यकला मे भी औचित्य की इसी कारण महत्ता है। भारत मे नाटक तथा काव्य, दृश्य अथवा श्रव्य काव्यो का एक ही मुख्य लक्ष्य रहा है और वह लक्ष्य है दर्शकों तथा श्रोताओ के हृदय में रस का उन्मीलन। यदि अभिनय में दर्शको को तद्रूप रस मे तन्मय बनाने की योग्यता नहीं है, तो वह अभिनय कितना भी अभिराम या सुन्दर क्यो न हो, वह कथमपि उपादेय अथवा अनुरञ्जक नही हो सकता। श्रव्य काव्य का भी यही उद्देश्य है—श्रोताओ के हृदय मे वर्ण्य विषय से सहानुभूति का तथा तत्तत् रस का आविर्भाव। इस कार्य मे क्षमता रखनेवाला काव्य ही वस्तुतः काव्यपद वाच्य हो सकता है। और इस लक्ष्य की सिद्धि में औचित्य की चरम आवश्यकता है। रसध्वनि से समन्वित काव्य भी औचित्य-वर्जित होने पर आनन्दोल्लास कथमपि विकसित नही कर सकता। रस की चारुता औचित्य के कारण ही होती है। इसीलिए औचित्य के प्रधान आचार्य क्षेमेन्द्र का स्पष्ट कथन है कि काव्य के अलकार तो अलकारमात्र ही हैं—वे केवल बाह्य उपकरण हैं। गुण भी गुण ही हैं अर्थात् वे अन्तरग होने पर भी काव्य के जीवन का सम्पादक नहीं हो सकते। रसके कारण ही काव्य आनन्दोत्पादक क्षमता का निकेतन होता है। ऐसे रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है:—

> अलङ्कारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।
> औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्। रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः॥

लोक मे जिस प्रकार उचित स्थान पर रखने से भूषणों का भूषणत्व सम्पन्न होता है, उसी प्रकार काव्य में भी उचित स्थान पर विन्यास से ही अलकार अलंकार—विभूषित करनेवाला—कहलाता है। और औचित्य से च्युत न

होने से ही गुणों की गुणता रहती है। वह उपमा ही कैसी? जो वर्ण्य विषय को रसके अनुकूल न बनावे तथा उस माधुर्य का ही काव्य मे क्या उपयोग है? जो उचित स्थान पर मधुरता का आस्वादन न करावे। गुण और अलंकार दोनो के काव्यतत्त्व होने मे औचित्य ही स्वरूपाधायक है:—

उचित-स्थान-विन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥

औ० वि० च० श्लोक ६।

क्षेमेन्द्र का तात्पर्य है कि गुण तथा अलकार से युक्त होने पर भी काव्य निर्जीव ही रहता है। रसके कारण ही काव्य की प्रसिद्धि सार्थक होती है। ऐसे काव्य का अविनश्वर जीवित—स्थायी प्राण—औचित्य ही है। इस प्रकार काव्य का सबसे अधिक व्यापक, सब से अधिक उपादेय तथा सब से अधिक महनीय तत्त्व औचित्य ही है।

क्षेमेन्द्र की सम्मति मे यह औचित्य एक मान्य 'भागवत' गुण है। भगवान् ने अपने अवतार ग्रहण करने के अवसर पर इस तत्त्व का सर्वदा पालन किया है। जब भयङ्कर तथा प्रचण्ड हिरण्यकशिपु का सहार करना उन्हे अभीष्ट था, तब उन्होने तद्रूप ही अपने प्रचण्ड गर्जन से त्रिलोकी को भी कम्पित करनेवाले, अपने सटाजाल से मेघो का संघर्षण करनेवाले, नरसिंह की उग्र मूर्ति धारण की। जब अमृत-पान के अवसर पर उन्हे असुरों के छलने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब उन्होंने मोहिनी का रूप धारण कर अपने नेत्रो को कज्जल से काला बना डाला। छलने के कार्य मे मोहिनी का सामर्थ्य सर्वातिशायी होता ही है। अतः अखण्डकोटि ब्रह्माण्ड के नायक, जगन्नाटक के अप्रतिम सूत्रधार भगवान् ने ही अपने व्यवहार में, कार्य मे तथा रूप में जिस औचित्य का आदर किया है, वही औचित्य यदि काव्य-जगत् का सर्वतो महनीय सिद्धान्त हो, तो इसमे कौन सी विचित्रता है? क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' का आरम्भ परमौचित्यकारी भगवान् अच्युत की स्तुति से इस प्रकार किया है:—

कृतारिवञ्चने दृष्टिर्येनाञ्जनमलीमसा ।
अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे ॥

क्षेमेन्द्र वैष्णव थे। अतः उनकी दृष्टि को भगवान् विष्णु के औचित्य-विधान की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है। अन्य देवचरितो की समीक्षा करने पर भी उनके चरित्र में इस औचित्य का उन्मीलन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। अतः औचित्य के 'भागवत' गुण होने मे तनिक भी सन्देह नही है। जो कुछ भी हो, ललित कलाओं में तथा विशेषतः काव्य मे औचित्य ही व्यापकतम सिद्धान्त के रूप मे परिस्फुरित होता है। इस काव्यतथ्य के स्वरूप तथा विकाश का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

औचित्य का स्वरूप

औचित्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर क्षेमेन्द्र के ही शब्दो में इस प्रकार हैः—

उचितं प्राहुराचार्याः, सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते॥

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है उसे हम 'उचित' कहते हैं और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। भावार्थ यह है कि किसी वस्तु ही के साथ किसी वस्तु का योग अनुरूप या अनुकूल होता है। लोक तथा कला दोनो के क्षेत्रों मे यही नियम जागरूक है। गले मे ही मोतियों का हार पहना जाता है और पैर मे ही नुपूर बाँधे जाते हैं। अतः मोतियों का हार गले के लिए उचित है, तो नुपूर पैरो के लिए। इन दोनों वस्तुओं के संयोग मे औचित्य का सफल संविधान है। काव्य के क्षेत्र मे भी इसी प्रकार शृंगार रस के साथ माधुर्य गुण का योग अनुकूल पड़ता है तथा रौद्र और वीर रस के साथ गाढ़बन्धता के प्रतिपादक ओज गुण का। इस अनुरूपता के कारण शृंगार के साथ माधुर्य का तथा वीर के साथ ओज का संयोग सर्वथा औचित्यपूर्ण है। इसी प्रकार कोई अलंकार रस के साथ इतना अनुकूल पड़ता है कि उसकी सत्ता काव्य को सजीव तथा चमत्कृत बना देती है। ऐसी दशा मे वर्ण्य विषय के साथ उपमा का औचित्य सर्वथा माना जाता है। कोई विशिष्ट पद ही किसी अर्थविशेष के प्रतिपादन में नितरां समर्थ होता है। वहाँ उस शब्द का औचित्य विज्ञो को अवश्य ही चमत्कृत करता है।

एक दो उदाहरण देकर औचित्य की रुचिरता दिखलाना पर्याप्त होगा। जनकनन्दिनी सीता के सौन्दर्य से मुग्ध होकर लंकेश्वर रावण व्याकुल-हृदय अचेत पड़ा हुआ है। उसी अवसर पर ब्रह्मा, बृहस्पति तथा नारद जैसे देवता तथा देवर्षि लोग रावण के प्रताप से आक्रान्त होकर उसकी प्रशस्त स्तुति के लिये आ जुटे हैं। इस पर द्वारपाल उन्हे लम्बी फटकार बतलाता हुआ, अकड़ कर डॉट रहा है:—

> ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयः, तूष्णीं बहिः स्थीयतां,
> स्वल्पं जल्प बृहस्पते! जडमते, नैषा सभा वज्रिणः।
> वीणां संहर नारद! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो,
> सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लंकेश्वरः॥

हे ब्रह्मन्! वेदमन्त्रो के अध्ययन का यह समय नही है। आप हटकर बाहर चुप-चाप खड़े रहिये। ये मूर्ख बृहस्पति! अपना बकवाद कम कर; जानता नही यह सभा वज्र धारण करनेवाले की नही है। नारद जी! आप अपनी वीणा की तन्त्री उतार लीजिये। तुम्बुरु महाशय! आप स्तुति करना बन्द कर दीजिये। आज लंका के महाराज सीता के माँग रूपी भाले से विद्धहृदय हो गये हैं। उनकी तबीयत अच्छी नहीं है।

यह श्लोक अत्यन्त मनोरम है तथा औचित्य के कारण इसकी रुचिरता विवेचकों को की दृष्टि में बढ़ी-चढी है। इस पद्य में विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये शब्दो का चुनाव बड़ा ही समीचीन तथा उचित है। बृहस्पति के लिये जड़मति का प्रयोग अनुरूप ही है इसीलिये उनके कथन को 'जल्पना' कहा गया है (जिसका अर्थ हिन्दी मे बकवाद करना होता है)।

इन्द्र के लिये 'वज्री' शब्द का प्रयोग उनके औद्धत्य का परिचायक है। यह शब्द स्पष्ट सूचित कर रहा है कि इन्द्र उद्दण्डता का प्रतिनिधि है। उस में कोमल कलाओं के आस्वाद लेने की तनिक भी योग्यता नहीं है। सीता के सिन्दूर से चर्चित माँग की उपमा रक्तरंजित भाले से देना कितना औचित्यपूर्ण है, इसे तो सहृदय ही समझ सकते हैं।

उचित पदों का प्रयोग न होने से काव्य का आनन्द जाता रहता है;

उसका सारा मजा किरकरा हो जाता है। कोई भी काव्य अलंकारों से कितना भी अलकृत क्यो न हो, परन्तु यदि उसमें औचित्य का अभाव हो (चाहे वह पद का अथवा अक्षर का ही औचित्य क्यो न हो) तो उसकी सुन्दरता जाती रहती है। नीचे के श्लोक पर दृष्टि डालिये:—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः,
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

किसी अलौकिक कान्तिमती कामिनी की कमनीय प्रशसा है। ब्रह्मा ने इस तन्वी की देहयष्टि की सृष्टि कर अपने चित्त मे किस लाभ की चिन्तना की? लावण्यरूपी धन के व्यय की कुछ भी गिनती न की। इसके बनाने में महान् क्लेश स्वीकार किया। स्वच्छन्द सुखमय जीवन बितानेवाले पुरुष के हृदय मे चिन्ता-ज्वर का निर्माण किया। दूसरे पुरुषों को ही उन्होंने दुःख मे नही डाल दिया, प्रत्युत अनुरूप रमण के अभाव मे यह बेचारी भी बेमौत मारी गई। यदि समान गुणवाले प्रियतम की प्राप्ति नहीं, और इसके समान सौन्दर्यसम्पन्न पुरुष की सृष्टि ही जगत् मे नही, तो इस तन्वी को पैदा कर ब्रह्मा ने कौन सा लाभ उठाया वही बेचारे जाने।

यह श्लोक काव्य की दृष्टि से अति रमणीय है। भाव बहुत ही सुन्दर तथा मनोहर है। परन्तु कवि ने काव्य मे तकार के अनुप्रास के लोभ मे आकर सुन्दरी के लिए 'तन्वी' शब्द का प्रयोग कर दिया है जो क्षेमेन्द्र की सम्मति मे कथमपि उचित नही है। स्त्री की रमणीयता का वर्णन करते समय 'सुन्दरी' शब्द का प्रयोग यहा उचित था। काव्य में 'तन्वी' पद का प्रयोग वहीं किया जाता है जहां दयित के विरह मे व्याकुल, तड़पती तथा चारपाई पर करवटे बदलती हुई विरहिणी की अभिव्यक्ति अभीष्ट होती है। इस पद के औचित्य के विषय मे क्षेमेन्द्र की यह टिप्पणी नितान्त मार्मिक है—

तन्वीपदं तु विरहविधुररमणीजने प्रयुक्तमौचित्यशोभां जनयति।

'तन्वी' का अतीव उचित प्रयोग कालिदास ने मेघदूत (उत्तर मेघ श्लोक २१) में विरहविधुरा यक्षपत्नी के विषय मे किया है:—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥

[बिम्बाधर दाडिमदशन निम्नाभि कृशगात ।
बसति तहाँ मृगलोचनी युवति दीनकटि तात ॥
श्रोणिभार अलसानगति झुकति कछुक कुचभार ।
मानहु ललना-सृष्टि मे मुख्य रची करतार ॥]

यक्ष मेघ से अपनी प्रियातमा की अंगयष्टि की सूचना दे रहा है। यहा विरह से कृशगात्री यक्षपत्नी के लिए 'तन्वी' का प्रयोग अतीव न्याय्य है। परन्तु ऊपर के पद्य मे 'सुन्दरी' के लिए तन्वीपद अनौचित्य का द्योतक है। इसके ठीक विपरीत निम्नलिखित श्लोक पर दृष्टिपात कीजिये जहां पदौचित्य सौन्दर्य का प्रतीक बनकर सहृदयो का चित्त बलात् आकृष्ट कर रहा है:—

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले,
नाथास्मिन्निति बन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा ।
मुग्धा गुर्जर-भूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः,
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ ॥

कवि कहता है कि जगल में सरलचित्त गुर्जर देश की महारानी चकित होकर जल की आशा से अपने पति की तलवार को अपनी दोनों आखो को गड़ाकर देख रही है और अपने पति से कह रही है—हे महाराज! बन्दीजनों के मुख से मैंने पहले अनेक बार सुन रक्खा है कि युद्ध मे शत्रुओं के झुण्ड के झुण्ड आपकी तलवार की धार के जल में डूब गये हैं। अतः इस समय उसी तलवार की धारा से मेरी प्यास को बुझाने के लिये जल दीजिये। इस पद्य मे मुग्धा पद का प्रयोग नितान्त समीचीन तथा उचित हुआ है। बिचारी वह रानी कितनी भोली भाली है कि राजा के तलवार

की धार में डूबते हुये शत्रुओं की बात सुनकर उसी धारा से अपनी प्यास बुझाने के लिये जल की आशा कर रही है। भोलेपन का हद्द है ! विचारी नही जानती कि खड्गधारा जलधारा के समान प्यास नहीं बुझाती। इस मुग्धता के भाव को प्रदर्शित करने के लिए 'मुग्धा' शब्द का प्रयोग कवि की विदग्धता का पर्याप्त परिचायक है।

ऐतिहासिक विकास

अलकारशास्त्र के इतिहास मे औचित्य को मान्य काव्यसिद्धान्त के रूप मे प्रतिष्ठित करने का समग्र श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को प्राप्त है। परन्तु इस तत्त्व की महत्ता की ओर अलंकार शास्त्र के आलोचकों का ध्यान प्रारम्भ से ही था। 'औचित्य' को काव्यतथ्य के रूप मे प्रतिष्ठित करने के निमित्त अलंकार-शास्त्र के इतिहास मे तीन आचार्यों का नाम सदा स्मरणीय रहेगा— (१) भरत (२) आनन्दवर्धन (३) क्षेमेन्द्र। भरत मुनि ने नाटक के अभिनय के प्रसङ्ग में इस औचित्य की व्यापकता तथा मान्यता का वर्णन पहली बार किया। आनन्दवर्धन ने काव्य के विविध अङ्गो में औचित्य की सत्ता बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रदर्शित की। आनन्दवर्धनाचार्य के ही प्रशिष्य आचार्य क्षेमेन्द्र ने ध्वन्यालोक से ही स्फूर्ति ग्रहण कर औचित्य को एक व्यापक काव्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। क्षेमेन्द्र आनन्दवर्धन के ही सम्प्रदाय के थे। वे उनके केवल देशवासी ही नहीं थे, बल्कि उनके प्रधान भाष्यकार अभिनवगुप्तपाद के साहित्य के विषय मे पट्ट शिष्य थे। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय को मान्यता देकर ही क्षेमेन्द्र ने औचित्य के तत्त्व का उन्मीलन किया है। अलकारशास्त्र के अनेक आचार्यों ने इस काव्यसिद्धान्त का प्रकट या गूढ रूप से अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है परन्तु इन तीन आचार्यों की कल्पना इस विषय में नितान्त मौलिक है। भरत ने औचित्य के सिद्धान्त को नाट्य मे सूचित किया। आनन्दवर्धन ने उसे नाट्य और काव्य के उभय क्षेत्रों मे परिबृंहण किया तथा क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व की काव्यमन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा की।

भरत

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना कर कला के सर्वमान्य सिद्धान्तों

का समीक्षण भली भाँति किया है और उन्होंने इन सिद्धान्तो के नाट्यकला में नितान्त जागरूक रहने का व्यापक रीति से प्रदर्शन किया है। उनका मुख्य लक्ष्य नाटक के स्वरूप, तत्त्व तथा अभिनय का वर्णन करना है, परन्तु इसके साथ अङ्गभूत जितनी कमनीय कलाएँ नाट्य मे आवश्यक होती हैं उन का भी उन्होंने स्पष्ट विवरण दिया है। नाट्य का स्वरूप भरत के मतानुसार इस सारगर्भित श्लोक मे निबद्ध हैः—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥

—नाट्यशास्त्र १।१०६

लोकचरित का अनुकरण ही नाट्य है। लोक के व्यक्तियों का चरित्र न तो एक समान होता है और न उनकी अवस्थाएँ ही एकाकार होती हैं। किसी व्यक्ति को हम सासारिक सौख्य की चरम सीमा पर विराजमान पाते हैं, तो किसी को दुःख के अन्धकारपूर्ण गर्त में अपने भाग्य को कोसते हुए मग्न पाते हैं। सुख तथा दुःख, हर्ष तथा विषाद, प्रसन्नता तथा उदासीनता—नाना प्रकार की मानसिक विकृतियो की विशाल परम्परा की ही संज्ञा 'ससार' है। जगतीतल पर प्राणियों के मानस भावो मे हम इतनी विचित्रता पाते हैं कि जगत् के वैचित्र्य का परिचय हमें पद पद पर प्राप्त होता है। इन्ही नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से सयुक्त, लोकवृत्त का अनुकरण नाट्य है। नाट्य के 'त्रैलोक्यानुकृति' कहलाने का यही तात्पर्य है।

लोक के ऊपर नाट्य की प्रतिष्ठा इतनी अधिक है कि भरत ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि अभिनय या नाट्यकला की सफलता के निर्णय का अन्तिम निर्देश ससार ही है। मानव स्वभाव की विचित्रता, शील तथा प्रकृति को भली भाँति जानना प्रत्येक नाटक के रचयिता और अभिनेता का मुख्य कार्य होना चाहिए। लोकस्वभाव का अज्ञान नाट्यकला की असफलता का प्रधान कारण है। नाट्य का 'प्रमाण' लोक ही है। नाट्य में कितनी वस्तुयें ग्राह्य हैं और वर्ज्य हैं? किनका अभिनय अभिनन्दनीय है और किनका निन्द-नीय? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर 'लोक' से ही प्राप्त होता है। नाट्यसिद्धान्त का प्रतिपादक पण्डित कतिपय नियमों का ही अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन कर

सकता है, इतने विस्तृत और व्यापक नियमों की जानकारी के लिए वह लोक (संसार) की ओर अपनी अँगुलि निर्देश कर देता है। नाट्यशास्त्र ने इस तथ्य का निर्देश अनेक बार किया है और बड़ी स्पष्टता तथा मार्मिकता से किया है। भरतमुनि के शब्दों मे—

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते॥

—नाट्यशास्त्र २६ अ०, ११३ श्लो०

लोक से सिद्ध वस्तु सुतरा सिद्ध होती है। नाटक लोक के स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसीलिए नाट्य के प्रयोग में प्रमाणभूत यदि कोई वस्तु है, तो वह लोक ही है। नाट्य का स्वभाव ही तो लोकचरित का अनुकरण है—

लोकस्य चरितं यत्तु नानावस्थान्तरात्मकम्।
तदङ्गाभिनयोपेतं नाट्यमित्यभिसंज्ञितम्॥११५॥

ऐसी वस्तुस्थिति में लोक की जो वार्ता नाना अवस्थाओं से समन्वित रहती है उसका संविधान नाटक मे अवश्य करना चाहिए[1]। जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प, जो क्रियाये लोकधर्म में प्रवृत्त होती हैं उनका कीर्तन ही तो 'नाट्य' कहलाता है[2]। स्थावर तथा जगम जगत् की चेष्टाये इतनी विचित्र, विपुल तथा विविधरूप है, उनके भाव इतने सूक्ष्म तथा गृढ हैं कि इनका निर्णय करना शास्त्र की क्षमता के बाहर है[3]। प्रकृति अर्थात् जगत् के प्राणियो के शील नाना प्रकार के होते हैं और यही शील ही नाट्य का प्रतिष्ठापीठ है। ऐसी दशा मे शील का यथार्थ अभिनय नाटक में किस प्रकार किया जाय? यही एक विषम प्रश्न है। इसका उचित उत्तर है—लोक का प्रामाण्य।

---

१ एवं लोकस्य या वार्ता नानावस्थान्तरात्मिका।
सा नाट्ये संविधातव्या नाट्यवेदविचक्षणैः।११६।

२ यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पनि याः क्रियाः।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्य प्रकीर्तितम्॥११७।

३ नहि शक्य हि लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।
शास्त्रेण निर्णय कर्तुं भावचेष्टाविधिं प्रति॥११८।

—ना० शा०, अ० २६

लोक ही नाट्य का प्रमाण है[1]। इसीलिए भरतमुनि का आदेश है कि जिन नियमो का निर्देश नाट्यग्रन्थो मे नही दिया गया है उनका ग्रहण लोक से करना चाहिए[2]।

इस **लोकप्रामाण्य** के तत्त्व का भरत ने अपने ग्रन्थ मे बड़े विवेक के साथ पालन किया है। नाट्यप्रयोग में भरत ने इसीलिए दो प्रकार के धर्मी माने हैं—लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी। 'लोकधर्मी' से अभिप्राय उन धर्मों से है जो लोकसिद्ध हैं तथा जिनका ग्रहण कवि के लिए अभिनय मे अतीव समीचीन है। 'नाट्यधर्मी' का तात्पर्य नाट्य मे प्रयुक्त होनेवाली अनेक परम्परागत वस्तुओ से है। लोकधर्मी का सिद्धान्त नाट्य में यथार्थवाद का पोषक है, तो नाट्यधर्मी का तथ्य नाट्य में आदर्शवाद तथा माननीय रूढियो का प्रतिपादक है। ग्राह्य दोनों हैं। इस तथ्य की दृष्टि से उन्होने 'प्रकृति' का विचार किया है। उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से त्रिविध प्रकृति के गमन, स्थान तथा आसन का विधान नाट्यशास्त्र के त्रयोदश अध्याय मे बड़े विस्तार के साथ किया गया है। आहार्य अभिनय के अवसर पर भरत ने नाटकीय पात्रो के वेश, भूषा, सज्जा आदि की रचना का विवरण बड़ी विवेचना से किया है। रग मञ्च के ऊपर नाना अवस्था के, नाना प्रकार के पात्र लाये जाते हैं। कभी स्त्रियाँ भी पुरुषो की भूमिका में अवतीर्ण होती हैं, और कभी पुरुष स्त्रियो की भूमिका मे उपस्थित होते हैं। इन दोनों का आहार्य अभिनय एक प्रकार नहीं हो सकता। लोक के आदर्श पर यह नेपथ्यविधान सम्पन्न किया जाता है। भरत ने भिन्न भिन्न पात्रो के लिए विभिन्न पाठ्य का निर्देश किया है (ना० शा० १६ अध्याय)। प्रकृति के अनुरूप भाषा का विधान होता है (१७ तथा १८ अ०) पुरुष पात्र सस्कृत का प्रयोग करते हैं तथा स्त्रीपात्र और नीचपात्र प्राकृत भाषा

---

१ नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्मात् लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥११६।
—नाट्यशास्त्र, अध्याय २६

२ नोक्तानि च मया यानि लोकग्राह्याणि तान्यपि।
—ना० शा० २४। ६१४

का, परन्तु पात्रो की योग्यता तथा सामाजिक स्थिति के अनुरूप प्राकृत भाषाओं में भी भिन्नता होती है। पाठ्यविधान के भी नियम होते हैं[1]। नाटक की रचना को लक्ष्य कर भरत ने कवियों को आदेश दिया है कि रस तथा भाव के अनुरूप माधुर्य, ओज आदि गुणों का तथा उपमा, रूपक, दीपक और अनुप्रास-अलङ्कारचतुष्टय का सन्निवेश उन्हे नाटक मे करना चाहिए।

अभिनय का मुख्य लक्ष्य दर्शको के हृदय मे रस की अनुभूति उत्पन्न करना है। यदि दर्शको का मन रस के आनन्द से उल्लसित नहीं होता, तो वह अभिनय केवल प्रदर्शनमात्र है, वह नाटकीय वस्तु नही। इस रसोन्मेष की ओर नाट्य का समग्र संविधानक अग्रसर होता है। इसी के उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाट्य के समस्त अङ्ग जागरूक रहते हैं। अभिनय, प्रकृति, पाठ्य, छन्द, अलङ्कार, स्वर, संगीत—नाट्य की इस विशाल सामग्री का अवसान दर्शको के हृदय मे तद्रूप रस भाव का उन्मीलन ही होता है। रस को अवलम्बन मान कर ही भरत ने गुण-दोष की व्यवस्था की है। गुण वही है जो रस के अनुगुण हो और दोष वही होता है जो रस के प्रतिकूल हो। रसोन्मीलन मे सहायक 'गुण' हैं और रसोन्मीलन के अपकर्षक 'दोष' हैं। समग्र नाट्यविधान का यही मूल मन्त्र है। इसी कारण नाटक के समग्र अंग इसी मन्त्र को सिद्ध करने के लिए विरचित होते हैं।

भरत ने अभिनय के सिद्धान्त का रहस्य इस सारगर्भित पद्य मे स्पष्टतः उद्घटित किया है:—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो,
वेषानुरूपश्च गति-प्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥

ना० शा० १४।६८

---

१ व्यपेतं वाक्यशेषैस्तु लक्षणाद्य गुणान्वितम्।
स्वरालंकारसंयुक्तं पठेत् काव्य यथाविधि॥

नाट्यशास्त्र १६।७५

प्रथम तो उम्र के विचार से उचित वेष होना चाहिए। वेश के अनुरूप गति तथा क्रिया होनी चाहिए। गतिप्रचार के अनुरूप पाठ्य होता है और पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए। अभिनय चार प्रकार का होता है—आगिक, सात्त्विक, वाचिक तथा आहार्य। इन चारो मे परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है। इन चारो अगो के सामरस्य के ऊपर ही अभिनय की कृतकार्यता आश्रित रहती है। इस अवसर पर 'लोक' का उल्लघन कथमपि क्षन्तव्य नही होता। लोक का अनुगमन ही कवि के लिए आवश्यक होता है। वेप के विषय मे भरत का स्पष्ट कथन है:—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥

जिस देश के पात्रो का वर्णन अभीष्ट हो, उस देश का ही वेष दिखलाना चाहिए। इसीलिए विभिन्न प्रान्तीय वेषभूषा का समग्रता के लिए भरत ने चार प्रकार की 'प्रवृत्ति' मानी है। देश से प्रतिकूल वेष कभी शोभा उत्पन्न नही कर सकता, जैसे गले मे मेखला और हाथ मे नुपूर का पहनना। इसी उदाहरण को ग्रहण कर क्षेमेन्द्र ने औचित्य के तत्त्व की सुतरां पुष्टि की है:—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नुपूर-बन्धनेन चरणे केयूर-पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥

कण्ठ में मेखला (करधनी) बाँधने से या नितम्ब पर सुन्दर हार पहनने से अथवा हाथ मे नुपूर बाँधने से या पैर मे कयूर रखने से कौन व्यक्ति लोक मे हँसी का पात्र नही बनता? शौर्य से प्रणत शत्रु के ऊपर करुणा दिखलाने वाला व्यक्ति क्या अपने को उपहास्य नही बनाता? तथ्य बात यह है कि औचित्य के बिना न तो अलकार ही रुचिकर प्रतीत होते हैं और न गुण। भूषणतत्त्व का प्रधान आश्रय 'औचित्य' ही है।

इस अनुशीलन से स्पष्ट है कि भरत मुनि 'औचित्य' के उद्भावक हैं और इसका साम्राज्य उन्होंने नाट्य मे व्यापक रूप से दिखलाया है। उन्हीं

के सूत्र को ग्रहणकर परवर्ती आलकारिको ने इस महनीय तत्त्व की विपुल व्याख्या की है।

माघ

आनन्दवर्धन से पूर्व कवियों तथा आलंकारिकों ने इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को काव्य में सन्निवेश करने के लिये व्यक्तभाव से या गूढ़रीति से अपना मत प्रकट किया है। महाकवि माघ ने शिशुपालवध मे राजा की नीति के सम्बन्ध मे इस सुन्दर पद्य की रचना की है:—

तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपते।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः[1]॥

—२। ८५

राजा को देश और काल का ज्ञाता होना चाहिये। उचित काल और देश का निरीक्षण कर उसे अपनी नीति निर्धारित करनी चाहिए। उसे एक ही नीति का दास बनकर रहना कथमपि शोभा नही देता। तेज और क्षमा, पराक्रम और दया—दोनो निसन्देह सुन्दर गुण हैं, परन्तु इन दोनों में से केवल एक ही को अंगीकार करना कथमपि उचित नही है। कवि की भी दशा ऐसी ही है। उसे रस और भाव का मर्मज्ञ होना चाहिये। यदि वह केवल ओज गुण या केवल प्रसाद का ही अवलम्बन अपनी कविता मे आदि से अन्त तक करता है और रस के आनुगुण्य पर ध्यान ही नहीं देता, तो वह यथार्थ मे कवि कहलाने योग्य नही है। काव्य मे वीर तथा रौद्र रस के लिये रचना मे ओज और दीप्ति का लाना नितान्त आवश्यक है।

---

१ इस पद्य मे वल्लभदेव 'रसभावविदः' के स्थान पर 'रसभागविदः' पाठ मानते हैं। 'भाग' का अर्थ है विषय। रसके विषय का ज्ञाता कवि एक ही रसका आश्रय नही लेता, प्रत्युत विषय के औचित्य से कभी ओज का और कभी प्रसादगुण का उपयोग काव्य में करता है। वे 'रसभावविदः' पाठ को स्वीकार नही करते, क्योंकि रस और भाव का एक ही योगक्षेम होता है। "केचित्तु रसभावविद इति पठन्ति, तत् पुनर्न युज्यते। रसभावयोरेकयोगक्षेमत्वात्। भाव एव रसो भवति। किंच रसेष्वेव रीतयो विभक्ता न भावेषु॥"

अन्य स्थान पर यदि शृङ्गार की प्रधानता हो तो रचना भी तदनुरूप कोमल और सुकुमार होनी चाहिए। वहा प्रसाद गुण का आश्रय लेना चाहिये। रस के परिपोषक होने पर ही कवि को चाहिए कि वह ओजगुण या प्रसाद गुण को स्वीकार करे। इस पद्य से स्पष्ट है कि माघ **गुणौचित्य** के समर्थक थे। रसानुकूल होने पर ही गुण की काव्य मे योजना श्रेयस्कर है। यही उनका मान्य सिद्धान्त था

भामह

भामह ने भी अपने काव्यालकार मे इस औचित्य तत्त्व का सकेत बडे सूक्ष्म ढग से किया है। यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो काव्य मे सबसे बडा गुण एक ही होना चाहिए और वह गुण है **औचित्य**। औचित्य मे ही काव्य के अन्य सब गुणों का अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार सबसे बड़ा काव्यदोष है **अनौचित्य** और इसी के भीतर समस्त दोपों का अन्तर्भाव दिखलाया जा सकता है। आलकारिको के सामने एक बड़ी समस्या थी कि क्या दोप सर्वथा दोष ही रहते हैं ? अथवा किन्ही अवस्थाओं में दोपो का दोपत्व दूर हो जाता है और वे गुण की कोटि मे आ विराजते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे इस विषय का बड़ा समीचीन और साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उन का कथन है कि यदि दोप मे रस के अपकर्पण का भाव विद्यमान नही है, तो वह उन अवस्थाओ मे दोष हो ही नही सकता। कुछ दोष ऐसे भी हैं जो अपने जीवन मे सदा दोष ही बने रहते हैं। इन्हे आनन्दवर्धन ने 'नित्यदोष' कहा है। परन्तु कुछ दोष अवस्था-विशेप मे दोप नही रह जाते, प्रत्युत गुण बन जाते हैं, इसे वे 'अनित्य दोष' कहते हैं। इस सूक्ष्म विवेचन का सूत्रपात हमे भामह तथा दण्डी के ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है।

भामह ने अपने काव्यालकार के प्रथम परिच्छेद के अन्त मे कई दोपो के विषय मे विशिष्ट सन्निवेश के कारण दोषत्व से मुक्त होने की बात लिखी है। उनका कहना है कि दुष्ट भी उक्ति सन्निवेश-विशेष के कारण उसी प्रकार शोभा धारण कर लेती है जिस प्रकार माला के बीच मे रक्खा गया नील पलाश।

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥

का० अ० १।५४

उनका यह भी कथन है कि कोई कोई असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से अत्यन्त सुन्दर हो जाती है। जिस प्रकार कज्जल तो स्वभावतः काला होता है परन्तु सुन्दरी स्त्री के नयनो में लगा दिये जाने पर काजल की शोभा बढ़ जाती है।

किञ्चित् आश्रयसौन्दर्यात्, धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ता-विलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥

—का० अ० १।५५

इसी प्रकार चतुर्थ परिच्छेद से भामह ने दोषों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर उन अवस्थाओं का निर्देश किया है जब दोष का दोषत्व स्वतः मिट जाता है। 'पुनरुक्ति' दोष है अवश्य, परन्तु भय, शोक, असूया, हर्ष तथा विस्मय आदि भावो से चित्त के आक्षिप्त होने पर पुनरुक्ति-दोष दूर हो जाता है:—

भयशोकाभ्यसूयासु, हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति, पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥

—का० अ० ४।१४

इस अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऊपर निर्दिष्ट स्थानों पर औचित्य होने के कारण ही दोषो में दोषत्व नहीं रहता। इस प्रकार भामह ने भी औचित्य के सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। इतना ही नहीं, 'देश-काल कलाविरोधी' नामक दोष की भावना अनौचित्य के ऊपर ही निर्भर रहती है। काव्य अपने वर्णन में देशकाल, लोकवृत्त आदि अनेक आवश्यक वस्तुओं के साथ सामञ्जस्य रखता है। भरत ने नाट्य के लिए जो औचित्य माना है, भामह ने काव्य में भी उसे अंगीकृत किया है। अतः स्पष्ट है कि भामह की दृष्टि में औचित्य काव्य का महनीय व्यापक सिद्धान्त था।

दण्डी

आचार्य दण्डी ने भी दोष-परिहार व प्रसङ्ग को अपने काव्यादर्श में अधिक विस्तार के साथ लिखा है। काव्यादर्श के चतुर्थ परिच्छेद में दोषो का वर्णन उपलब्ध होता है। प्रत्येक दोष किसी विशिष्ट अवस्था को लक्ष्य कर ही दोष बतलाया गया है। जैसे अपार्थ दोष साधारणतया दोष माना जाता है परन्तु यही पागल के बकवाद, बालक के आलाप तथा अस्वस्थ चित्तवाले व्यक्ति के प्रलाप को भली भाति व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। उस दशा मे यह कथमपि दोष नही है।

समुदायार्थशून्यं यत् तद् अपार्थमितीष्यते।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दूष्यति ॥

—काव्यादर्श ४।५

इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम्।

—काव्यादर्श ४।६

इसी प्रकार पूर्वापर, आगे-पीछे, विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्य में 'व्यर्थ' नामक दोष होता है। परन्तु दण्डी की सम्मति में अवस्था-विशेष मे यह व्यर्थ दोष भी दोषत्व से हीन होकर गुणरूप में परिणत हो जाता है। किसी वस्तु मे चित्त की अत्यन्त आसक्ति होने पर विरुद्ध भी अर्थ का कथन दोष न उत्पन्न कर गुणत्व का ही आविर्भाव करता है:—

अस्ति काचिदवस्था सा, साभिषङ्गस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥

—वही ४।१०

देश, काल, कला, लोक, न्याय तथा आगम से यदि विरोध हो तो यह भी काव्यदोष माना गया है। परन्तु दण्डी की विवेचक दृष्टि उस स्थान के गूढ स्तरो तक पहुँची है जब कविकौशल से यह सकल विरोध दोष छोड़कर गुणमार्ग में विचरण करने लगता है[१]।

---

१ विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणना गुणवीथी विगाहते ॥

—काव्यादर्श ४।५७

दण्डी के द्वारा उल्लिखित अवस्था-विशेष में गुणत्व पानेवाले दोषों को भोज ने 'वैशेषिक गुण' के नाम से अभिहित किया है। भामह और दण्डी के दोषविषयक इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्हे औचित्य का तत्त्व भली-भाँति अवगत था। अनुचित स्थान पर सन्निवेश के कारण ही दोष की दोषता है और उचित स्थान पर सन्निवेश के कारण दोषों का दोषत्व-परिहार हो जाता है। आनन्दवर्धन[१] का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दण्डी के सिद्धान्त का ही विकसित रूप है। आनन्द की सम्मति में श्रुतिदुष्ट आदि दोष शृङ्गार रस में हेय होने के कारण दोष हैं; परन्तु वीर तथा रौद्र रस में अनुकूल होने के कारण वर्जनीय न होकर वाञ्छनीय हो जाते हैं। इसीलिये श्रुतिदुष्ट अनित्य दोष ठहरा। च्युत-सस्कृति (व्याकरण से अशुद्ध पद) दोष सर्वत्र रस का अपकर्षण करता है। अतः वह अनित्य दोष है। दोषों की 'नित्यानित्य व्यवस्था' के मूल में यही औचित्य का सिद्धान्त जागरूक है।

यशोवर्मा

दण्डी और रुद्रट के बीच मे औचित्य पर किञ्चित् प्रकाश डालने वाले दो लेखको के सिद्धान्त हमें उपलब्ध होते हैं। एक हैं यशोवर्मा और दूसरे हैं आचार्य लोल्लट। यशोवर्मा लक्ष्मी-पूजक कन्नौज के महीपति ही नही थे प्रत्युत सरस्वती के भी सहृदय उपासक थे। वे महाकवि भवभूति तथा प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' के रचयिता वाक्पतिराज के आश्रय-दाता थे। इन्हीं यशोवर्मा के यश तथा पराक्रम का गुणगान इन्होंने 'गउडवहो' में किया है। यशोवर्मा ने 'रामाभ्युदय' नामक एक नाटक की रचना की

---

१ श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च सूचिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदीरिताः॥

—ध्वन्यालोक २।१२

नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं दोषत्वम्। बीभत्स-हास्य रौद्रादौ त्वेषा (श्रुतिदुष्टादीनां) अस्माभिरुपगमत् शृङ्गारादौ वर्जनात् अनित्यत्वं समर्थितमेवेति भावः॥ —लोचन।

थी जिसका उल्लेख तथा उद्धरण अनेक साहित्यग्रन्थों में मिलता है परन्तु अभीतक उनका यह नाटक उपलब्ध नहीं हुआ है। संभवतः इसी नाटक की प्रस्तावना से भोजराज ने 'शृङ्गार प्रकाश' में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया[1] है:—

"तेष्वेव नगरार्णववर्णनादीनां सन्निवेश-प्राशस्त्यम् अलंकार इति। तदुक्तम् —

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयोः,
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः, एतावदेवास्तु नः॥"

शृङ्गारप्रकाश भाग २ पृ० ४११

यशोवर्मा ने इस पद्य में नाटक के आवश्यक गुणों का उल्लेख किया है। इन गुणो मे पहली वस्तु जो आवश्यक है वह है **वचनौचित्य**। अर्थात् नाटक के पात्रों का कथन उन पात्रों की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिये। तथा दूसरी वस्तु रस की उचित अवसर पर पात्रोचित पुष्टि है। अर्थात् रस का विनिवेश ठीक अवसर पर ही शोभित होता है और वह पात्र की प्रकृति तथा अवस्था के अनुकूल होना ही चाहिये। इन दोनों गुणो का वर्णन भरत ने भी नाट्य मे नितान्त आवश्यक माना है। साहित्य मे 'औचित्य' शब्द का यह प्रथमावतार है। यशोवर्मा ने इस पद्य में वचन तथा रस के औचित्य की महत्ता नाट्य मे दिखलायी है।

---

१ इस श्लोक के यशोवर्मा रचित होने का प्रबल प्रमाण 'ध्वन्यालोक लोचन' से मिलता है। आनन्दवर्धन ने "कथामार्गे न चातिक्रमः" को अपने ग्रन्थ मे (उद्योत ३, पृ० १४८) उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त इस पर टीका करते हुए लिखा है कि यशोवर्मा के 'रामाभ्युदय' नाटक का यह अंश है। देखिये— डाक्टर राघवन्—Some Concepts of Alankar Shastra. P. 205.

भट्ट लोल्लट

भट्ट लोल्लट नाट्यशास्त्र के मान्य प्राचीन टीकाकार हैं। रस की उत्पत्ति के विषय मे इनका स्वतन्त्र मत साहित्य जगत् में नितान्त प्रख्यात है। राजशेखर, हेमचन्द्र तथा नमि साधु ने लोल्लट के तीन पद्यों को उद्धृत किया है जो औचित्य-विचार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय हैं। प्राचीन आलंकारिकों ने काव्य मे अंगी रस के विभिन्न अंगों के साथ पूर्ण सामञ्जस्य के तत्त्व को दर्शाया है। काव्य का मुख्य तात्पर्य विशिष्ट रस का उन्मीलन ही है। और इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर काव्य के विविध अंगों का विधान समीचोन होता है। यदि अलंकार काव्य के मुख्य रस के साथ सामञ्जस्य नहीं रखता तो वह कभी शोभा की अभिवृद्धि नही कर सकता। महाकाव्य मे प्रकृति का वर्णन करना नितान्त आवश्यक होता ही है परन्तु इन वर्णनों का मुख्य वर्ण्य विषय के साथ आनुगुण्य होना अतीव आवश्यक है। लम्बे-लम्बे सर्गों में अनावश्यक प्रसङ्गों का विस्तार काव्य में उसी प्रकार उपहास्यास्पद होता है जिस प्रकार दुबले-पतले पुरुष की उदर-वृद्धि। भट्ट लोल्लट का कहना है कि अर्थ के समुदाय का अन्त नहीं हैं किन्तु काव्य मे रसवाले अर्थ का ही निबन्धन युक्त है, नीरस का नही। काव्य में मज्जन, पुष्पावचय, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस भले ही हो, परन्तु यदि वह प्रकृत रस के साथ सामञ्जस्य नही रखता तो उसका विस्तार कभी नहीं करना चाहिए[१]। अनेक कवियों ने नदी, पहाड़, समुद्र, गज, तुरग, नगर आदि के वर्णन करने में जो महान् प्रयास स्वीकार किया है वह केवल अपने कवित्व की ख्याति के लिये ही है। उससे प्रबन्ध-काव्य मे किसी प्रकार की रुचिरता नही आती[२]। इसी प्रकार यमक तथा चित्रकाव्य का महाकाव्य मे निबन्धन

---

१ "अस्तु नाम निस्सीमा अर्थसार्थः। किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तः, न तु नीरसस्य" इति आपराजितिः। यदाह—

मज्जन-पुष्पावचय-सन्ध्या-चन्द्रोदयादिवाक्यमिह।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसान्वितं रचयेत्॥

२ यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादि-वर्णने यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलः विततधिया नो मतः स इह॥

कवि के अभिमान का ही परिचायक होता है[1]। काव्य के मुख्य रस का अभिव्यञ्जक वह कथमपि नहीं होता। अतः लोल्लट की दृष्टि में महाकाव्य के मुख्य रस तथा उसके विभिन्न अंगों मे पूर्ण सामरस्य होना ही चाहिये। यह रसौचित्य का एक प्रकारमात्र है।

रुद्रट

औचित्यके इतिहास में रुद्रट के ग्रन्थ 'काव्यालंकार' का विशेष महत्त्व है। भामह और दण्डी, आनन्द और अभिनवगुप्त—इन दोनो के बीच की शृङ्खला रुद्रट मे पायी जाती है। औचित्य के सिद्धान्त में जिन मौलिक तथ्यों का उन्मीलन आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया है उनमे से अनेक तथ्यों का संकेत रुद्रट ने अपने अलकार ग्रन्थ में किया है। रुद्रट आनन्दवर्धन से कुछ ही प्राचीन थे। उनके समय तक अलकार-शास्त्र मे अलंकार-सम्प्रदाय का प्राबल्य बना हुआ था। इसीलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालकार रक्खा है। फिर भी वे रस के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त से भलीभाँति परिचित थे। रस तथा अलंकार के परस्पर सबघ को उन्होंने खूब मार्मिक दृष्टि से देखा था। रस के परिपोष के लिए ही अलंकारों की सत्ता है। इस विषय का प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ के तृतीय उद्योत मे किया है। परन्तु उनसे पहले आचार्य रुद्रट ने रस और औचित्य के सिद्धान्त की बड़ी ही मार्मिक समीक्षा अपने ग्रन्थ मे की है।

---

१ यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिन्यः।
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादि-प्रवाहो वा ॥

इस पद्यत्रयी में प्रथम दोनों पद्यों को राजशेखर ने **आपराजिति** नामक आचार्य के नाम से उद्धृत किया है। द्रष्टव्य काव्यमीमासा ६ अध्याय, पृ० ४५। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (पृ० २१५) मे अन्तिम दोनों पद्यों को भट्ट लोल्लट का बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य आपराजिति भट्ट लोल्लट का ही दूसरा नाम है। संभवतः इनके पिता क नाम अपराजित था।

रुद्रट ने द्वितीय अध्याय में अनुप्रास अलंकार की पाँच जातियो के विवरण देने के अनन्तर काव्य में उनके प्रयोग का वर्णन किया है। इस अवसर पर उन्होने औचित्य को ही प्रधान कसौटी मानी है। औचित्य का विचार करके ही वृत्तियो का निवेश काव्य में उचित है। कविता में अनुप्रास का प्रयोग सब स्थानो पर नहीं होना चाहिए। आवश्यकतानुसार ही काव्य में अनुप्रास का प्रयोग ग्राह्य तथा त्याज्य होता है। रुद्रट ने ठीक ही कहा है—

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥

काव्यालंकार २। ३२

यही है रसौचित्य का सिद्धान्त। आनन्दवर्धन ने रुद्रट के पूर्व पद्य से (२। ३२) 'गृहीतमुक्ताः' पद्यांश के आधार पर अपने ग्रन्थ मे आवश्यकता के अनुसार अलंकार के ग्रहण तथा त्याग के सिद्धान्त का निरूपण—काले च ग्रहणत्यागौ (धन्यालोक २। १६) लिखकर किया है। रुद्रट ने अपने ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में यमक अलंकार का बड़ा ही विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। परन्तु काव्य मे यमक के निवेश को वे कवि-कौशल का कार्य नही समझते प्रत्युत कविहृदय की अभिव्यक्ति मानते है। रमणीय, सुलभपदभंगयुक्त, प्रसन्न यमक का निवेश महाकाव्य

---

१ इति यमकविशेष सम्यगालोचयद्भिः,
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभङ्ग सुप्रसिद्धाभिधानं,
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना॥ ३। ५६

"तथा च वस्तु विषयभागमालोचयद्भिः। यथा कस्मिन् रसे कर्तव्यं, क वा न कर्तव्यम्। यमकश्लेषचित्राणि हि सरसे काव्ये क्रियमाणानि रसखण्डनां कुर्युः। विशेषस्तु शृङ्गारकरुणयोः। कवेः किलैतानि शक्तिमात्रं पोषयन्ति न रसवत्ताम्। यदुक्तं 'यमकानुलोम-गड्डरिकादिप्रवाहो वा।"

—नमिसाधु की टीका।

में वही कवि यथार्थतः कर सकता है जो औचित्य का पारखी होता है। अनुचित स्थान में यमक का सन्निवेश गलगण्ड की भाँति नितान्त अशोभन तथा असुन्दर होता है।

भामह तथा दण्डी के समान आचार्य रुद्रट ने भी दोषों की गुणत्वापत्तिकी विशिष्ट चर्चा की है। उन्होंने इस विषय का अपने ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय में बड़े विस्तार तथा विवेक के साथ समीक्षण किया है। 'ग्राम्य' दोष अवश्य है, परन्तु विशिष्ट दशाओं में इस दोष का ग्राम्यत्व सर्वथा अपहृत हो जाता है और यह गुणकोटि मे समाविष्ट हो जाता है।

अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद् विभक्तेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि॥

काव्यालंकार ६। २३

'पुनरुक्त' दोष काव्य में नितान्त हेय माना जाता है, क्योंकि यह कवि के शब्द-दारिद्रय या अर्थ-दारिद्र्य का सद्यः सूचक होता है। परन्तु अनेक स्थलों पर पुनरुक्त भी दोषत्व कोटि से हटकर गुण का रूप धारण कर लेता है। किन स्थानों पर? जहाँ औचित्य की सर्वथा स्थिति हो। यदि वक्ता हर्ष तथा भय आदि भावो के आवेश में आकर स्तुति या निन्दा के लिए किसी पद का असकृत् प्रयोग करता है वह पुनरुक्त दोष नहीं होता[1], प्रत्युत उसके हृदयगत भाव की यथार्थ अभिव्यक्ति के कारण यह औचित्य-मण्डित होने से गुण ही हो जाता है। उदाहरणार्थ[2]—

---

१ वक्ता हर्ष भयादिभि—
राक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन् निन्दन्।
यत् पदमसकृत् ब्रूयात्
तत् पुनरुक्तं न दोषाय॥
—काव्यालंकार ६।२९

२ वही ६।३०

वद वद जितः स शत्रुः
न हतो जल्पँश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रमरोदीत्
हा हेति पराहते पुत्रे ।

कहिए, कहिए क्या वह शत्रु जिता गया? (यहाँ वद वद में पुनरुक्ति हर्ष सूचक है)। 'मैं आप ही का, आप ही का हूँ' यह कहता हुआ शत्रु नहीं मारा गया (भयसूचक); पुत्र के मारे जाने पर वह चित्र विचित्र रूप से हा हा कहते हुए रोने लगा (यहाँ चित्रं चित्र विस्मयसूचक; हा हा शोक सूचक)। यह पुनरुक्ति दोष न हो कर मानसिक दशा से नितान्त सामञ्जस्य रखने के कारण गुण ही है[१]।

दोष प्रकरण का उपसंहार करते हुए उन्होंने एक बड़ी मार्मिक बात लिखी है कि प्रत्येक दोष का दोषत्व सर्वथा विरहित हो जाता है जब उसका केवल अनुकरण काव्य या नाटक में किया जाता है अर्थात् दोषों का अनुकरण उन्हे गुण रूप मे परिणत कर देता है[२]। यह सिद्धान्त नितान्त मार्मिक है। यदि नाटक में किसी वज्रमूर्ख का चित्रण करना हो तो उसके असम्बद्ध प्रलाप, असमर्थ वाक्य तथा अवाचक पदों का प्रयोग करना ही होगा। तो ऐसे अवसर पर ये दोष क्या दोष रह जायेंगे? अनुकरण के अतिरिक्त इस पात्र के चित्रण का उपाय ही कौन सा है? अतः अनुकरण की दशा में दोषों का दोषत्व-परिहार सर्वथा न्याय्य तथा समीचीन है। इस विषय का उदाहरण देते हुए नमि साधु ने विकटनितम्बा के पति के असम्बद्ध वाक्य का अनुकरणरूप यह पद्य अत्यन्त ही समीचीन दिया है। यह पद्य बड़े ही सुन्दर हास्य का अभिव्यञ्जक है:—

---

१ द्रष्टव्य काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास।

२ अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृक् विपरीतक्लिष्टवर्णं च॥

—रुद्रट—काव्यालंकार ५।४७

काले माषं सस्ये मासं वदति शकाशं यश्च सकाशम्।
उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा॥

भाव यह है कि विकटनितम्बा का पति इतना मूर्ख है कि वह काल के विषय में माष (उड़द) शब्द का, और माष (उड़द) के स्थान पर मास (महीना) का प्रयोग करता है। वह सकाश (समीप) को शकाश कहता है तथा उष्ट्र शब्द में कभी रेफ और कभी षकार का लोपकर उट्र या उष्ट कहता है। यहाँ पर अनेक दोषों की सत्ता रहने पर भी मूर्ख मनुष्य का अनुकरण होने के कारण ये दोष दोष नहीं रह जाते। अतः दोषों के दोषत्व का प्रधान कारण अनौचित्य ही है। इसी प्रकार रुद्रट ने ग्राम्य नामक दोष के देश, कुल, जाति, विद्या आदि के विषय में व्यवहार, आकार, वेष और वचन, का अनौचित्य माना है[1]। अन्य दोषों के गुणभाव की चर्चा रुद्रट ने इसी अध्याय में (११।१८-२३) की है।

रुद्रट के इस मत की समीक्षा हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है कि काव्य में सबसे अधिक व्यापक तत्त्व औचित्य ही है। इसके अपकर्षक होने पर ही दोषों का दोषत्व सम्पन्न होता है और अवस्था-विशेष में रस की अनुकूलता होने पर वे ही हेय दोष उपादेय गुण के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अनुकरण दोष के दुष्ट भाव को दूर करने वाला पदार्थ है और यह औचित्य के ऊपर ही अवलम्बित है। औचित्य के इतिहास में रसौचित्य की व्यापक समीक्षा आचार्य रुद्रट की महती देन है।

---

१ ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्।
देशकुल-जातिविद्यावित्तवयः—स्थान-पात्रेषु॥

—काव्यालंकार ११।९

इन विविध प्रकारों के अनौचित्य के उदाहरण के लिये देखिये इस श्लोक पर नमिसाधु की टीका।

आनन्दवर्धन

औचित्य-सिद्धान्त के विकास में आनन्दवर्धन तथा उनके ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' का नितान्त महत्वपूर्ण स्थान है। आनन्दवर्धन ने औचित्य शब्द का प्रयोग करते हुए कहीं व्यक्त रूप से और कहीं संकेतमात्र से इस तत्त्व की विशद अभिव्यक्ति की है। औचित्य तत्त्व का जो विवेचन अबतक आलंकारिकों ने किया था, वह अलंकारशास्त्र के कतिपय प्रकीर्ण अंगों के ही विषय में था। परन्तु आनन्दवर्धन ने काव्य के प्राणभूत रस के साथ इसका घनिष्ठ संबन्ध प्रमाणित कर इसे अत्यन्त महनीय तथा माननीय सिद्धान्त के पद पर आसीन किया है। क्षेमेन्द्र ने आनन्द के ही विवेचन से स्फूर्ति ग्रहण की और अपने विख्यात ग्रन्थ औचित्यविचार-चर्चा में इस सिद्धान्त को और भी विकसित तथा पल्लवित किया। औचित्यविचार-चर्चा के मूलस्रोत को जानने के लिए ध्वन्यालोक का अध्ययन सर्वथा अपेक्षित है।

आनन्दवर्धन रस को ही काव्य का सारभूत पदार्थ मानते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से यह जितना सत्य है इतिहास की दृष्टि से भी यह उतना ही मान्य है। संस्कृत भाषा में काव्य का उदय सहानुभूति-पूर्ण हृदय की भावाभिव्यक्ति से ही हुआ है। सस्कृत में आदिकाव्य के उन्मेष की कथा बड़ी मार्मिक है। महर्षि वाल्मीकि हमारे आदिकवि हैं और उनका रामायण हमारा आदिकाव्य। एक समय तामसहारिणी तमसा कल-कल करती हुई बह रही थी। उसका पावन तट वृक्षों की स्निग्ध छाया से शीतल था। तीर्थ में न तो पंक कलक की तरह चिपका था और न शैवाल दुष्टों की चित्तवृत्ति के समान उसे कलुषित कर रहा था। मनोऽभिराम जल सज्जनों के स्वान्त के सदृश नितान्त प्रसन्न था। इस दृश्य ने महर्षि वाल्मीकि के हृदय को लुभा लिया। उन्होंने स्नानसन्ध्या से निवृत्त होकर वन में ज्यों ही भ्रमण करना आरम्भ किया कि क्रौञ्ची के करुण स्वर ने उनकी दयादृष्टि अपनी ओर फेरी। उनके सामने क्रौञ्च का मृत शरीर रक्त मे लथपथ हो रहा था। महर्षि के कोमल चित्त में नैसर्गिकी करुणा का स्रोत प्रवाहित होने लगा—सुप्त करुणा सद्यः जाग्रत हो उठी। उनके मुख से यह वाग्वैखरी अकस्मात् प्रस्खलित हो चली—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्च-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

सम-अक्षरयुक्त चार पदों से मण्डित 'श्लोक' का जन्म हो गया । संस्कृत काव्य-कुमार की यही जन्मकथा है । महाकाव्य की भाविनी परम्परा का यही मूलस्रोत है । रसमय कविता के उदय की यही मनोरम ऐतिहासिक गाथा है । आनन्दवर्धन की सम्मति में यह रस कथमपि वाच्य नहीं हो सकता । ध्वनि के ही द्वारा इसकी अभिव्यक्ति हो सकती है । अतः रस या रसध्वनि को वे स्पष्ट ही काव्य की आत्मा मानते हैं । इस रस में सबसे आवश्यक वस्तु है औचित्य । वस्तु (कल्पना) तथा अलंकार (वाचिक शोभा) रस के केवल बाह्य परिधान है, वे रस की अपेक्षा गौण हैं तथा रस को पुष्ट करने के लिये ही काव्य में प्रयुक्त होते हैं और इस रसानुकूलता के कारण ही ये साहित्यशास्त्र में अपनी सत्ता बनाये हुए हैं—आनन्द ने इन्हीं शब्दों में वस्तु औचित्य तथा अलंकार औचित्य को चर्चा अपने ग्रन्थ में की है ।

(क) अलंकारौचित्य—अलंकार के स्वरूप पर ही पहले विचार कीजिए । अलंकार का स्वतः तो कोई भी मूल्य नही क्योंकि बाह्य आभूषणों की स्वतः महत्ता ही क्या हो सकती है ? अलकार्य (जिस वस्तु को अलंकार से सुशोभित किया ज य) के अस्तित्व पर ही अलंकार की सत्ता निर्भर है । जब अलंकार्य ही शून्य है, तब अलकार की सत्ता भित्तिरहित चित्र के समान नितान्त असभव है । काव्य में अलंकार्य वस्तु रस ही है । अतः रस तथा भाव आदि को पुष्ट करने के अभिप्राय से यदि अलंकारों का काव्य में विन्यास किया जाता है तो अलकार का अलंकारत्व सिद्ध होता है[1] । इन अलङ्कारो के औचित्य सम्पादन के लिये आनन्दवर्धन ने बड़े ही सुन्दर तथा उपादेय नियमों का उल्लेख किया है[2] । शब्दालकारों की रसानुरूपता प्रदर्शित करते

---

१ रसभावादि-तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलङ्कृतीना सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥
—ध्वन्यालोक ३।६

२ ध्वन्यालोक २।१५—२०

समय विप्रलम्भ जैसे कोमल रस के चित्रण के अवसर पर यमकालंकार के विधान को नितरा निन्दनीय अतएव सर्वथा वर्जनीय बतलाया है। आनन्द-वर्धन के इस सिद्धान्त का मौलिक रहस्य यह है कि कवि के द्वारा काव्य में निबद्ध वस्तु को रस का उन्मीलक अवश्य होना चाहिये।

काव्य में किसी भी वस्तु की उपादेयता तथा अनुपादेयता, संबद्धता और असंबद्धता, सुरूपता तथा कुरूपता, रस के पोषण तथा शोषण पर ही निर्भर है। रस की पोषणकारी वस्तु ग्राह्य है, परन्तु शोषणकारी वर्ज्य है। काव्य में अलंकारविधान का भी विशिष्ट कौशल है। अलंकारों को इतना स्वाभाविक होना चाहिए कि रसाकृष्ट कवि के किसी विशिष्ट प्रयास के बिना ही वे स्वतः आविर्भूत हो। वे बाह्य न होकर अभ्यन्तर हों, उनकी रचना के लिए न तो कवि को किसी प्रकार का पृथक् प्रयत्न करना पड़े और न उनका इतना चाकचिक्य हो कि पाठक प्रकृत रस के सौन्दर्य से हटकर उन्हीं के प्रभाव से आकृष्ट हो जाय। अलंकार के इस उचित सन्निवेश को आनन्द ने बड़े ही स्फुट शब्दो मे अभिव्यक्त किया है[१]:—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥

—ध्वन्यालोक २।१७

ऐसे स्वतः आविर्भूत यमक की सुषमा कालीदास की कविता मे विज्ञ आलोचक देख सकते हैं। वसन्त के समय उपवन की लताओं के किसलय पवन के झकोरे से मन्द-मन्द डोल रहे हैं, जान पड़ता है कि नर्तकियाँ अपने लययुक्त हाथों से दर्शकों का मनोरञ्जन कर रही हो। भौरों की मधुर

---

१ अलंकार के इस सौन्दर्य का वर्णन लाङ्गिनस (Longinus) ने भी किया है—A figure looks best when it escapes one's notice that it is a Figure. अलंकार वही सर्वोत्तम होता है जो 'यह अलंकार है' इसका ध्यान ही पाठक के सामने उपस्थित नहीं करता। पाठक का ध्यान वह अलंकारतया आकृष्ट नही करता, प्रत्युत कविता के साथ इतना घुल-मिल जाता है कि उसकी पृथक् सत्ता का भान ही नही होता।

झकार कानों को बड़ी सुखद मालूम हो रही है, खिले हुए फूल दाँतों के समान अपनी विशद शोभा दिखा रहे हैं:—

> श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
> उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥
>
> —रघुवंश ६ । ३५

इस पद्य के अन्तिम चरण में अनायास-सिद्ध यमक के द्वारा प्रकृत शृंगार रस का सर्वथा परिपोष हो रहा है। यह यमक दूषण न होकर भूषण रूप है। काव्य मे अलंकारों को रसमय विधान के लिए आनन्द ने पाँच व्यावहारिक नियमो का भी उल्लेख किया है[1]। ध्वन्यालोक का यह अंश क्षेमेन्द्र के अलंकारौचित्य का मूल आधार है।

(ख) **गुणौचित्य**—काव्य मे गुणों की संख्या भरत तथा दण्डी के अनुसार दस (१०) थी। परन्तु भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों को ही प्रधान रूप से माना है। मम्मट आदि पीछे के आलकारिकों ने उपर्युक्त तीन गुणों के भीतर प्राचीन दस गुणों का अन्तर्भाव सप्रमाण दिखलाया है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस से ही है। गुण धर्म है और रस धर्मी है। शृङ्गार, विप्रलम्भ और करुण रस के साथ माधुर्य गुण का प्रधान सम्बन्ध है। माधुर्य गुण में जो चित्त की द्रावकता पाई जाती है उसका उल्लिखित तीन रसो के साथ पूर्ण सामञ्जस्य है। रौद्र आदि रसों मे चित्त की दीप्ति का आविर्भाव होता है। प्रतीत होता है कि श्रोता या पाठक का चित्त रौद्र रस से युक्त वर्णनों के सुनने या पढ़ने से सद्यः उद्दीप्त हो उठता है। ऐसी दशा में शब्द की संघटना ऐसी होनी चाहिये कि प्रकृत गुण तथा रस के साथ उसका पूरी तरह से सामरस्य हो जाय। शृंगार जैसे कोमल तथा सुकुमार रस की अभिव्यञ्जना के लिये यह आवश्यक है कि कोमल तथा सुकुमार वर्ण सानुनासिक सयुक्त वर्णों के साथ काव्य में प्रयुक्त किये जाँय। रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिये परुष वर्णों का प्रयोग सुतरा समीचीन है। वर्णों का अपना एक विशिष्ट प्रभाव होता है। कुछ

---

१ ध्वन्यालोक पृ० ८८; कारिका १६-२०।

वर्ण स्वभाव से ही पेशलता के द्योतक होते हैं, तो अन्य वर्ण स्वतः परुषता प्रकट करते हैं। वर्णों की इस प्रकृति को ध्यान मे रखकर उनका काव्य में प्रयोग सर्वथा श्लाघनीय होता है। शृंगार रस में रेफ के साथ संयुक्त सकार और शकार तथा ढकार का अत्यधिक प्रयोग प्रकृत रसके विरोधी होने के कारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये वर्ण रस की हानि करने वाले हैं। परन्तु ये ही वर्ण बीभत्स आदि रस मे आवश्यक दीप्ति के प्रकट करने के कारण यदि रक्खे जाँय तो वे रस के उत्पादक होते हैं[१]। पहली दशा में यदि वर्ण आनन्द के शब्दों में 'रसच्युतः' (रस के हटाने वाले) होते हैं तो दूसरी अवस्था में ये ही वर्ण 'रसश्च्युतः' (रस के चुलाने वाले) होते हैं। उदाहरण के लिए महाकवि राजशेखर के इस प्राकृत पद्य पर दृष्टिपात कीजिए। कर्णकटु टकारों का इतना अधिक टकार है कि बिचारा विप्रलम्भ रस अपना अस्तित्व खोकर काव्य के कोने मे भी लिपटा नही दीख पड़ताः—

> चित्तं विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु,
> सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु।
> बोलम्मि वट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे,
> झाणे न टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी॥
>
> —कर्पूरमञ्जरी

अभिनवगुप्त के शब्दों मे यह वर्णध्वनि है। कुन्तक इसे वर्णवक्रता कहते हैं तथा क्षेमेन्द्र इसी को वर्णौचित्य के नाम से पुकारते हैं।

(ग) **संघटनौचित्य**—पदों की संघटना भी गुण तथा रस की द्योतिका होती है। संघटना का अर्थ पदो की सम्यक् घटना या रचना है। संघटना प्रायः

---

१ शषौ सरेफसयोगौ ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृंगारे तेन वर्णा रसच्युतः॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णाः रसश्च्युतः॥

ध्वन्यालोक ३।३-४

तीन प्रकार की होती है[1] (क) असमासा, (ख) मध्यम-समासा, (ग) दीर्घ-समासा। गुण का संघटना के साथ परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। आनन्दवर्धन ने संघटना को गुणों के आधार पर रहने वाली तथा रसों को अभिव्यञ्जन करने वाली बतलाया है[2]।

संघटना माधुर्य और ओज को प्रकट करके ही अपनी चरितार्थता सिद्ध करती है। और ये दोनों गुण विप्रलम्भ तथा रौद्र रसों की अभिव्यक्ति करते हैं। अतः संघटना के निवेश में चार वस्तुओं के औचित्य का विचार करना आवश्यक होता है। मुख्य तो रस का औचित्य ही होता है परन्तु उसके साथ तीन गौण पदार्थों के औचित्य पर भी दृष्टि रखनी होती है। ये तीन पदार्थ हैं—(क) वक्ता, (ख) वाच्य तथा (ग) विषय। वक्ता से अभिप्राय है काव्य अथवा नाटक के पात्र से। वाच्य का अर्थ प्रतिपाद्य विषय है तथा विषय से तात्पर्य है नाटक, महाकाव्य, गद्य, पद्य, चम्पू आदि काव्य-प्रकार। संघटना के चुनाव में इन चार विषयों के औचित्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। ध्वनिकार का यह दावा है कि संघटना के इस चतुरस्र औचित्य का विवेचन सर्वप्रथम उन्हीं की प्रतिभा का प्रसाद है[3]।

संघटना के संबन्ध में जिस विषयौचित्य का वर्णन ऊपर किया गया है उसका आनन्द ने बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। गद्य, पद्य, नाटक तथा महाकाव्य—इन काव्य प्रकारों की अपनी एक विशिष्टता है जिस

---

१ असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ-समासेति त्रिधा संघटनोदिता॥
—ध्वन्यालोक ३।५

२ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥
—ध्वन्यालोक ३।६

३ इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥
—ध्वन्यालोक पृ० १४४

पर ध्यान देने से संघटना का निवेश श्लाघनीय होता है। नाटक का मुख्य उद्देश्य दर्शकों के हृदय में इसकी अभिव्यक्ति ही है। अतः उस में दीर्घ समासवाली संघटना तथा शब्दाडम्बरवाले अलंकारों के प्रति कवि को कथमपि आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। क्योंकि इन बाह्य अङ्गो की बहुल सत्ता रस की झटिति प्रतीति में बाधा पहुँचाती है[१]।

इस विषयौचित्य की चर्चा भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में भी की है। नाटक सब वर्णों के मनोरञ्जन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। उसका उद्देश्य सर्वसाधारण जनता के हृदय को स्पर्श करना होता है। इसीलिये ऐसे शब्दो का प्रयोग होना चाहिये जो सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य हों[२]। कठोर शब्द तथा चेक्रीडित जैसे यङ्लुकन्त आदि अप्रचलित पदो का प्रयोग नाटक में उसी प्रकार हास्यास्पद होता है जिस प्रकार वेश्या के घर में कमण्डलु धारण करने वाले सन्यासी हँसी के पात्र होते हैं। भरत के इस विषयौचित्य का वर्णन आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया है।

---

१ एवं च दीर्घसमासा संघटना समासानामनेकप्रकारसंभावनया कदाचित् रसप्रतीति व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये।

—ध्वन्यालोक पृ० १३६

२ तदेवं लोकभावानां प्रसमीक्ष्य बलाबलम्।
मृदु शब्दं सुखार्थं च कविः कुर्यात्तु नाटकम्॥
चेक्रीडिताद्यैः शब्दैस्तु काव्यबन्धाः भवन्ति ये।
वेश्या इव न शोभन्ते, कमण्डलुधरैः द्विजैः॥

—नाट्यशास्त्र २१।१३१-३२

मृदुललितपदार्थं गूढ़शब्दार्थ—हीन,
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
भवति जगति योग्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्॥

—नाट्यशास्त्र १७।१२३

(घ) प्रबन्धध्वनि—आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध-ध्वनि के विवेचन के अवसर पर काव्य तथा नाटक के इतिवृत्त के स्वरूप के विषय में विस्तृत रूप से समीक्षा की है। इतिवृत्त साधारणतः दो प्रकार का होता है[1]—वृत्त (पुराण तथा इतिहास आदि में प्रख्यात) तथा उत्प्रेक्ष्य (कवि की कल्पना के द्वारा प्रसूत)। दोनों प्रकार के इतिवृत्तों में औचित्य का रहना नितान्त आवश्यक है। कथानक के सविधानक में कवि को सदा सचेष्ट रहना चाहिये कि वर्ण्य वस्तु प्रस्तुत रस के कथमपि विपरीत न हो। उसे उन्हीं घटनाओं को स्थान देना चाहिये जो सर्वथा औचित्यपूर्ण हो और यथाशक्ति रस का आविर्भाव करने में समर्थ हों। रसाभिव्यञ्जक होने में ही किसी कथा की कमनीयता है। कवि यदि किसी परम्परागत कथानक को अपनी रचना में निबद्ध कर रहा हो तो उसे परम्परानुकूल होने पर भी प्रस्तुत रस से प्रतिकूल अंशों का परिवर्तन करना नितान्त न्याय्य होगा[2]। यदि किसी कथानक में बहुत सी घटनाएँ सम्मिलित हों तो रसोन्मीलन करने वाली घटनाओं का ही विधान समुचित है। प्रबन्ध-ध्वनि को ही क्षेमेन्द्र ने प्रबन्धौचित्य की संज्ञा से अभिहित किया है तथा प्रकरण-ध्वनि को प्रकरण-औचित्य से।

---

१ विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥

२ इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्योऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥

ध्वन्यालोक ३।१०-११

कवि का यह कर्तव्य है कि वह अङ्गों का विस्तार उतनी ही मात्रा में करे जितनी मात्रा में वे काव्य के अङ्गीभूत रस की पुष्टि में समर्थ हों। नाटक तथा महाकाव्य दोनों में इस नियम के पालन की बड़ी ही आवश्यकता है। नाटक में प्रासङ्गिक वृत्त के रूप में प्रकरी तथा पताका का निवेश किया जाता है। महाकाव्य में भी अवान्तर रूप से प्रकृति—सन्ध्या, प्रभात, चन्द्रमा, सागर, पर्वत तथा विभिन्न ऋतु—के वर्णन का रहना आवश्यक ही है। परन्तु इन आवश्यक विषयों के वर्णन के समय कवि को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने मूल अर्थ से दूर हटकर कहीं अन्यत्र तो नहीं

जा रहा है। वर्णनो की उलझन में वह इतना तो नही फँस जाता कि वह प्रकृत वर्णन को ही भूल जाय। अङ्ग कभी अङ्गी का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। अङ्ग और अङ्गी में औचित्य होना चाहिये। आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है कि नाटक मे सन्धि तथा सन्धि के अङ्गों की घटना रसाभिव्यक्ति को लक्ष्य कर ही निबद्ध करनी चाहिये। केवल शास्त्र की मर्यादा की रक्षा के लिए उनका निबन्धन कथमपि युक्तियुक्त नही है[१]। आनन्द के बहुत पहले भट्ट लोल्लट ने भी महाकाव्य मे प्रयोजनीय वर्णनो की रसानुकूलता पर बड़ा जोर दिया है[२]। उनका कहना है कि अर्थ या विषय तो अनन्त हैं। रस-वाले ही अर्थ का निबन्धन युक्त है, नीरस का नहीं। अवसर के अनुसार बीच-बीच में कभी रस का उद्दीपन आवश्यक होता है और कभी उसका प्रशमन। शक्ति होने पर भी प्रबन्ध मे अलकारो की योजना आनुरूप्य के ही विचार से की जाती है।

प्रबन्ध-औचित्य के विषय मे आनन्दवर्धन के ये सिद्धान्त अत्यन्त मौलिक तथा मार्मिक हैं। इन नियमो का उल्लंघन हमें अनेक प्रकार के रस-दोषों में निमग्न कर देता है। इन रस-दोषों का वर्णन हेमचन्द्र तथा मम्मट ने अपने ग्रन्थों में बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। इन आलंकारिको की दृष्टि मे प्रबन्ध-औचित्य के भङ्ग होने से निम्नलिखित दोषो का प्रादुर्भाव काव्य मे होता है:—

(१) अङ्ग का अतिविस्तार से वर्णन—ऊपर हमने अङ्गी और अङ्ग के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा की है। अङ्गी का विस्तार से वर्णन होना तो आवश्यक ही है, परन्तु अङ्ग का अतिविस्तार से वर्णन अनौचित्यप्रयुक्त है। जैसे 'हयग्रीववध' महाकाव्य में अङ्गभूत हयग्रीव का विस्तृत वर्णन। 'शिशुपाल

---

१. सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलशास्त्रार्थस्थितिसम्पादनेच्छया॥

ध्वन्यालोक ३।१२

२ अस्तु नाम निःसीमा अर्थसार्थः।
किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तः, न तु नीरसस्य॥

का० मी० पृ० ४६

वध' काव्य में महाकवि माघ ने आरम्भ में ही विजयबीज के उपक्षेप से वीर रस के प्रकृत रस होने की सूचना दी है। परन्तु उन्होंने शृंगार के अङ्गभूत ऋतु, उपवन, विहार, पुष्पावचय, मज्जन, प्रभातवर्णन आदि वस्तुओं में जो अत्यन्त आसक्ति दिखलाई है वह प्रबन्धार्थ से विरुद्ध होने के कारण नितान्त चिन्तनीय है। हेमचन्द्र ने तो हर-विजय, कादम्बरी तथा हर्षचरित जैसे मान्य प्रबन्धों में भी इस दोष की सत्ता खोज निकाली है।

(२) अङ्गी का अननुसन्धान (प्रधान व्यक्ति को विस्मृत कर देना)—दर्शकों की रुचि की अभिवृद्धि के लिए कवि नाटक में नाना रुचिकर घटनाओं का सन्निवेश करता है। यदि वह स्थूल रूप से मूल कथानक का ही वर्णन करता है तो वह कृति कथमपि चमत्कृति-जनक नहीं होती। अतः अवान्तर घटनाओं के द्वारा मुख्य कथा-वस्तु की पुष्टि सर्वथा ग्राह्य होती है। परन्तु कभी कभी इन घटनाओं की इतनी प्रधानता हो जाती है कि प्रधान नायक विस्मृति के गर्त में चला जाता है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अङ्क में बाभ्रव्य के आगमन के वर्णन में कवि इतना आसक्त हो जाता है कि वह नाटक की नायिका सागरिका को ही भूल जाता है। हेमचन्द्र की यह उक्ति बड़ी ही मार्मिक है—अनुसन्धिर्हि सर्वस्वं सहृदयतायाः। अर्थात् प्रधान पात्र का सदा अनुसन्धान करते रहना ही सहृदयता का रहस्य है। उदाहरण के लिये—'तापसवत्सराज' नामक नाटक के छःहों अङ्कों में कथा के प्रभाव से वासवदत्ता-विषयक प्रेम के विच्छेद होने की आशंका होने पर भी कवि ने उसका सदा अनुसन्धान रखकर अपनी सहृदयता का पूर्ण परिचय दिया है[१]।

(३) अनङ्गस्याभिधानम् (अनङ्ग अर्थात् रस के अनुपकारक वस्तु का वर्णन करना)—नाटक में रस की उपकारक वस्तु का विन्यास ही परम आदरणीय होता है। उससे इतर जो कुछ भी वस्तु हो उसका वर्जन कवि का कर्तव्य होता है। यदि इस सिद्धान्त के मानने में वह भूल करता है तो

१—इस विषय के विशेष वर्णन के लिए देखिये—हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन', ३ अध्याय पृष्ठ १२१—२२ पर विवेक-टीका।

अपने ग्रन्थ को आलोचको की दृष्टि में नितान्त हेय बनाता है। जैसे 'कर्पूरीमञ्जरी' मे राजा नायिका के तथा स्वय किये गये वसन्त-वर्णन का अनादर करके बन्दियो के द्वारा वर्णित वसन्त की प्रशंसा करता है; यह सर्वथा अनुचित है।

(४) प्रकृति व्यत्यय (प्रकृति का परिवर्तन कर देना)—यहाँ प्रकृति शब्द से अभिप्राय नाटक के मुख्य पात्र से है। आलङ्कारिकों ने स्वभाव के अनुसार नायक को अनेक श्रेणियों मे विभक्त किया है—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोद्धत। इनका श्रेणी-विभाग दूसरे प्रकार से भी होता है—उत्तम, मध्यम, अधम अथवा दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य। नाटक में वर्णित प्रत्येक घटना नायक के स्वभाव, देश, काल आदि के सर्वथा अनुरूप होनी चाहिये। कवि का मुख्य उद्देश्य दर्शकों के सामने यथार्थ वर्णन प्रस्तुत कर मनोरंजन के साथ शिक्षाप्रदान करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसके वर्णनों मे, पात्रों के चरित्र-विन्यास में यथार्थता का पुट रहना सर्वथा आवश्यक है। वास्तविकता से रहित वस्तुओं का वर्णन पढ़कर तथा रङ्गमञ्च पर अयथार्थ घटनाओं का अभिनय देखकर पाठक तथा दर्शक के हृदय में कवि या नाटककार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है कि वह किसी स्वप्नलोक की घटना का अभिनयकर अपने कथानक को असत्य प्रमाणित करता है। उसका परिणाम बड़ा ही बुरा होता है। कवि के उद्देश्य की पूर्ति तो दूर रहे, प्रत्युत इससे अनभीष्ट परिणाम की उत्पत्ति होती है। इसीलिए प्रकृति-विपर्यय बड़ा ही व्यापक तथा घातक दोष है। आलोचना के आदि आचार्य भरतमुनि ने ही सब से पहले प्रकृति के विषय में विविध प्रकार से औचित्य का निर्देश किया है। हमने इस परिच्छेद के आरम्भ मे ही दिखलाया है कि औचित्य के सिद्धान्त की यही उद्गम-भूमि है। आनन्दवर्धन ने भी प्रकृति के औचित्य पर बड़ा ही जोर दिया है। उन्होंने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में प्रकृति के औचित्य और अनौचित्य के विवेक की सीमा बड़ी ही मार्मिकता के साथ दिखलाई है। इसी प्रसंग में उन्होंने अपने उस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो औचित्य तत्त्व का सुन्दरतम तथा उपादेयतम सिद्धमन्त्र है। औचित्य सिद्धान्त का विशाल प्रासाद इसी तथ्य की दृढ़ भित्ति पर खड़ा है —

"अनौचित्याद् ऋते नान्यत्, रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा ॥"

अनौचित्य ही रस के नाश का सब से बडा कारण है और औचित्य का समावेश ही रस का परम-गुह्य रहस्य है। बाद के आलंकारिकों ने औचित्य के सिद्धान्त की जितनी व्याख्या की है वह सब इसी मूलसूत्र का भाष्यमात्र है।

प्रबन्ध मे औचित्य दिखालाने के अनन्तर आनन्दवर्धन ने क्रिया, कारक, वचन आदि वाक्य के अनेक अङ्गों मे भी इस तत्त्व की व्यापकता का वर्णन किया है। कवि का यह कर्तव्य है कि वह भाषा के माध्यम के द्वारा प्रकट किये जाने वाले वाक्य तथा पदो के सौन्दर्य तथा आनुरूप्य पर सदा सचेष्ट रहे। भाषा के अवान्तर उपाङ्गों के द्वारा भी रस का उन्मीलन पर्याप्त मात्रा में किया जा सकता है। इस विषय मे उसे सदा जागरूक रहना चाहिये। यदि किसी शब्द की शय्या उसे इस कार्य मे सहायता दे तो उसे इसे झट ग्रहण करना चाहिये। यदि कर्मवाच्य के द्वारा रस की झटिति प्रतीति हो तो उसे अपने ग्रन्थ मे समुचित स्थान देना चाहिये। आनन्दवर्धन का मौलिक कथन है कि भाव-साम्राज्य की अभिव्यक्ति के निमित्त भाषा का माध्यम अशक्त है; तथापि समर्थ कवि कविता मे औचित्य का प्रयोगकर रस के उद्रेक में सर्वथा कृतकार्य हो सकता है। इसके लिए उसे छोटी-छोटी बातों की भी अवहेलना न करनी चाहिये। वाक्य के पदों तथा पदार्थों मे प्रयुक्त भी औचित्य सौन्दर्य का इतना उन्मीलन कर सकता है जितना अभिधा शक्ति के द्वारा प्रकट किये अनेक वाक्य भी नही कर सकते। यदि सुप्, तिङ्, वचन, कारक आदि अभिव्यञ्जक हों तो वे सर्वथा उचित हैं—

"सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैः, तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च, द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥"

ध्वन्यालोक, अध्याय ३।१६

ध्वन्यालोक के इसी अंश को अवलम्बितकर क्षेमेन्द्र ने क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, समास, आदि के औचित्य की कल्पना अपने ग्रन्थ में की है।

(ङ) रीत्यौचित्य—ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में आनन्दवर्धन ने रीति तथा वृत्ति के औचित्य पर भी दृष्टिपात किया है। वे कहते हैं कि भरत मुनि के द्वारा प्रदर्शित कैशिकी आदि वृत्ति अथवा उपनागरिका आदि अलंकार-जातियाँ अनौचित्य रूप से काव्य में निबद्ध की गई हों तो वे भी रसभङ्ग का कारण बनती हैं[1]। रसदोषों में आनन्द ने वृत्त-अनौचित्य का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मे कैशिकी, सात्वती, भारती तथा आरभटी नामक चार वृत्तियों तथा उनके विधानों का विशेषरूप से जो प्रतिपादन किया है वह भी औचित्य की सीमा के भीतर निबद्ध होने पर ही नाटक मे चमत्कारजनक हो सकता है। नायक के स्वभाव तथा चरित्र के अनुरूप ही वृत्तियों का विन्यास करना नाटककार की कला की कसौटी है। यदि नायक के चरित्र मे उग्रता की मात्रा हो, संग्राम तथा आक्रमण के प्रति आसक्ति हो, माया तथा इन्द्रजाल की ओर उसका पक्षपात हो, तो ऐसी परिस्थिति में कोमल भावों को उद्दीपन करने वाली कैशिकी वृत्ति का विधान क्या कथमपि श्लाघनीय होगा? अथवा यदि नायक स्वभाव से ही कोमल कला की ओर प्रवण हो, अपनी चिन्ता का बोझ अपने मन्त्री के सिर पर रखकर स्वयं आनन्द से उल्लसित जीवन का यापन करता हो तो क्या उसके लिए आरभटी वृत्ति का प्रयोग कथमपि सुसंगत होगा? वृत्ति का औचित्य कविता का सर्वस्व है। इसके विषय में आनन्दवर्धन का यह कथन नितान्त युक्ति-युक्त है:—

रसाद्यनुगुणत्वेन, व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एव, वृत्तयो द्विविधाः स्मृताः॥

ध्वन्यालोक ३।३३

रस आदि के अनुगुण होने पर ही काव्य में शब्द और अर्थ का व्यवहार औचित्यसम्पन्न माना जा सकता है। रस ही काव्य की आत्मा ठहरा, अतएव रस का उन्मेष ही शब्दार्थप्रयोग का अन्तिम लक्ष्य है, इसकी सिद्धि

१ यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालकारान्तर-प्रसिद्धानां उपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुः।

ध्वन्यालोक, उद्योत ३, पृ० १६३

होने पर ही शब्दार्थ-युगल की सार्थकता है। रससे अनुचित शब्द श्रवण-सुखद होने पर भी काव्य में चमत्कारजनक नही होते और न अर्थ ही श्लाघनीय माने जा सकते हैं।

(च) रसौचित्य—ध्वन्यालोक का मुख्य विषय ही है—ध्वनि और विशेषतः रसध्वनि का विवेचन। अतएव आनन्द को विविध उपायो से रस के औचित्य का सम्पादन करते देख हमें आश्चर्य नही होता। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत मे ग्रन्थकार ने इसकी समीक्षा बड़े विस्तार के साथ की है। मुख्य रस का विवेचन किस प्रकार से होना चाहिये ? अङ्ग (अवान्तर या गौण) रस किस प्रकार मुख्य रस को विकसित करते हैं ? रसों मे पारस्परिक विरोध किस प्रकार होता है ? कौन रस किस रस के साथ किस विधि से निबद्ध होने पर अपनी विरुद्धता का परिमार्जन करता है—रसौचित्यविषयक इन मार्मिक सिद्धान्तो का समीक्षण आनन्दवर्धन ने साहित्यशास्त्र के इतिहास मे पहली बार किया है और बड़े ही सागोपाग रूप से किया है। रस के इस औचित्य के निराकरण से जो रसदोष उत्पन्न होते हैं वे काव्य मे प्रधान दोष के नाम से उल्लिखित किये जाते हैं। काव्य में रसदोष की प्रथम अवतारणा रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' मे की है। इस रसदोष का नाम है—**विरस**। रुद्रट ने विरस के दो प्रकार बतलाये हैं। अन्य रस के प्रसङ्ग में जहाँ पर क्रम से हीन दूसरा रस मुख्य रस के प्रवाह मे स्वतः निपतित हो जाय वह प्रथम प्रकार का विरस है[1]। इस विरस दोष के भीतर आनन्दवर्धन के द्वारा उल्लिखित विरुद्ध-रस-समावेश नामक दोष का अन्तर्भाव भली-भाँति किया जा सकता है[2]। रुद्रट ने इस दोष के उदाहरण में करुण तथा शृङ्गार का एकत्र मिश्रण प्रदर्शित किया है[3]। वे अन्य प्रकार का भी विरस मानते हैं। प्रबन्धों मे

---

१ अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेत् रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यक् ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः॥
रुद्रट-का० अ० ११।१२

२ ध्वन्यालोक पृ० १६४—१७०

३ तव वनवासोऽनुचितः पितृमरणशुचं विमुञ्च किं तपसा।
सफलय यौवनमेतत् सममनुरक्तेन सुतनु मया॥
—रुद्रट - का० अ० ११।१३

मे उचित अवसर पर निविष्ट किया गया भी रस यदि अत्यन्त वृद्धि प्राप्त कर ले तो वह सहृदयो के वैरस्य का कारण होता है[1]। रुद्रट यह **विरस** नामक रसदोष ध्वन्यालोक में **'रसस्य पुनः पुनः दीप्तिः'** नाम से गृहीत हुआ है। रुद्रट के अनन्तर रुद्रभट्ट ने भी रसके अनौचि से उत्पन्न होने वाले दोषों की चर्चा अपने ग्रन्थ मे की है। रुद्रभट्ट रसदोषों मे दो दोष ऐसे हैं जो रुद्रट के पूर्वलिखित विरस दोष के द्वि प्रकारो के अन्तर्भुक्त होते हैं। ये दोष हैं—विरस और नीरस विरस दोष तो रुद्रट के विरस दोष का प्रथम प्रकार है और नीरस द रुद्रट के रसदोष का द्वितीय प्रकार है। इन कतिपय सूचनाओं को ग्रह करके आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ मे रसदोष के प्रकारों का विस्तृत विवेच किया है[2]। इस प्रकार रस के अनौचित्य से सभूत नाना प्रकार के रसदो का विवेचनकर आनन्दवर्धन ने औचित्य की सीमा का निर्धारण ब ही सुन्दर रीति से किया है।

ध्वन्यालोक की इस समीक्षा से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। औचित्य के सिद्धान्त को एक व्यापक काव्यतत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित कर का समग्र श्रेय आनन्दवर्धन को ही मिलना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने तो ए प्रकार से उन्ही की आलोचना का अध्ययनकर केवल नवीन अभिधा देने का ही प्रयत्न किया है। आनन्दवर्धन के शब्दो में औचित्य ही र का परमगूढ़ रहस्य है और अनौचित्य काव्य का परमदोष है। इस विष का साङ्गोपाङ्ग वर्णनकर आनन्द ने यह सिद्ध कर दिया है कि काव्य

---

१ यः सावसरोऽपि रसो निरन्तर नीयते प्रबन्धेषु।
अतिमहती वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति॥

रुद्रट—का० अ० ११।१

२ ध्वन्यालोक ३।१७—१६

आनन्द के इन्ही दोषों का वर्णन हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन तृतीय अध्याय मे, मम्मट ने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास मे तथा विश्वना कविराज ने साहित्यदर्पण के सप्तम परिच्छेद में विशेष रूप से किया है

छोटी-सी छोटी घटना से लेकर बड़ी-सी बड़ी घटना तक में, छोटे छोटे पदो से लेकर बड़े बड़े वाक्यों तक में सर्वत्र औचित्य का साम्राज्य विराजमान है। अतः वाच्य और वाचक की औचित्ययुक्त योजना कवि का मुख्य प्रयोजन है। इस कार्य से बढकर कवि के लिए और कोई कर्तव्य नही है। इस प्रकार ध्वन्यालोककार ने औचित्य के सिद्धान्त तथा व्यवहार का एक ही प्रकरण में पूर्ण सामञ्जस्य दिखलाया है।

अनौचित्याद् ऋते नान्यत्, रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

यदि यह उपर्युक्त श्लोक औचित्य के सिद्धान्त का मूलमन्त्र है तो निम्नलिखत श्लोक—

वाच्यानां वाचकानाञ्च यद् औचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः ॥

ध्वन्या० ३।३२

औचित्य के व्यवहार का प्राणभूत है। यदि पहला औचित्य के सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादक है तो दूसरा उसके व्यवहार—पक्ष का निदर्शक है। इन्ही दोनों श्लोको मे औचित्य का मर्म तथा उसका तत्त्वज्ञान सन्निविष्ट है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त का नाम औचित्य के इतिहास में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे औचित्य-सिद्धान्त के व्यवस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य के भाष्यकार हैं तथा औचित्य को काव्य के 'जीवित' रूप से प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य क्षेमेन्द्र के वे साहित्य गुरु हैं। आनन्द ने ध्वन्यालोक में औचित्य के पोषक जिन तथ्यो तथा तर्कों का उल्लेख किया है उनके मर्म को समझने के लिए अभिनवगुप्त की 'लोचन' नामक टीका सचमुच विद्वानों के लोचन का उन्मीलन करती है।

आनन्द के द्वारा वर्णित अलकार-औचित्य के विषय में अभिनवगुप्त का यह विवेचन सचमुच ही बड़ा मार्मिक है। काव्य में अलंकार की दो अवस्थाओं में उपयोगिता होती है:—(१) जब किसी अलंकार्य की सत्ता

उसमें विद्यमान हो अथवा (२) अलंकार्य का औचित्य प्रस्तुत हो। शरीर मे आत्मा के विद्यमान रहने पर ही आभूषणों से शोभा का विस्तार किया जाता है। परन्तु यदि आत्मा ही विद्यमान न हो तो बाहरी सजावट मृतक शरीर को भूषित करने वाले प्रसाधन के समान है, यह हुई पहिली अवस्था। जीवित शरीर का भी प्रसाधन किन्हीं अवस्थाओं में शोभाधायक नही होता, जैसे संसार में वैराग्य धारण करने वाले तापस के शरीर को सोने के गहनों से भूषित करना नितान्त अनुचित होने से उपहास्यास्पद है। यहाँ अलंकार्य की सत्ता होने पर भी वह अनौचित्य की भावना से मण्डित है, यह हुई दूसरी अवस्था। इस प्रकार अभिनवगुप्त की सम्मति मे काव्य के प्राणभूत रसके अभाव में अलंकारों का अलंकारत्व कथमपि सिद्ध नही होता[१]। इसी प्रकार रसौचित्य (रस के औचित्य) के विषय मे अभिनव का कहना है कि काव्य मे यह औचित्य तभी हो सकता है जब इसके अंगभूत विभाव, अनुभाव का भी औचित्य सम्पादित हो।

'लोचन' के गाढ़ अनुशीलन करने से आलोचक औचित्य के सच्चे रूप को समझने में समर्थ होता है। जान पड़ता है कि बहुत प्राचीन काल से ही काश्मीरी कवियो को गोष्ठी मे वक्रोक्ति के समान औचित्य भी व्यापक काव्य-तत्त्व के रूप मे आविर्भूत हो चुका था। अलकार के परिशीलन से वक्रोक्ति की उत्पत्ति हुई और रसध्वनि के अध्ययन से औचित्य का उदय हुआ। आनन्दवर्धन तो इसके प्रतिष्ठापक ही ठहरे। ध्वन्यालोक मे इन्होंने औचित्य के स्वरूप का इतने साङ्गोपाङ्ग रूप से उन्मीलन किया है कि अनेक आलोचकों की दृष्टि रस से हटकर औचित्य पर जा जमी। वे लोग काव्य मे रस के महत्त्व को न मानकर औचित्य को ही काव्य की आत्मा उद्घोषित करने लगे। ऐसे आलोचकों की अभिनव ने बड़ी मार्मिक समीक्षा की है। उनका कथन है कि मूल आधार को बिना समझे केवल औचित्य शब्द का

---

१ तथा ह्यचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्य अनौचित्यात्। लोचन पृ० ७५ (निर्णयसागर)।

प्रयोग नितान्त अनुचित हैं। औचित्य का तात्पर्य तभी बोधगम्य हो सकता है, जब जिसके प्रति इसे उचित बतलाया जाय वह वस्तु भी विद्यमान हो। औचित्य तो एक सम्बन्धविशेष ठहरा और उस वस्तु का ज्ञान हमें प्रथमतः अपेक्षित है जिसके साथ यह सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। यह आवश्यक वस्तु रस ही है। बिना रस के औचित्य की सत्ता अपना कोई मूल्य नहीं रखती।

रसध्वनि के साथ औचित्य का गाढ़ मौलिक सम्बन्ध है। इसका निर्देश अभिनव ने एक दूसरे स्थल पर स्पष्ट शब्दों किया है[१]। वे उन आलोचकों की खिल्ली उड़ाने से विरत नहीं होते, जो औचित्य से सम्पन्न सुन्दर, शब्दार्थ-युगल को काव्य के महनीय नाम से पुकारते हैं। औचित्य को रसहीन काव्य का जीवित मानने का सिद्धान्त कथमपि श्लाघनीय नहीं है। 'औचित्य' का मूल आश्रय है काव्य में रस, भाव आदि की सत्ता। बिना मूल का निर्देश किये औचित्य को काव्यजीवातु मानने का अर्थ है मूल को छोड़कर पल्लव का आश्रय-ग्रहण। ये बेचारे आलोचक अपने ही सिध्दान्तों के विरोध को समझ नहीं सकते! 'औचित्य' सदा ही रसध्वनि के ऊपर आश्रित रहता है। रस-ध्वनि का अर्थ है—रस की अभिव्यञ्जना। बिना इसके औचित्य का काव्य में निर्वाह ही नहीं हो सकता। काव्य में किसी अलकार को हम तभी उचित मान सकते हैं जब वह भावादिकों को भली-भाँति अभिव्यक्त करे। काव्य में गुणों के औचित्य का तात्पर्य यही है कि उनके द्वारा रस का उन्मीलन सद्यः होता है। तथ्य बात तो यह है कि रस, ध्वनि और औचित्य एक ही काव्य-तत्त्व के आधाररूप तीन पाद हैं। काव्य की आत्मा रस है और यह रस ध्वनिरूप में काव्य मे उन्मीलित होता है तथा 'औचित्य' के अस्तित्व में ही रस की सत्ता है। इस प्रकार रस और ध्वनि के साथ औचित्य के सम्बन्ध को प्रौढ़ रीति से स्थिर करने के कारण अभिनवगुप्त की महत्ता साहित्य-शास्त्र सदा स्वीकार करेगा।

---

१ औचित्यवती (अतिशयोक्तिः) जीवितमिति चेत्, औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत् किञ्चिदस्ति इति। तदेवान्तर्भासि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं, न तु सा। एतेन यदाहुः केचित्, "औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येन ध्वनिना आत्मभूतेन कल्पितेन" इति स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगमसाक्षिभूतं मन्यमानाः प्रत्युक्ताः। —लोचन पृ० २०८

भोजराज

भोजराज ने अलंकारशास्त्र में नितान्त बृहदाकार ग्रन्थो की रचनाकर विशेष कीर्ति प्राप्त की है, परन्तु न तो 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में और न 'शृंगार-प्रकाश' में उन्हो ने औचित्य को स्वतन्त्र काव्यतथ्य के रूप में अङ्गीकृत किया है। परन्तु औचित्य का सिद्धान्त उनके समीक्षण में गौणरूप से विद्यमान है; यह हम निःसन्देह कह सकते हैं। दोष, गुण तथा अलकार के वर्णनप्रसङ्ग में ऐसे अनेक भेद बतलाये गये हैं जिनका मूल आधार यही 'औचित्य' ही है।

(१) भोज 'अपद' नामक एक स्वतन्त्र दोष मानते हैं[१]। इनके मत में पद छः प्रकार के होते हैं—प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर, ग्राम्य, नागर तथा उपनागर। रत्नेश्वर ने अपनी टीका मे इन शब्दों की व्याख्या उदाहरण के साथ विस्तार से की है। काव्य या नाटक मे वक्ता के अनुरूप ही उसके पद या शब्द होने चाहिये। ग्रामीण वक्ता जिस प्रकार के ग्राम्य पदो का प्रयोग अपने भाषण में करता है उसी प्रकार का प्रयोग नागर वक्ता के द्वारा नितान्त अरुचिकर है। ऐसा दोष 'अपद' कहलाता है। वक्ता के अनुरूप तथा उचित पदावली का प्रयोग ही काव्य या नाटक मे यथार्थता की भावना को प्रबल करता है। भरत तथा राजशेखर ही इस तत्त्व के समर्थन नहीं हैं[२], प्रत्युत ग्रीक आलोचक अरस्तू की दृष्टि मे भी यही तत्त्व समधिक महत्त्व रखता है[३]।

(२) वाक्यार्थ-दोषों मे भोज ने 'विरस' नामक दोष का उल्लेख किया है। विरस-दोष को वे अप्रस्तुत रस के नाम से पुकारते हैं जो रस के

---

१ विभिन्न प्रकृतिस्थादि पदयुक्त्यपद विदुः।

—सर० कण्ठा० १। २४

२ यतो नाटकादौ ईश्वरादीना देवाना च प्रवेशे तच्छायावन्ति वाक्यानि विधेयानीति दिव्यम्—काव्यमीमासा, पृ० ३०।

3 If then one expresses himself in the language appropriate to the habit, he will produce the effect of being characteristic; for, a rustic and a man of education will express themselves neither in the same words, nor in the same manner

—Aristotle's Rhetoric.

अनौचित्य का एक प्रकार है[1]। रत्नेश्वर ने इस स्थल पर आनन्दवर्धन के सुप्रसिद्ध श्लोक 'अनौचित्यादृते नान्यत्' को उद्धृत किया है।

(३) 'विरुद्ध' नामक दोष अनौचित्य के ऊपर ही अवलम्बित है। इसके अनेक प्रभेद हैं:—

(क) देशविरोध (ख) कालविरोध (ग) लोकविरोध (घ) अनुमान विरोध आदि। अनुमानविरोध के अन्तर्गत औचित्य-विरुद्ध नामक एक नवीन दोष की कल्पना भोज ने की है[2]। इसके उदाहरण मे उन्होंने एक प्राकृत गाथा दी है जिसकी संस्कृत छाया नीचे दी जाती है[3]।

"पट्टांशुकोत्तरीयेण पामरः पामर्या प्रोञ्छति।
अतिगुरुककूरकुम्भीभरेण स्वेदार्द्रितं वदनम् ॥"

अत्र पामरस्य पट्टांशुकोत्तरीयाभरणानौचित्याद् औचित्य-विरुद्धमेतत्।

इस श्लोक का भाव यह है कि अत्यन्त भारी भात से भरे हुए भारी घड़े को ढोने वाली ग्रामीण सुन्दरी को पसीने से लथपथ देखकर उसका प्रियतम उसके मुख को अपनी रेशमी चादर से पोंछ रहा है। यहा पर गँवई के आदमी के द्वारा रेशमी चादर से अपनी स्त्री का मुँह पोंछना नितान्त अनुचित है। रेशमी वस्त्र का वर्णन शहरी लोगों के शृंगार और सजावट के लिए ही उपयुक्त है। गँवई के आदमी को रेशमी चादर ओढ़ने की यह चाट कैसी?

(४) भोज ने 'भाविक' नामक जो शब्दगुण का वर्णन किया है उसमे भी हम इसी औचित्य को आधारभूत तत्त्व के रूप मे पाते हैं। भोज ने उदाहरण के लिए यह पद्य दिया है:—

एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र !,
चुम्बामि मूर्धनि चिरं च परिष्वजे त्वाम्।

---

१ सरस्वती-कण्ठाभरण १।५०

२ युक्ति-औचित्य प्रतिज्ञादिकृतो यस्त्विह कश्चन।
अनुमानविरोधः स कविमुख्यैर्निगद्यते ॥

३ सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ४० (निर्णयसागर)

आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि,
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥
—(सर० कण्ठ० १।७५)

हे वत्स, पूर्णचन्द्र, रघुनंन्दन आओ आओ। मैं तुह्मारे मस्तक को चुम्बन करूँगा और तुम्हे देर तक आलिंगन करूँगा अथवा अपनी छाती से लगाकर तुम्हे दिन रात धारण करूँगा। अथवा तुह्मारे कमल के समान सुन्दर दोनों चरणों की वन्दना करूँगा। इस पर भोज की उक्ति है कि आनन्दातिरेक के कारण वयोवृद्ध व्यक्ति के द्वारा अपने से छोटे व्यक्ति के पैर की वन्दना भी अनुचित नही समझी जाती। औचित्य भी दो प्रकार का होता है। लघु औचित्य और व्यापक औचित्य। छोटे औचित्य मे साधारण लौकिक व्यवहार के विरोध का परिहार रहता है, परन्तु व्यापक औचित्य की दृष्टि से इस लौकिक औचित्य का विरोध भी कभी-कभी श्लाघनीय ही होता है। लौकिक दृष्टि से वयोवृद्ध पुरुष का अपने से छोटे व्यक्ति की चरण-वन्दना सचमुच अनुचित है, परन्तु रसावेश मे यह आचरण निन्द्य न होकर श्लाघनीय ही होता है।

(५) भोज ने प्राचीन आलकारिकों—विशेषकर रुद्रट—के आधार पर उन अवस्थाओ का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है जब दोष भी अपने दोषत्व से मुक्त हो जाता है अथवा वह गुणरूप में परिणत हो जाता है। इसको भोज ने 'वैशेषिकगुण' तथा 'दोषगुण' नाम दिया है। भोज ने स्वीकार किया है कि औचित्य के कारण ही कविकौशल से किन्ही अवस्थाओं में दोष अपने दोषत्व को छोड़कर गुण की वीथी मे विराजने लगता है। अपार्थ सचमुच दोष है, क्योंकि इसमे वाक्य का समुदायार्थ नही रहता। परन्तु[१] मतवाले, पागल, बालकों की उक्तियों मे यह दोष नही माना जा सकता, क्योंकि यहा औचित्य का कथमपि परिहार नहीं होता।

१ विरोधः सकलेष्वेव कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणना गुणवीथी विगाहते ॥ १।१५६
समुदायार्थशून्य यत् अपार्थं प्रचक्षते।
तन्मत्तोन्मत्तबालाना मुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥ १।१३६

(६) भोजराज ने अलङ्कार-प्रकरण मे भी औचित्य के तत्त्व पर आश्रित होने वाले अनेक अलकारों का वर्णन किया है। उन्होंने शब्दालकार के आरभ मे ही 'जाति'नामक अलंकार का निर्देश किया है। शब्दालंकार रूप यह 'जाति' क्या है? यह जाति है विभिन्न भाषाओं--संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश का विशिष्ट प्रकार, जिसका उचित अवसरों पर उचित प्रयोग कविकौशल का प्रधान निदर्शन है। भोज का यह कथन नितान्त उचित है कि अवसर-विशेष पर तथा वस्तुविशेष के लिए तदनुरूप भाषा का प्रयोग करना चाहिये। विषय, वक्ता, देश और काल के औचित्य पर दृष्टि रखकर ही भाषा का प्रयोग कवि के लिए सर्वथा समीचीन होता है। अवसरविशेष पर ही विभिन्न भाषाओ का चमत्कार सहृदयों के हृदय को आनन्दित करता है। उदाहरण के लिए यज्ञ के समान पवित्र अवसरों पर संस्कृत भाषा का ही प्रयोग न्याय्य है। स्त्रियो के मुख से प्राकृत भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग नही करना चाहिये। उच्च वंश वाले व्यक्तियों के लिए संकीर्ण भाषा का प्रयोग उनके गौरव से हीन होने के कारण अनुचित है। अपठित पुरुषो को समझाने के लिए संस्कृत भाषा मे भाषण करना नितान्त हास्यास्पद है[१]। भाषा के प्रयोग में वाच्य (प्रतिपाद्य विषय) का भी औचित्य होता है। इसीलिए भोज ने लिखा है कि कोई अर्थ सस्कृत के ही द्वारा प्रतिपाद्य हो सकता है, तो कोई प्राकृत के द्वारा और कोई अपभ्रंश के द्वारा[२]। नाटकों में पात्रों के अनुरूप भाषा-विधान इसी जाति-शब्दालकार के अन्तर्गत आता है। भोज के अनुसार यह 'वक्तृ-औचित्य' होगा। औचित्य पर दृष्टि रखकर ही भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के अठाहरवे अध्याय में भाषाविधान का वर्णन किया है। भरत का यह समग्र भाषा-विधान

---

१ न म्लेच्छितव्य यज्ञादौ, स्त्रीषु नाप्राकृत वदेत्।
संकीर्णं नाभिजातेषु, नाप्रबुद्धेषु सस्कृम्॥ २। ८

२ सस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः, प्राकृतेनैव वाऽपरः।
शक्यो रचयितुं कश्चित्, अपभ्रशेन जायते॥ २। १०

भोज के इस व्यापक 'जाति' नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत आ जाता है। जाति को अलंकार मानने का कारण यही औचित्य ही है[1]।

'शृङ्गार-प्रकाश' के ग्यारहवें परिच्छेद में भोज ने भाषा के इस औचित्य को महत्त्वपूर्ण बतलाया है। यहाँ वे इसे प्रबन्ध का उभयगुण बतलाते हैं। इस गुण का नाम 'पात्रानुरूपभाषात्व' रखा है। पात्रो के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग काव्य जगत् का सर्वस्व है। इस गुण के उदाहरण मे भोज ने स्पष्ट ही लिखा है कि उत्तम पात्र संस्कृत भाषा का प्रयोग करे और अधम पात्र प्राकृत में बोले।

(७) भोज का दूसरा शब्दालंकार भी इसी औचित्य के सिद्धान्त का अभिव्यक्त निदर्शन है। इस शब्दालंकार का नाम है 'गति'। यह गति गद्य, पद्य तथा चम्पू और छन्द औचित्य के ऊपर अवलम्बित रहता है। भोज की व्यापक दृष्टि इस अलकार के उद्भावन में जागरूक है। कौन भाव गद्य या पद्य के किस माध्यम द्वारा उचित रीति से अभिव्यक्त किया जाय? यह सहृदय कवि की कला का रहस्य है।

तर्क तथा युक्ति का यथार्थ उपन्यास गद्य के ही द्वारा होता है। गद्य शास्त्रीय प्रौढ़ विचार के प्रकटीकरण का उचित माध्यम है। इसलिए शास्त्र मे गद्य का साम्राज्य विराजमान है—**शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्**। चम्पू में, जहाँ गद्य-पद्य का मिश्रण रहता है, वस्तु के वर्णन के निमित्त गद्य का ही विन्यास रुचिकर होता है। समासबहुल गद्य के द्वारा विविधरूपसम्पन्न वस्तु का जो समूहालम्बनात्मक रूप विन्यस्त किया जाता है उसके सौन्दर्य की

---

१ तत्र संस्कृतमित्यादिर्भारती जातिरिष्यते।
सा त्वौचित्यादिभिर्वाचामलंकाराय जायते॥

सर० कण्ठा० २।६

नन्ववश्यं शब्देन संस्कृताद्यन्यतमेन भवितव्यम्। तत्कोऽत्र कवेः शक्तिव्युत्पत्त्योरंशो येनालंकारता स्यादित्यत आह—सेति। औचित्याकृष्ट एवालंकारोऽस्ति च संस्कृतादेरपि तथाभाव इति भावः॥

रत्नेश्वर

रक्षा करने मे पद्य नितान्त असमर्थ है। पद्य का अपना विशिष्ट क्षेत्र है। हृदय क कोमल भावनाओं की अभिव्यञ्जना पद्य का सुकुमार माध्यम ही यथार्थतः कर सकता है। इसीलिए हृदय के कोमल भावो की अभिव्यक्ति के लिए कविजन पद्य का माध्यम स्वीकार करते हैं। इस विषय के निर्णय करने मे अर्थ का औचित्य ही भोज की दृष्टि मे प्रधान कारण है[१]।

माध्यम के औचित्य के समान कवि को अपने भावो की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट छन्दों का चुनाव करना पड़ता है। छन्दों की भी अपनी विशिष्ट प्रकृति होती है। वस्तु-विशेष के वर्णन के लिए विशिष्ट छन्द का प्रयोग किया जाता है। भोज इसे प्रबन्धका उभयगुण स्वीकार करते हैं। इसकी विशिष्ट संज्ञा है—**'अर्थानुरूपछन्दस्त्व'**। इसके उदाहरण मे उन्होंने शृङ्गार रस के वर्णन मे द्रुत विलम्बित छन्द, वीर मे वसन्ततिलका, करुण में वैतालीय, रौद्र मे स्रग्धरा तथा सब रसों से शार्दूल विक्रीडित का प्रयोग न्याय्य माना है।

(८) भोज ने सामान्य रूप से प्रबन्ध के दोषों के अपाकरण की बात कही है। यह अपाकरण अनौचित्य के परिहार के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। यदि मूल कथानक मे कोई घटना ऐसी हो जो नायक के चरित्र से असंगत हो अथवा प्रकृत रस से नितान्त विपरीत हो तो कवि का यह कर्तव्य होता है[२] कि वह अपने ग्रन्थ में इस अनौचित्य का का सर्वथा परिहार कर दे। इसके उदाहरण में भोज ने नाट्य

---

१ गद्य पद्यञ्च मिश्रञ्च काव्य यत्, सा गतिः स्मृता।
अर्थौचित्यादिभिः सापि वागलंकार इष्यते॥
—सर० कण्ठा० २। १८

यथामति यथाशक्ति यथौचित्य यथारुचि।
कवेः पात्रस्य चैतस्याः प्रयोग उपपद्यते॥
—सर० कण्ठा० २।२१

२ वाक्यवच्च प्रबन्धेषु रसालंकारसकरान्।
निवेपयन्त्यनौचित्यपरिहारेण सूरयः॥
—सर० कण्ठा० ५। १२६

के वस्तुपरिहार का बड़ा सुन्दर ही दृष्टान्त दिया है। बालरामायण में राजशेखर ने कैकेयी और दशरथ के द्वारा राम का वनवास माया के द्वारा किया गया दिखाया है। महावीरचरित मे भवभूति ने बालिवध के प्रसङ्ग मे लिखा है कि बालि सुग्रीव से युद्ध न कर रामचन्द्र से युद्ध कर रहा था और इसीलिए राम ने उसका संहार किया। वेणीसंहार मे रुधिर-प्रिय राक्षस दुःशासन का रुधिरपान करते हुए दिखलाया गया है, भीम नहीं। भीम के द्वारा अपने ही भाई दुःशासन के हृदय का रक्तपान उनकी उदात्तता तथा शूरता से नितान्त विरुद्ध है।

इस समीक्षा से यह स्पष्ट है कि भोज की सम्मति में अलकार तथा गुण, पात्र और भाषा का प्रयोग रस के उन्मीलन के लिए ही किया जाता है, जिसे वे 'रसावियोग' (रस का वियोग न होना) के नाम से पुकारते हैं। अतः रस का औचित्य ही भोज की दृष्टि मे काव्य का सर्वस्व है।

भोज की दृष्टि संग्राहिका है। औचित्य का यह वर्णन इसे स्पष्टतः प्रतिपादित कर रहा है। आनन्दवर्धन ने औचित्य के सिद्धान्त की जो व्यापक समीक्षा की है, उसका उपयोग भोज ने अपने ग्रन्थों मे पर्याप्त मात्रा मे किया है। अलकार की उपयोगिता रस के अनुकूल होने पर ही होती है। बाह्य शोभा के आधायक होने में उनका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत काव्य के जीवित-भूत रस के अनुरूप होने मे ही उनकी चरितार्थता है[१]। यह सिद्धान्त आनन्द के विवेचन की ओर संकेत कर रहा है। भोज ने इस प्रसङ्ग मे ध्वन्यालोक का 'रसाक्षिप्ततया यस्य' प्रसिद्ध पद्य भी उद्धृत किया है।

---

१ रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥ १७३
रसभावादिविषय-विवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स कविभ्यो न रोचते ॥१७५

—सर० कण्ठा० ५ परि०।

कुन्तक

कुन्तक का "वक्रोक्तिजीवित" संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में एक अत्यन्त प्रौढ़ तथा मौलिक रचना है। ये अभिनवगुप्त के समसामयिक थे, अतएव उस समय की प्रचलित साहित्यिक धारणाओं से सर्वथा परिचित थे। काश्मीर की तत्कालीन विदग्ध-गोष्ठी में काव्य के सारभूत पदार्थ के लिए व्यवहृत 'जीवित' शब्द का प्रयोग जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में किया है, उसी प्रकार कुन्तक ने भी। इसके अनुसार वक्रोक्ति ही—शब्द तथा अर्थ का लोकसामान्य से विशिष्ट वैचित्र्यपूर्ण व्यवहार—सब से प्रधान सारभूत अर्थ है। इस वक्रोक्ति को काव्य का जीवित मानने के कारण ही इनका साहित्य-ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' नाम से प्रसिद्ध है। हम कह चुके हैं कि कुन्तक ने इस वक्रोक्ति को काव्य के महनीय सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित कर अपनी मौलिकता का पूर्ण परिचय दिया है। औचित्य का सिद्धान्त वक्रोक्ति का पूरक है। इसका परिचय इनके ग्रन्थ के अनुशीलन से मिलता है।

काव्य की व्याख्या करते समय इन्होंने अनेक विशिष्ट सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इन सिद्धान्तों में एक विशिष्ट सिद्धान्त है—**'साहित्य'**। कुन्तक ने काव्य के सौन्दर्यप्रतिपादक दो प्रकार के गुणों की योजना अपने ग्रन्थ में की है। एक है—साधारण गुण और दूसरा असाधारण गुण। 'साधारण गुणों' से अभिप्राय **औचित्य** तथा **सौभाग्य** नामक दो गुणों से है जिनका अस्तित्व प्रत्येक प्रकार के काव्य में सर्वथा आवश्यक है। 'असाधारण गुण' इन दोनों गुणों से सर्वथा पृथक् होते हैं तथा सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम नामक मार्गों—रीति—के सम्पादक होते हैं। साधारण गुण काव्यस्वरूप के मुख्यतया निष्पादक होते हैं, इसीलिए इनका महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत ही अधिक है।

कुन्तक ने औचित्य की कल्पना दो प्रकार से की है। जिस प्रकार के द्वारा किसी वस्तु के स्वभाव का महत्त्व सद्यः परिपुष्ट किया

जाय वह एक प्रकार का औचित्य होता है[१]। दूसरा प्रकार वह है जिसमें वक्ता या श्रोता के नितान्त रमणीय स्वभाव के द्वारा अभिधेय वस्तु सर्वथा आच्छादित कर दी जाती है[२]। इस औचित्य का सम्बन्ध रस तथा प्रकृति (स्वभाव) के साथ नितान्त घनिष्ठ है। इस विषय मे वे भरत तथा आनन्दवर्धन के पक्के अनुयायी हैं। वे मानते हैं कि औचित्य का प्रधान कार्य अर्थ या रस का उन्मीलन करना है। काव्य में शब्द और अर्थ की विशिष्टता होती है जिसका कुन्तक ने नाम रखा है—शब्द-पारमार्थ्य तथा अर्थपारमार्थ्य। शब्द-पारमार्थ्य तो पदध्वनि या पदौचित्य है और अर्थ-पारमार्थ्य अर्थध्वनि या अर्थौचित्य है। इसी के अन्तर्गत उन्होंने 'प्रकृति-औचित्य' को भी स्थान दिया है। जो वस्तु किसी पात्र की न तो महत्ता का उन्मीलन करती है और न रस का ही परिपोष करती है, वह अनुचित होने के कारण काव्य में कथमपि स्थान नही पा सकती[३]।

> सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी,
> सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
> गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा,
> रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥
>
> —बालरामायण, ६।३४

---

१ आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यं उचिताख्यानजीवितम्॥ व० जी० १।५३

२ यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्य शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते॥ व० जी० १।५४

३ अत्र असकृत् प्रतिक्षण कियदद्य गन्तव्यमित्यभिधानलक्षणः परिस्पन्दः न स्वभावमहत्तामुन्मीलयति, न च रसपरिपोषाङ्गता प्रतिपद्यते। यस्मात् सीतायाः सहजेन केनाप्यौचित्येन गन्तुमध्यवसितायाः सौकुमार्या-देवविधं वस्तु हृदये परिस्फुरदपि वचनमारोहतीति सहृदयैः सम्भाव-यितुं न पार्यते॥ व० जी० पृ० ६१

राम का अयोध्या से वनगमन का प्रसंग है। शिरीष के समान सुकुमारी सीता अयोध्यापुरी के परिसर में ही वेग से तीन या चार डगे चलकर राम से पूछती हैं कि आज कितना चलना होगा। इन वचनो को बारम्बार कहती हुई जानकी रामचन्द्र की आँखो से आँसुओं का प्रथम अवतार उत्पन्न करती हैं। कविशेखर राजशेखर के इस कमनीय पद्य मे कुन्तक ने एक बड़ी ही मर्म की बात कही है। उनकी दृष्टि में यह पद्य सीता के अलौकिक चरित्र, अलोकसामान्य धैर्य, असाधारण सहनशीलता का तिरस्कार करता हुआ आलोचकों के सामने परम अनौचित्य प्रस्तुत करता है। जिन सीता ने जंगल के दीर्घ कष्ट सहने की प्रतिज्ञा की है, क्या वे ही दो-चार डग धरती पर रखकर अपने गन्तव्यस्थान की अवधि पूछ रही हैं? दो-चार पैर चलने पर ही उनका इतना मुरझा जाना क्या उनके विशिष्ट चरित्र के साथ सामञ्जस्य रखता है? कथमपि नही। इतना ही नही, यह पद्य राम के उदात्त चरित्र तथा सहज स्नेहाकुल हृदय की भी अवहेलना करता है। सीता के 'अनेक बार' कहे गये वचनों को सुनकर राम की आँखो मे पहिली बार आँसू झलकने लगते हैं। प्रेमीका हृदय प्रियतमा के क्लेशसूचक वचनों को 'एक बार' ही सुनकर पिघल जाता है, वह प्रेमी है या वज्रहृदय अरसिक! जिसके हृदय पर प्रियतमा के अनेक बार ही कहे गये वचन अपना प्रभाव जमाते हैं? इस श्लोक में 'असकृत्' पद ने सब गड़बड़ी मचा रखी है। तृतीयपाद का अर्थ न तो पात्रों की स्वभाव-महत्ता का उन्मीलन कर रहा है और न रस का परिपोष ही कर रहा है। यह नितान्त अनुचित है। इसके स्थान पर 'अवशं' का प्रयोग प्रकृतार्थपोषक होने से श्लाघनीय है।

तुलसीदास ने इसी भाव का यह पद्य लिखा है। इसमें वे अनौचित्य से बाल-बाल बच गये हैं। उनकी सीता शरीर से शिथिल होने पर ही पूछती है कि अब कितना चलना है। तुलसीदास का पद्य राजशेखर के पूर्वोक्त पद्य से अधिक कमनीय, औचित्यपूर्ण तथा सरस है:—

पुरते निकसी रघुबीरबधू, धरि धीर दये मगमे डग द्वै,
झलकी भरि भाल कनी जलकी, पुट सूखि गये मधुराधर वै।

फिरि बूझति है 'चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै',
तियकी लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अतिचारु चलीं जल च्वै ॥
—कवितावली, अयोध्याकाण्ड, ११ प० ।

इसी प्रकार उन्होंने साहित्य के सिद्धान्त की व्याख्या करते समय वृत्ति—औचित्य (वृत्त्यौचित्य) की ओर संकेत किया है[1]। यह औचित्य या तो कैशिकी आदि नाट्य-वृत्तियों से सम्बन्ध रखता है अथवा उपनागरिका आदि अनुप्रास-जातियों से। इस दूसरे औचित्य को कुन्तक वर्ण-वक्रता के नाम से अभिहित करते हैं। इसका विशेष वर्णन उन्होंने अपने ग्रन्थ के द्वितीय उन्मेष में किया है। कुन्तक का कथन है कि काव्य के वर्ण या अक्षर सन्दर्भ के अनुरूप होने चाहिये और बहुत से वर्ण जो किसी अवस्था-विशेष के अनुरूप नहीं होते, अन्य अवस्थाओं में रस तथा अर्थ के अनुकूल हो जाते हैं। जो परुषवर्ण शृंगार रस के सर्वथा प्रतिकूल होता है वही वीर तथा बीभत्स रस का उन्मीलन भली-भाँति कर सकता है। कवि को इस विषय में औचित्य के ऊपर सदा दृष्टि रखनी चाहिये[2]। इसी 'वर्ण-वक्रता' में कुन्तक अनुप्रास और यमक आदि शब्दालंकारों का भी अन्तर्भाव मानते हैं। काव्य में इन शब्दालंकारों के निवेश के विषय में जो कुछ बातें कुन्तक ने लिखी हैं, उन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन के द्वारा व्याख्यात 'अलंकारो-

---

१ वृत्त्यौचित्यमनोहारिरसानां परिपोषणम् ।
स्पर्धया विद्यते यत्र, यथास्वमुभयोरपि ॥
—व० जी० १।३५ (अन्तर श्लोक)

२ वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः द्विरुक्ताः तलनादयः ।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ॥ २।२

"ते च कीदृशाः—प्रस्तुतौचित्यशोभिनः । प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु, तस्य यदौचित्यमुचितभावः, तेन शोभन्ते ये, ते तथोक्ताः ॥ न पुनः वर्णसावर्ण्य-व्यसनितामात्रेण उपनिबद्धाः प्रस्तुतौचित्यम्लानकारिणः । प्रस्तुतौचित्यशोभित्वात् कुत्रचित् परुषरसप्रस्तावे तादृशानेव अभ्यनुजानाति" ॥
—व० जी० पृ० ८०

चित्य' की ओर उनका संकेत है। अनुप्रास के विषय में उनकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है कि कवि के बिना किसी विशेष परिश्रम किये ही काव्य मे अलंकारों का व्यवहार स्वाभाविक रीति से होना चाहिये। अनुप्रास के निमित्त कवि को किसी प्रकार का निर्बन्ध या व्यसन नही दिखलाना चाहिये। बिना किसी प्रयत्न के विरचित होने (अप्रयत्न विरचित) से ही अनुप्रास का सौन्दर्य है। इसलिए कवि का यह धर्म है कि वह अनुप्रास के लिए न तो अत्यन्त निर्बन्ध (आग्रह) दिखलावे और न उसे वह अपेशल (असुकुमार) ही बनावे। उसे पहले से आवृत (दोहराये गये) अक्षरों को छोड़कर नूतन वर्णों के आवर्तन की ओर दृष्टि डालनी चाहिये। यही काव्य मे अनुप्रास का औचित्य है:—

नातिनिर्बन्धविहिता, नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतना-वर्तनोज्ज्वला ॥

—वक्रोक्तिजीवित, २।४

यहाँ कुन्तक ने जिस औचित्य की चर्चा की है उसका विशद वर्णन आनन्दवर्धन पहिले ही कर चुके हैं। ध्वनिकार ने स्पष्ट ही लिखा है कि अनुप्रास का सन्निवेश रस के उन्मेष के लिए कभी व्याघातक नहीं सिद्ध होना चाहिये। इसीलिए अलङ्कार को उन्हों ने "अपृथक्-यत्न-निर्वर्त्य" माना है[१]। अनुप्रास के लिए एक रूप का अनुबन्धन, एक ही प्रकार का निवेश, नितान्त गर्हणीय होता है। एक ही प्रकार के वर्ण यदि अनुप्रास में सन्निविष्ट किये जाँय तो वे वैरस्य उत्पन्न करते हैं, तथा औचित्य-विहीन होने के कारण वे चमत्कार कथमपि उत्पन्न नही करते[२]। कुन्तक की दृष्टि में परुष वर्णों का दीर्घ अनुप्रास काव्य मे सदा वर्जनीय होता है। ऐसे वर्ण स्वभाव से ही ऐसे नीरस तथा कटु होते हैं कि उनके श्रवण-मात्र से हमारे कानो में पीड़ा उत्पन्न होने लगती है—अभिनवगुप्त ने इसीलिए वर्णों को दो श्रेणियों मे

---

१ ध्वन्यालोक २।१७
२ वही २।१५

विभक्त किया है—(१) सन्तापक वर्ण और (२) निर्वापक वर्ण[1]। कुछ वर्ण स्वभाव से ही सहृदयो को सन्ताप देते हैं, अन्य वर्ण प्रकृति से ही आनन्द प्रदान करते हैं। प्रथम प्रकार के वर्ण काव्य मे सर्वथा गर्हणीय होते हैं और दूसरे प्रकार के वर्ण सर्वथा स्पृहणीय। इस प्रकार कुन्तक ने अनुप्रास अलंकार के रसपेशल तथा औचित्यपूर्ण होने पर जोर दिया है। उदाहरण लिए मम्मट द्वारा उदाहृत इस पद्य का विचित्रता पर दृष्टिपात कीजिए—

> स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
> मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
> भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी-दीर्घादरिद्रद्रुम-
> द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥

[अर्थ—जिस गंगाजी का जल अपने आप उछलता है और जो स्वच्छ जल से भरे भागों के बिलों में वेग से बहनेवाली धारा द्वारा महर्षियों के अज्ञान का निवारण करती है, अतएव वे महर्षि लोग जिसके तट पर सानन्द स्नानादिक दैनिक कृत्य सम्पादन करते हैं तथा जिसकी घाटी मे बड़े-बड़े मेढक विद्यमान हैं और जिसका गर्व बड़े-बड़े घने वृक्षों को उखाड़ फेकनेवाली बड़ी-बड़ी लहरों से पुष्ट हो रहा है, वह गंगाजी शीघ्र ही तुम्हारे अज्ञान को हर ले]

इस पद्य का अनुप्रास 'अलकारनिर्बन्ध' का विशद दृष्टान्त है। कवि की दृष्टि वर्णचमत्कार उत्पन्न करने की ओर इतनी अधिक आसक्त हुई है कि वह अपने अर्थ के अनौचित्य का अन्दाजा भी नही लगा सकता। इतनी तीव्र वेगशालिनी गंगा की घाटी में भेकों की स्थिति कहाँ ? शान्त सलिल में ही मेढ़क महाराज आनन्द से विचरा करते हैं। अशान्त जलौघ में, भीषण जलप्लावन में, भेकों की भव्य स्थिति नही रहती। इससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि अनुप्रास की आसक्ति कवि को अर्थानौचित्य के गर्त मे गिराने का मुख्य कारण ही है। ऐसा अनुप्रास कथमपि श्लाघनीय नहीं माना जा सकता।

---

१ अन्यैरपि उक्तं "तेन वर्णा रसच्युतः" इत्यादि। स्वभावतो हि केचन वर्णा सन्तापयन्तीव। अन्ये तु निर्वापयन्तीव उपनागरिकोचिताः। लोक गोचर एवायमर्थः—अभिनवभारती।

यगकालंकार को सहृदय लोग काव्य का गड्डु (गुठली) मानते है परन्तु औचित्य से समन्वित होने पर यही अलकार रस के प्रकटीकरण में सर्वथा समर्थ होता है। ऐसी दशा मे यमक को सर्वदा के लिए काव्य में हेय मान लेना कथमपि उचित नही है। यमक के औचित्य के विषय में कुन्तक का यही सिद्धान्त है[१]।

आनन्दवर्धन ने 'प्रत्ययों' (जैसे शतृ, शानच्) को भी रसध्वनि का व्यञ्जक माना है। कुन्तक के अनुसार ध्वनि का यह प्रकार 'प्रत्यय-वक्रता' के अन्तर्गत आता है। क्षेमेन्द्र का यही 'प्रत्ययौचित्य' है। वर्ण्यमान वस्तु के स्वभाव के अनुकूल शोभा को विकसित करनेवाला प्रत्यय कवियों के द्वारा काव्य मे आदरणीय होता है[२]। इस प्रकार कुन्तक ध्वनिकार के प्रत्ययौचित्य के समर्थक हैं।

इसी प्रकार कुन्तक ने लिङ्ग-वक्रता, स्वभाववक्रता, कालवैचित्र्यवक्रता आदि नाना प्रकार की जिन वक्रताओ का विश्लेषण अपने मौलिक ग्रन्थ में किया है वे औचित्य के विविध प्रकारों के निदर्शन हैं। सत्य वात तो यह है कि वक्रोक्ति औचित्य का ही दूसरा नाम है। कुन्तक पदौचित्य को पदवक्रता के नाम से अभिहित करते हुए स्वयं इसे स्वीकार करते हैं[३]।

---

१ समानवर्णमन्यार्थं प्रसादिश्रुतिपेशलम् ।
औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत् ।
यमकं नाम······ ॥

—व० जी० २।६

औचित्यं वस्तुनः स्वभावोत्कर्षः। तेन युक्तं समन्वितम्। यत्र यमकोपनिवन्धनव्यसनित्वेनापि औचित्यमपरिम्लानमित्यर्थः।

—२।६ की टीका

२ प्रस्तुतौचित्यविच्छित्ति स्वमहिम्ना विकासयन् ।
प्रत्ययपदमध्येऽन्यामुल्लासयति वक्रताम् ॥

—वही २।१७

३ तत्र पदस्य तावत् औचित्यं वहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः।

—व० जी०, पृ० ७६

का विरोध करने के लिए उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' नामक प्रकाण्ड पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा[१]।

महिमभट्ट प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने दोषों का बड़ा ही प्राञ्जल, सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय उन्मेष (अध्याय) में उन्हों ने पॉच प्रकार के दोषो का प्रतिपादन बड़े ही पाण्डित्य के साथ किया है। आलोचकों ने दोषों की व्यवस्था करने का समग्र श्रेय मम्मटभट्ट को दिया है और इसीलिए कुलाङ्गनारूपी काव्यावली को आकर्षण कर विषम-स्थिति में पहुंचा देने के कारण काव्यप्रकाश की यवन से उपमा दी गई है[२] पर इन दोनों काश्मीरी भट्टों के ग्रन्थों की समीक्षा यही सिद्ध करती है कि महिमभट्ट के द्वारा उद्भावित दोषो का ही पूर्णतया ग्रहण मम्मट ने अपने ग्रन्थ मे किया है। महिमभट्ट के अनुसार अनौचित्य ही काव्य का एकमात्र सर्वातिशायी दोष है जिसके अन्तर्गत समस्त दोषों का अन्तर्भाव भलीभॉति किया जा सकता है। अनौचित्य का सामान्य रूप है—**रसाप्रतीति** (रस की प्रतीति का अभाव)[३]। अनौचित्य दो प्रकार से काव्य मे होता है। काव्य की मुख्य भावनाओं तथा रस से सबद्ध अनौचित्य 'अन्तरग' अनौचित्य कहलाता

---

१ अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते, प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

—व्य० वि० १ श्लो०

२ काव्यप्रकाशो यवनो काव्याली च कुलाङ्गना।
अनेन प्रसभाकृष्टा कष्टामेषाऽश्नुते दशाम्॥

३ एतस्य (अनौचित्यस्य) विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। व्य० वि०, उन्मेष २, पृष्ठ १५२।

है[१]। शब्द-विषयक अनौचित्य 'बहिरंग' अनौचित्य के नाम से प्रसिद्ध है। काव्य में रस की मुख्यता होने के कारण तद्विषयक अनौचित्य ही मुख्य तथा मौलिक दोष हैं। शब्दविषयक दोष बहिरंग होने के कारण गौण दोष होते हैं। शब्दानौचित्य के अन्तर्गत महिभट्ट ने विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन नामक पाँच प्रकार के दोषों का विशेष रूप से नामोल्लेख किया है।

रस तथा औचित्य के विषय मे महिमभट्ट आनन्दवर्धन की मान्यताओं को पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार ध्वनिकार ने रस के अनौचित्य को काव्य में प्रधान दोष स्वीकार किया है, उसी प्रकार महिमभट्ट ने भी माना है। समग्र दोष रस के व्याघातक होते हैं[२]। और इसीलिए महिमभट्ट ने रसानौचित्य के अन्तर्गत समस्त दोषप्रकरण का समावेश कर दिया है। इस अनुशीलन से स्पष्ट है कि 'व्यक्तिविवेक' कार की सम्मति मे औचित्य काव्य का सर्वातिशायी प्रसाधन है।

---

१ इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्, अर्थविषय शब्दविषय चेति। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणाम् अयथायथ रसेषु यो विनियोगः तन्मात्रलक्षणमेकम् अन्तरङ्गम् आद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। अपर पुनः बहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति। तद्यथा—विधेयाविमर्शः प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं, वाच्यावचन चेति।

—व्य०, वि०, उन्मेष २ पृष्ठ १४६-५१।

२ कथञ्चिद्वा भिन्नक्रमतयापि अभिमतार्थसम्बन्धोपकल्पने प्रस्तुतार्थप्रतीतेः विघ्नितत्वात् तन्निबन्धनो रसास्वादोऽपि विघ्नितः स्यात्, शब्ददोषाणाम् अनौचित्योपगमात्, तस्य च रसभङ्गहेतुत्वात्।

यदाहुः—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

—व्यक्तिविवेक पृ० १३३।

क्षेमेन्द्र

औचित्य के इतिहास में आचार्य क्षेमेन्द्र का नाम सुवर्णाक्षरों मे लिखने योग्य हैं। ये लोचन के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्तपाद के साहित्य-शास्त्र में शिष्य थे। इस शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ इन्होंने **'कविकर्णिका'** नामक ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अभीतक अनुपलब्ध ही है। बहुत सम्भव है कि रस तथा भाव का विवेचन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय हो। इनका **'कविकण्ठाभरण'** सचमुच कवियों के कण्ठ का आभरण है। इसमें इन्होंने कवित्वसम्पादन के नाना उपायो का वर्णन कर कवित्वाभिलाषी व्यक्तियों के लिए बड़ा ही उपकार किया है। **'औचित्यविचारचर्चा'** ही क्षेमेन्द्र की सर्वातिशायिनी प्रतिभा, विवेचकता तथा विदग्धता की एक नितान्त सजीव मूर्ति है। **'सुवृत्ततिलक'** को हम औचित्यविचार का ही पूरक मानते हैं, क्योंकि इन्होंने इस लघुकाय परन्तु सारगर्भित ग्रन्थ में 'वृत्तौचित्य' के विषय का विवेचन बड़े ही सुन्दर ढग से किया है। क्षेमेन्द्र विदग्ध-गोष्ठियो में औचित्य के व्यवस्थापक होने से चिरस्मरणीय रहेंगे। औचित्य के तत्त्व को काव्य के सर्वातिशायी तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित करने का गौरव विज्ञ विवेचक-वर्ग क्षेमेन्द्र का सदा प्रदान करता रहेगा।

हम कह चुके हैं कि क्षेमेन्द्र औचित्य के व्यवस्थापक अवश्य हैं, परन्तु उद्भावक नही। गत पृष्ठों मे दिये गये विवेचन से हम इसी निकर्ष पर पहुँचते हैं कि **औचित्य** का तत्त्व उतना ही प्राचीन है जितना कि काव्य-समीक्षण। समीक्षा के आद्य आचार्य भरत मुनि ने नाटकीय-प्रसंग मे पात्र, प्रकृति, वेशभूषा, भाषा आदि के औचित्य का विस्तृत प्रतिपादन अपने नाट्यशास्त्र में किया है। वही से स्फूर्ति तथा प्रेरणा पाकर भरत के बाद के आलंकारिको ने अपने काव्य-विवेचन में इस तथ्य को यत्र तत्र दिखलाया है। परन्तु इस कार्य में सबसे अधिक जागरूक अध्यवसाय है आचार्य आनन्दवर्धन का, जिन्होंने ध्वनि-तत्त्व के विवेचन के प्रसग में औचित्य के नाना प्रकारों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। क्षेमेन्द्र काश्मीरी होने से आनन्दवर्धन के स्वदेशी ही नहीं, प्रत्युत उनके ध्वनि-सम्प्रदाय के भी पक्के अनुयायी थे। साहित्यशास्त्र में वे जिस आचार्य (अभिनवगुप्त) के शिष्य होने का गर्व रखते थे, वे ही आनन्द के

भाष्यकार तथा ध्वनिसिद्धान्त के मुख्य समर्थक थे। इस प्रकार क्षेमेन्द्र के ऊपर इन्ही आचार्यों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इन्ही के द्वारा व्याख्यात औचित्यविषयक तत्त्व को क्षेमेन्द्र ने एक सुव्यवस्थित रूप दे दिया। इनके पहले औचित्य-तथ्य अज्ञात नही था, परन्तु उसके व्यापक साम्राज्य का निर्देश क्षेमेन्द्र का गौरवशाली कार्य है। काव्य का प्रत्येक अग तथा उपाङ्ग, शब्द तथा अर्थ, पद तथा वाक्य, गुण तथा रस, इसीकी छत्रछाया मे पनपता है और अपनी कृतार्थता सम्पादन करता है। ये औचित्य से ही जीवनी शक्ति लेकर अपने पद पर आरूढ़ रहते हैं। इस मौलिक तथ्य के प्रतिष्ठापन का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है।

रसध्वनि और औचित्य

साहित्यशास्त्र के विकाश मे एक समय यह भी था जब विवेचको की दृष्टि मे औचित्य ही निरपेक्ष भाव से काव्य का जीवन माना जाता था। अभिनव गुप्त के वचन इस कथन के लिए प्रमाणभूत हैं। इन्होंने लोचन ने उन आलकारिकों का खूब खण्डन किया है जो औचित्य को काव्यजीवित अंगीकार करने की व्यर्थ कल्पना किया करते थे। रस और व्यञ्जना से बिना सम्बन्ध रखे 'औचित्य' का तात्पर्य ही क्या है? इस तत्त्व के नियामक तो ये ही हैं। आनन्द और अभिनव ने इस महनीय तत्त्व का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में अच्छी तरह से पहले ही किया था। बिना रस की और बिना ध्वनि की सत्ता स्वीकार किये औचित्य के स्वरूप को समझना विडम्बनामात्र है। यही कारण है कि रस और ध्वनि के प्रमुख आचार्य आनन्द और अभिनव ने 'औचित्य' का अपने साहित्यसिद्धान्त मे गौणरूप से अध्ययन किया है। इनकी दृष्टि में औचित्य से संवलित रसध्वनि काव्य की आत्मा है और इस प्रकार इन तीनों काव्य-तत्त्वो का परस्पर इतना अधिक सामञ्जस्य है कि हम इन्हे पृथक् नही कर सकते। इनमे परस्पर उपकार्योपकारकभाव विद्यमान है। परन्तु क्षेमेन्द्र ने रस के समान ध्वनि का स्वीकरण अस्पष्ट शब्दों में ही किया है। वे 'ध्वनि' को प्रथमतः अवश्य अगीकार करते हैं, तभी तो 'औचित्य' की काव्य मे इतनी व्यापकता मानने मे वे कृतकार्य होते हैं। उदाहरण के लिए हम 'पदौचित्य' की व्याख्या को ले सकते हैं। काव्य मे किसी विशिष्ट पद को चुनने के लिए

कवि बाध्य क्यों होता है ? इसीलिए तो कि उसके द्वारा द्योत्य तथा अभिव्यङ्ग्य अर्थ प्रकृत रस को पुष्ट करता है। यह पुष्टि उसी पद के द्वारा ही ठीक ढग से हो सकती है, उसके पर्यायभूत अन्य पदों के द्वारा नही। विरहावस्था का सूचक पद 'कृशाङ्गी' या 'तन्वी' है, 'सुन्दरी' या 'मुग्धा' नही। इसीलिए श्रीहर्ष के इस प्रसिद्ध पद्याश—कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसनीपत्रशयनम्—मे 'कृशाङ्गी' पद विरह की दयनीय दशा तथा तदनुरूप समधिक वेदना का स्पष्ट द्योतक है। क्षेमेन्द्र इसे विशिष्ट शब्दों मे मानते हैं[१]। इसीके समान अन्य व्याख्याओं में वे ध्वनि के तत्त्व से अपना परिचय प्रदर्शित करते हैं। यह अनुमान का विषय नहीं है। ध्वनिस्थापक आचार्य की शिष्यपरम्परा के अन्तर्भुक्त होनेवाले व्यक्ति के लिए ऐसा करना सर्वथा सम्भव है।

रस तथा औचित्य के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रतिपादन 'औचित्यविचार-चर्चा' मे नितरा स्फुट है। क्षेमेन्द्र ने प्रथमतः रस को काव्यकी आत्मा मानी है और तदन्तर औचित्य को इस का 'जीवित'—जीवन-स्वीकार किया है। इस प्रसङ्ग मे 'जीवित' शब्द का प्रयोग अभिनवगुप्त ने भी किया है। वे औचित्य से सवलित रसध्वनि को काव्य का जीवित कहते हैं। अभिनव ने इस प्रकार 'आत्मा' और 'जीवित' पदो को एक दूसरे का पर्यायवाची माना है। दोनों का एक ही समान तात्पर्य है—सारभूत अर्थ। परन्तु क्षेमेन्द्र ने इन पदों के सूक्ष्म तात्पर्य की भिन्नता की ओर सकेत किया किया है। काव्य का प्राणरूप है रस और जीवभूत है औचित्य। क्षेमेन्द्र की समीक्षा के अनुसार दोनों का अभिप्राय एक ही नही है। इन दोनो सिद्धान्तो के परस्पर सम्बन्ध की सूचना क्षेमेन्द्र ने स्वतः इस श्लोक मे की है—

---

१ विरहावस्थासूचकं 'कृशाङ्ग्याः' इति पद परमौचित्य पुष्णाति। —औ० वि० च० पृ० ११८।

२ उचितशब्देन रसविषयौचित्य भवतीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवितत्व सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षया इदमौचित्य नाम सर्वत्र उद्घोष्यते इति भावः।

—लोचन पृ० १३।

औचित्यस्य चमत्कार-कारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥

—औ० वि० च०, श्लो० ३

काव्य मे चमत्कार का उदय औचित्य से सम्पन्न होता है । औचित्य के अभाव में काव्य में उस मनोज्ञता का जन्म ही नही हो सकता जिससे वह सहृदयों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके । यही तथ्य रस का जीवित भी है । काव्य में रस की सत्ता मानकर ही क्षेमेन्द्र ने यह अपनी मौलिक कल्पना की है । रसतत्त्व को यथार्थतः समझाने के लिए ही इनका यह नवीन उद्योग है । रस तथा अन्य वस्तुओं में औचित्य ही सब से व्यापक सम्बन्ध है । रस के साथ काव्य के इतर अगों को औचित्य सम्बन्ध में गठित होना ही पड़ेगा । तभी काव्य में चमत्कार अथवा वैचित्र्य का उदय होगा । वे पुनः कहते हैं—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्[१] ।

रस से सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है । काव्य रस से उसी प्रकार सिद्ध होता है जिस प्रकार पारद रस के सेवन से शरीर । पारद के सेवन से ही शरीर मे .स्थिरता आती है, शरीर मे यौवन चिरस्थायी रहता है, इसी प्रकार रस से सम्पन्न काव्य का औचित्य स्थिर जीवनरूप है । आचार्य क्षेमेन्द्र की मान्य सम्मति में रस से काव्य 'सिद्ध' (सम्पन्न) होता है तो औचित्य के द्वारा उसे चिरस्थायी जीवन प्राप्त होता हैं । इस प्रकार ये दोनों काव्य सिद्धान्त एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से अनुस्यूत हैं ।

---

१ रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरस-सिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः । औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवित काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात् ।

—औ० वि० च० पृ० ११५

औचित्यके प्रभेद

औचित्य के प्रभेद अनन्त हैं। काव्य के प्रत्येक अंग तथा उपांग पर इस तथ्य का व्यापक प्रभाव है[1]। दृष्टान्त के रूप से क्षेमेन्द्र ने केवल २७ प्रकारो का निर्देश तथा व्याख्यान अपनी 'औचित्य विचार चर्चा' में किया है। इन प्रकारो का निर्देश इस प्रकार से है—(१) पद, (२)वाक्य, (३) प्रबन्धार्थ, (४) गुण, (५) अलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिङ्ग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सारसंग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) आशीर्वाद। औचित्य की व्यापक प्रभुता दिखलाने के लिए उसके कतिपय प्रभेदों की व्याख्या करना समुचित होगा।

प्रबन्धौचित्य—यदि समग्र प्रबन्ध का तात्पर्य अनुरूप होता है, तो उसमें सहृदयों के चित्त को आवर्जन करनेवाले चमत्कार की क्षमता उत्पन्न होती है। इस विषय मे मेघदूत में कालिदास की यह उक्ति विशेषरूपेण श्लाघनीय है जिसमें यक्ष मेघ से उसके अभिजन की प्रशंसा कर रहा है।

जात वंशे भुवनविदिते पुष्पकावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्व त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥

पुष्करावर्तक है प्रसिद्ध लोक लोकन में,
वंश तिनही के नीके तैंने जन्म पायो है।
इच्छारूप धारण की गति है दई ने दई,
मन्त्री सुरराजहू ने आपनो बनायो है।
एते गुन जानि तो पै मँगिता भयौ हूँ मेघ,
बन्धुन से दूर मोहिं विधि ने बसायो है।

---

[1] अन्येषु काव्याङ्गेषु अनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणानि आनन्त्यान्न प्रदर्शितानीति अलमतिप्रसंगेन। औ० वि० च० का अन्त।

सज्जन पै माँगनों विना हू सरै काज भलो,
नीच पै सरेहू काज आछो ना वतायो है ॥
(—लक्ष्मणसिंह)

यक्ष मेघ से कह रहा है कि तुम पुष्पकावर्तक नामक मेघों के भुवन-प्रख्यात वश मे उत्पन्न हुए हो। तुम भगवान् इन्द्र के प्रधान पुरुष हो तथा कामरूपी हो—अपनी इच्छा के अनुसार नवीन तथा अभीष्ट रूपो को धारण करते हो। मेरी दयनीय दशा पर दृष्टिपात करो। मेरी सहायिका प्रियतमा दुर्भाग्य के मारे मुझसे बहुत दूर पर आज निवास कर रही है। इसीलिए आज मैं तुमसे कुछ माँगने के लिए उपस्थित हूँ। अधिक गुणवाले पुरुषों से की गई याच्ञा निष्फल होने पर भी श्रेष्ठ है। परन्तु अधम व्यक्ति से सफल होने वाली भी अभ्यर्चना अच्छी नहीं।

मेघ स्वय अचेतन ठहरा, उसमे सन्देशवाहक वनने की योग्यता का सर्वथा अभाव है, परन्तु कालिदास ने उसमे चेतनत्व का अध्यारोप कर इस कार्य के लिए उसे प्रस्तुत किया है। उसका अभिजन तथा पद दोनों नितान्त श्लाघनीय हैं। प्रलयकाल में अपने गर्जन से मनुष्यों को बधिर बना देने-वाले तथा मूसलधार वृष्टि से जगत् को प्लावित करनेवाले पुष्करावर्तक के कुल मे उसका जन्म हुआ है। उसका वर्तमान पद भी विशेष अभिनन्दनीय है—वह ठहरा देवराज का प्रधान पुरुष। कामरूपी होना उसकी योग्यता का पर्याप्तसूचक है। ऐसे अभिजात तथा योग्यपदस्थ व्यक्ति से सन्देशवाहक वनने की प्रार्थना कथमपि व्यर्थ नहीं हो सकती। इस प्रकार यह पद्य समग्र मेघदूत के तात्पर्य को समुज्ज्वल बना रहा है।

प्रबन्धार्थ के अनौचित्य पर भी एक दृष्टि डालिए। इस अनौचित्य के उत्तरदायी स्वयं महाकवि कालिदास ही हैं। कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग मे आपने शिवपार्वती की सुरत-लीला का जो वर्णन पामरदम्पती के सम्भोग-वर्णन के समान किया है वह आलोचकों की दृष्टि में शल्य की तरह गड़ता है। कहाँ जगत् के माता-पिता शिव-पार्वती और कहाँ इनका पामर दम्पती के समान सुरतचित्रण !!! क्षेमेन्द्र की दृष्टि में यह वर्णन समग्र

प्रवन्धार्थ के लिए अनुचित है[1]। मम्मटभट्ट ने भी अपने माता-पिता के संभोग-वर्णन के समान इसे नितान्त अनुचित बतलाया है[2]।

गुणौचित्य—ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुण काव्य में तभी भव्य तथा सौभाग्य-सम्पन्न होते हैं जब ये प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप ही होते हैं। अर्थ पर दृष्टि रखकर ही काव्यों मे गुणो का सन्निवेश किया जाता है। वीर पुरुष की ओजस्वी उक्तियों मे ओजगुण विशेष प्रकर्षशाली होता है। विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यञ्जना के लिए माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणो का निवेश सर्वथा हृदयाह्लादी होता है। बाणभट्ट ने विरह-विधुरा कादम्बरी की दशा का वर्णन इस पद्य मे कितनी सुन्दरता के साथ किया है:—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि,
प्रालेयशीकरमुचः तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि,
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥

मोतियो का हार, जल से भीगा वस्त्र, कमलिनी के पत्ते, हिमबिन्दुओं को बरसानेवाले चन्द्रमा की किरणें, तथा सरस चन्दन का लेप—ये वस्तुएँ जिस कामाग्नि के इन्धन हैं, वह अग्नि कैसे शान्त होगी? ज्वाला को ठण्ढा करने के लिए लोक मे शीतोपचार का उपयोग ससार करता है, परन्तु काम की आग शीत उपचारों से और भी उत्तेजित होकर धधकने लगती है। ऐसी दशा मे उसके प्रशमन का उपाय कहाँ?

इस श्लोक मे माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों का योग नितान्त रमणीय है। प्रस्तुत अर्थ है कादम्बरी की विरहव्यथा का वर्णन। माधुर्य का निवेश इस प्रस्तुत अर्थ के प्रसङ्ग मे नितान्त अनुरूप है।

---

१ अम्बिकासभोगवर्णने पामरनारीसमुचितनिर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरुमूलहृतविलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतः त्रिजगद्गुरोर्यदुक्तं तेन अनौचित्यमेव पर प्रबन्धार्थः पुष्णाति— औ० वि० च० पृ० १२०।

२ किन्तु रतिः संभोगशृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णन हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव अत्यन्तमनुचितम्।
—काव्यप्रकाश उ० ७ पृ० २७४।

अलङ्कारौचित्य—प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलङ्कार विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है जिस प्रकार पीनस्तन पर रखे गये हार से हरिणलोचना सुन्दरी[१]। अलंकार का अलंकारत्व इसी मे है कि वह प्रकृत अर्थ तथा प्रस्तुत रस का पोषक हो। यदि इस कार्य के करने मे वह समर्थ नही होता तो वह भूषण कविता-कामिनी के लिये भारभूत ही होता है। बिहारी की यह सूक्ति यथार्थ ही है—**वा सोने को जारिये जासे टूटे कान**। नीरस काव्य मे अलङ्कारो की झंकार केवल हमारे कानों को ही सुख पहुँचाती है, हृदय का आवर्जन तनिक भी नही करती। इसीलिये ऐसे रसहीन अलकृत काव्य को आलोचकगण काव्य की निम्नतम कोटि (चित्रकाव्य) में रखते हैं।

अयसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥

किसी विरहिणी की दयनीय दशा का वर्णन है। वह बाला (दुःख के सहने मे नितान्त अक्षमा सुन्दरी) रातो दिन यही कहा करती है—यह कपूर का लेप मेरे शरीर से दूर करो, मोती की माला हटा डालो। कमलों की क्या जरूरत है? ए सखि! मृणाल का रखना एकदम व्यर्थ है। उसे दूर फेंको। ये हमारे शरीर मे गर्मी बढ़ा रहे हैं। चैन लाने की दवा मुझे बेचैन बना रही है। अतः इन्हे हटा डालो।

इस पद्य मे प्रस्तुत रस विप्रलम्भ शृङ्गार है। इसके प्रथमार्ध मे रेफ का अनुप्रास तथा उत्तरार्ध मे लकार का अनुप्रास प्रकृत रस के नितान्त पोषक हैं। लकार का बहुल प्रयोग तथा गलितप्राय पदो का विन्यास विप्रलम्भ शृङ्गार के सर्वथा उत्कर्षक होते हैं। इसके विपरीत टवर्ग का अनुप्रास शृङ्गार रस के सर्वथा प्रतिकूल होता है। इस बात पर बिना ध्यान दिये हुए कवि राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी की विरह व्यथा के वर्णन के अवसर पर टकार

---

१ अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा॥
—औ० वि० च० श्लोक १५।

का जो यह प्रचण्ड व्यूह खडा कर दिया है वह प्राकृत भाषा के ऊपर उनकी गाढ प्रभुता का द्योतक भले हो परन्तु उनकी सहृदयता का परिचायक तो कथमपि नही हो सकता। राजशेखर का पद्य यह है:—

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु,
सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु।
बोलम्मि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे,
झाणे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी॥

टवर्ग के विन्यास का उचित स्थान है वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस। शृङ्गार में, और तिस पर भी विप्रलम्भ शृङ्गार मे, टकार का यह बहुल प्रयोग कानों को ही पीडा नहीं पहुँचाता, बल्कि वह रसिकों के हृदय पर सौ मन भारी पत्थर के रखने का काम कर रहा है। कर्णकटु सह्य हो सकता है, परन्तु रस-विरोधी अलकार तो सहृदयों की आँखों मे काँटो से भी अधिक खटकता है।

रसौचित्य—औचित्य से समन्वित रस ही सहृदयो के मन को उसी प्रकार अकुरित करता है जिस प्रकार वसन्त अशोक के वृक्ष को। रस काव्य का प्राण अवश्य ठहरा, परन्तु जब तक वह औचित्य से रुचिर नही होता तबतक वह सहृदयों के चित्त को आकृष्ट नही कर सकता। इसके उदाहरण मे कुमारसम्भव का वसन्त वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि कालिदास भगवान् शकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषरूप शृङ्गार उत्पन्न के लिये प्रस्तुत हैं। इसीके उद्दीपन रूप से वे वसन्त का वर्णन कर रहे हैं।

बालेन्दुवक्त्राण्यविकाशभावाद्,
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागताना,
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

—कुमारसम्भव ३।२९

इस पद्य मे लाल रंग की टेढ़ी पलाश कलिका वसन्त के द्वारा वनस्थली रूपी ललनाओं के अङ्ग पर किये गये नखक्षत के समान प्रतीत हो रही है। वसन्त नायक है, वनस्थली कामिनी है, पलाश की लाल कलियाँ सद्यः रक्त-

रञ्जित नखक्षत प्रतीत हो रही है। वसन्त का यह सम्भोग शृङ्गारी रूप प्रकृत अर्थ के लिए नितान्त उपयुक्त है। शकर के हृदय मे पार्वती के प्रति शृङ्गारिक अभिलाषा उत्पन्न करने के निमित्त वह सचमुच प्रभावशाली उद्दीपन का काम कर रहा है। कवि ने इस रसमय वर्णन से अपने काव्य को नितान्त प्राञ्जल तथा रुचिर बना दिया है, इसमे तनिक भी सन्देह नही। यह तो हुआ रस का औचित्य। रस के अनौचित्य के लिये दूर जाने की आवश्यकता नही। इसी अवसर पर कर्णिकार का यह वर्णन प्रकृत रस का परिपोषक न होने से कथमपि उद्दीपक नही है। कालिदास इस बात पर खेद प्रकट कर रहे हैं कि कर्णिकार (कनेर) के फूल मे रंगो की छटा होने पर भी सुगन्ध का अभाव सहृदयों के हृदय को बलात् खिन्न कर रहा है। उस विधाता को कोसने की इच्छा करती है जिसने इतने नेत्ररंजक पुष्प को नितान्त गन्धहीन बना दिया।

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं, दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां, पराङ्मुखो विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥

—कुमार ३।२८

इस पद्य में कर्णिकार के वर्णसम्पन्न परन्तु गन्धहीन रूप को देखकर कवि एक नैतिक तथ्य के आविष्कार करने मे भले ही समर्थ हों, परन्तु यह नैतिक परन्तु निर्जीव वर्णन शृङ्गार रस का उद्दीपक कथमपि नही हो सकता। अतः रसौचित्यहीनता के कारण कालिदास का यह पद्य कथमपि चमत्कारजनक नहीं हो सकता। प्रकृति-वर्णन मे इस रसानुरूपता की ओर ध्यान देना सच्चे कवि की कसौटी है। साधारण कवि इस अवसर पर प्रकृति की रमणीय छटा के वर्णन का लोभ संवरण नही कर सकता। परन्तु रससिद्ध कवि अपनी तूलिका से उन्ही चित्रों का चित्रण करता है जो प्रकृत रस की अभिव्यक्ति मे सर्वथा सहायक होते हैं। रससिक्त कवि का हृदय ऐसे अवसरों पर अपनी तन्मयता, पेशलता तथा सरसता बिना दिखलाये नही रह सकता और इस सहृदयता का पूर्ण परिचायक होता है रस का औचित्यपूर्ण वर्णन।

लिङ्गौचित्य—संस्कृत व्याकरण के अनुसार शब्दों के तीन लिङ्ग होते हैं, यह तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु साधारण जन इस बात से अवगत नहीं है

कि कभी-कभी एक ही शब्द के तीनों लिङ्गों में रूप हुआ करते हैं यथा तट शब्द। इसका प्रयोग तीनों लिङ्गों में हुआ करता है—तटः, तटी, तटम्। इन तीनों लिङ्गों में से प्रकृत अर्थ के पोषक विशिष्ट लिङ्गवाले शब्द का चुनाव करना सत्कवि का कार्य है। यही क्षेमेन्द्र का 'लिङ्गौचित्य' है। इसके उदाहरण में उन्होंने अपना ही पद्य प्रस्तुत किया है।

"निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचित्,
दीर्घां वेत्ति कथा व्यथां, न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।
तेनाराधयता गुणास्तव जपध्यानेन रत्नावली,
निःसङ्गेन पराङ्गनापरिगतं नामापि नो सह्यते॥"
औ० वि० च० पृ० १४०-४१

रत्नावली के विरह से विधुर राजा उदयन की विरहावस्था का सुन्दर वर्णन इस पद्य मे किया गया है। राजा रत्नावली के ध्यान मे इतना निमग्न है कि वह स्त्रीलिङ्गवाची शब्दो के नाम को भी नहीं सह सकता; स्त्रियो की तो बात ही न्यारी है। वह निद्रा को स्पर्श नही करता, उसने धृति को छोड़ दिया है, वह कही भी स्थिति नहीं धारण करता, दीर्घ कथा को व्यथा समझता है, सब प्रकार से वह निर्वृति (आनन्द) को नही भजता। रत्नावली मे उसकी इतनी अधिक अनुरक्ति है कि वह निद्रा, धृति, स्थिति, कथा तथा निर्वृति जैसे स्त्रीलिङ्ग द्योतक नाम से भी घृणा करता है। यहाँ कवि ने अन्य संभावित लिङ्गों की अवहेलना कर निद्रा, धृति, स्थिति आदि शब्दो में जो स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया है वह प्रकृत अर्थ के पोषक होने से नितान्त मार्मिक है। लिङ्ग का अनौचित्य इस पद्य में देखिये—

"वरुणरणसमर्था स्वर्गभङ्गैः कृतार्था,
यमनियमनशक्ता मारुतोन्माथसक्ता।
धनदनिधनसज्जा लज्जते मर्त्ययुद्धे,
दहनदलनचण्डा मण्डली मद्भुजानाम्॥"
वही पृ० १४१

इस पद्य में रावण अपनी भुजाओं के विषय में कह रहा है कि उसकी भुजाओं की जो मण्डली स्वर्ग के भङ्ग करने से कृतार्थ हुई है, यम के नियमन मे समर्थ तथा देवताओं के उन्मथन मे प्रसक्त है, जो धनद के निधन मे

सज्जित है और अग्नि के दलन करने में प्रचण्ड है वह मनुष्य के साथ युद्ध करने में लज्जित हो रही है। यहाँ पर कवि को त्रैलोक्यविजयी, प्रताप से ऊर्जित, रावण की भुजाओं की कठोरता का द्योतन अभीष्ट है परन्तु मण्डली शब्द में स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग कर कवि ने बड़ा ही अनुचित किया है। तथ्य बात है "नाम्नैव स्त्रीति पेशलम्" नाम से ही स्त्री पेशल होती है अर्थात् स्त्री द्योतक शब्द स्वभावतः ही सुकुमारता के अभिव्यञ्जक होते हैं। इसीलिये 'मण्डली' शब्द सौकुमार्य की यहाँ अभिव्यक्ति कर रहा है, कवि के द्वारा अभीष्ट शौर्य्य की नहीं।

नामौचित्य—दार्शनिक दृष्टि से नामों मे सार्थकता का अभाव खटकता है परन्तु साहित्यिक दृष्टि नामों की भी सार्थकता मानती है। भिन्न-भिन्न कर्मों के सम्पादन के निमित्त हम एक ही पुरुष को विभिन्न नामो से पुकारते हैं। सब के हृदय मे मद (आनन्द) उत्पन्न करने के कारण कामदेव 'मदन' कहलाता है, तो सर्व प्राणियों के दर्प को दलन करने के कारण वही 'कन्दर्प' की संज्ञा पाता है (कं न दर्पयतीति कन्दर्पः)। अङ्ग से रहित होने पर वह 'अनङ्ग' है तो प्राणियों के मन में उत्पन्न होने के कारण वही 'मनसिज' है। फूलो के बाण से युक्त होने पर वह 'पुष्पबाण' है, तो बाणों की विषम सख्या के कारण वही 'विषम-बाण' या 'पञ्चशर' है। ऐसी दशा में किसी वस्तु के प्रकृत अर्थ के अनुकूल नाम चुनने में कवि की कला लक्षित होती है[1]। प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप नाम के सुनते ही सहृदयों के हृदय विकसित हो जाते हैं। इसे प्रमाणों से पुष्ट करने की आवश्यकता नही। इस नामौचित्य के दृष्टान्त के लिये कालिदास का यह पद्य देखिये।

"इदमसुलभवस्तुप्रार्थना-दुर्निवारः,
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातान्दोलिता पाण्डुपत्रै-
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु" ॥

१ नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः।
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवादपातिनी ॥
—औ० वि० च० पद्य ३८

[वसन्त की मनोरम ऋतु में काम के व्यापक प्रभाव की ओर कवि का सरस सकेत है। कोई विरही अपनी दशा का वर्णन कर रहा है कि सुलभ न होने वाली वस्तु—प्रियतमा—की प्रार्थना करने से जिसका वेग दुःख से रोका जा सकता है वह पॉच बाणो वाला काम पहिले ही मेरे मन को वेध रहा था। अब तो कहना ही क्या है ? जब मलयानिल से कम्पित पीले पत्ते वाले उपवन के आम्र वृक्ष अकुर दिखला रहे हैं !]

इस पद्य मे कामदेव के लिये 'पञ्चबाण' का प्रयोग अतीव चमत्कार-जनक है। पञ्चबाण होकर भी जो पहले ही मेरे मन को छिन्न-भिन्न कर दे रहा था, वहीं मलय मारुत से आन्दोलित, बाल पल्लवों से समन्वित, उपवन के आम्रवृक्षो मे अङ्कुरों के प्रकट होने पर किस आपत्ति का पहाड़ वक्ता के सिर पर ढाहेगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। पॉच बाण होने पर तो इतना क्लेश देते थे, अब आम के अकुररूपी अगणित बाणों से सज्जित होने पर तो कहना ही क्या ! इस प्रसङ्ग मे पञ्चबाण नाम का प्रयोग काव्य-कला का एक सुन्दर निदर्शन है।

नाम के अनौचित्य के अपराधी स्वयं महाकवि कालिदास हैं। भगवान् रुद्र ने अग्निज्वाला से दीप्यमान अपने तृतीय नेत्र का उन्मोचन किया है। देवता लोग यह भयङ्कर दृश्य देखकर भय से कॉप उठते हैं। आखिर काम-देव उन्ही की कामना पूर्ति के लिए तो अपने को आग मे झोक रहा है। वे लोग 'रुद्र' से 'शङ्कर' बन जाने की प्रार्थना करते हैं। कामदेव की रक्षा के निमित्त उनकी कृपा की भिक्षा मॉगते हैं परन्तु उधर काम का काम एकदम तमाम !

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेष मदनं चकार ॥

—कुमार संभव ३। ७२

['हे प्रभो, अपना क्रोध रोकिए, बस रोकिए'—आकाश मे देवताओं की यह वाणी ही जब तक हो रही थी, तब तक भव के नेत्र से उत्पन्न

होनेवाले अग्नि ने मदन को राख का ढेर बना दिया !] इस पद्य के 'भव' शब्द के ऊपर क्षेमेन्द्र को नितान्त अरुचि है। संहार के अवसर पर रुद्र के लिए उत्पत्तिसूचक 'भव' पद का प्रयोग नितान्त अनुचित है[१] !! 'हरनेत्रजन्मा' होता तो अच्छा होता। परन्तु मुझे तो कालिदास के इस शब्दप्रयोग में अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। अवसर संहार का ही है, परन्तु पद्य के तृतीय चरण में अग्नि के जन्म की बात अवसरप्राप्त है। शङ्कर के नेत्र से अग्नि का जन्म हो रहा है और वही वह्नि मदन को जलाने में कृतकार्य होता है। यहाँ शङ्कर का काम केवल अग्नि का उत्पादन मात्र है, मदन के भस्म करने से उनका साक्षात् सम्बन्ध नही है। ऐसी परिस्थिति में 'भव' शब्द का कालिदासीय प्रयोग औचित्य की मात्रा के भीतर ही है। अत्र सहृदयाः काव्यमर्मज्ञा एव प्रमाणम्।

वृत्तौचित्य—काव्य में वृत्त के औचित्य का प्रदर्शन क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' मे बड़े विस्तार तथा विचार के साथ किया है। वृत्त का अर्थ है छन्द। प्रत्येक भाषा मे प्रयुज्यमान वृत्तो की एक विशिष्ट प्रकृति होती है। वृत्तों में लघु-गुरु का चुनाव संगीत के तत्त्व पर आश्रित रहता है। प्रकृत अर्थ तथा रस के अनुकूल वृत्तों का विन्यास विवेचक कवि की सहृदयता की कसौटी है। सिद्ध कवि के सामने उचित शब्द स्वतः उन्मीलित हुआ करते है। उसी प्रकार विषयानुकूल वृत्तों का निर्णय है। सब वृत्तों मे सब वस्तुओं का उपन्यास सम्यक् रीति से नही हो सकता। वृत्तो में भी संगीतमयी माधुरी उन्मीलित हुआ करती है जिसे आलोचक का कान तुरन्त पहचान लेता है। उदाहरण के लिए 'मालिनी' तथा 'मन्दाक्रान्ता' के सौन्दर्य तथा औचित्य पर विचार कीजिए। मालिनी के आदिम छः वर्ण लघु होते हैं और उसके अनन्तर तीन गुरुवर्ण होते हैं। अतः जहाँ सौम्यभाव से विषय का आरम्भ कर उग्रता दिखलाने का अवसर पीछे आता हो, वहाँ मालिनी बड़ी शोभा-सम्पन्न होती है। शाकुन्तल नाटक में कालिदास की यह मालिनी कितनी मनोरम है !

१ संहारावसरे रुद्रस्य भवाभिधानमनुचितमेव ॥
औ० वि० च० पृ० १५८

न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते॥

तापस की उक्ति शिकारी राजा दुष्यन्त से है—हे राजन्, रूई के ढेर में आग गिराने के समान इस कोमल मृगशरीर पर अपना बाण मत गिराओ, मत गिराओ। कहाँ हरिणी के बच्चों का वह नितान्त चञ्चल जीवन और कहाँ तुम्हारे वज्र से कठिन तीक्ष्ण निपातवाले बाण। यहाँ राजा के इस घोर अनर्थ को देखकर वह आश्रमवासी तापस बड़ी उतावली से उसे रोक रहा है—बस, बस, बस, ऐसा अनर्थ मत करो। मालिनी के आदिम छः लघ्वक्षर तापस के विह्वल हृदय को बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त कर रहे हैं। यदि वृत्त के आदि में गुरु वर्णों के कारण उग्रता रहती, तो कवि का काम कथमपि सिद्ध नहीं होता। इसीलिए मालिनी चित्त की विह्वलता, शीघ्रता, सौम्य भाव तथा हर्षातिरेक के द्योतनार्थ व्यवहृत होती है। संस्कृत साहित्य में माघकवि मालिनी के सिद्ध कवि माने जाते हैं। शिशुपालवध के ११ वें सर्ग में उनका प्रभात-वर्णन मालिनी की छाया ग्रहण से ही इतना सरस तथा रोचक हो सका है।

'मन्दाक्रान्ता' का स्वरूपविन्यास ही ऐसा है कि जान पड़ता है कि कोई विरहिणी सिसकती हुई रोती हो। गुरु लघु का विधान इतना समञ्जस है कि प्रवास, प्रावृट् आदि विरहोत्पादक विषयों में इसका पूर्ण अधिकार स्वीकार किया गया है। और इसीलिए क्षेमेन्द्र की सम्मति है—**प्रावृट्प्रवासकथने मन्दाक्रान्ता विराजते**। मन्दाक्रान्ता के सिद्ध कवि हैं महाकवि कालिदास[१] और इसका सिद्ध काव्य है—मेघदूत। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

---

१ सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना॥
—क्षेमेन्द्रः सुवृत्ततिलक

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥

[धरणि गिरैगी मित्र, बलि देती वह देखि तुहि
कै लिखती मम चित्र, विरहकृशित अनुमान करि॥
कै कहुँ पूछति होई, पिंजरा बैठी सारिकहिं।
कबहूँ आवति तोहि, सुधि प्यारी वा नाह की॥
—लक्ष्मण सिंह]

इसी प्रकार शिखरिणी का सौन्दर्य उपपन्न विषय के निर्णय के अवसर पर परिस्फुरित होता है और शार्दूलविक्रीडित का माहात्म्य राजा आदि मान्य वस्तुओं के स्तुतिप्रसङ्ग मे विकसित होता है। संस्कृत साहित्य मे सुन्दर शार्दूलविक्रीडित रचकर राजशेखर कविशेखर हुए तो स्निग्ध शिखरिणी की उपासना करने से भवभूति भव-भूति हो गये। भवभूति की शिखरिणी संस्कृत में बेजोड़ होती है, इसीलिए क्षेमेन्द्र ने इसकी विशिष्ट प्रशंसा की है। उत्तररामचरित की एक शिखरिणी देखिए—

इयं गृहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः।
—उ० रा० च० १। ३९

गृह की यहि गृहलच्छिमी, पूरन सुखमा काज।
अमृत सराई सुभग यहि, इन नयनन के काज॥
तन परसत ऐसी लगे जनु चन्दन रसधार।
यहिं भुज सीतल मृदुल गल, मानहु मुतियन हार॥
कछू न जाको लगत अस, जहाँ न सुख-संजोग।
किन्तु दुसह दुख को भर्यो, केवल जासु वियोग॥
—सत्यनारायण कविरत्न।

संस्कृत के मधुर कवि श्रीजयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' मे राधा की विरहदशा की अभिव्यञ्जना मुद्रालंकार विशिष्ट शार्दूलविक्रीडित वृत्त मे कितनी सुन्दरता से की है। इसके जोड़ के प्रौढ़ पद्य की उपलब्धि संस्कृत साहित्य मे दुर्लभ है :—

आवासो विपिनायते प्रियसखी-मालापि जालायते
तापोऽपि श्वसितेन दावदहनज्वाला-कलापायते।
सापि त्वद्विरहेण हन्त हरिणी-रूपायते हा कथं
कन्दर्पोऽपि यमायते विरचयञ्छार्दूलविक्रीडितम् ॥

गी० गो०—४ । १०

सुखद सदन ते दुखद बन रूप भये,
अलिमाल जाल जिमि चहुं ओर छई है।
ऊरध उसास निसिबासर हिये सों लागि,
तपत दवागि की विपति नित नई है।
जहर लहर हिय केहरी के हर ढिग,
काम आठौ याम यमयोनि जानो लई है।
बरनी न जात मन-हारिनी तिहारी हरि,
नीके चलि देखो हरिनी के रूप भई है ॥

—गीतगोविन्दादर्श।

इसी प्रकार संस्कृत के अन्य छन्दों का औचित्य-विधान है। उपजाति का प्रयोग शृंगार के आलम्बन तथा उद्दीपन के वर्णन में, वंशस्थ का नीति के वर्णन मे, वीर और रौद्र के संकर मे वसन्ततिलका का; प्रचण्ड झंझावात, भीषण भूकम्प, उत्ताल-तुमुल तरङ्ग, रोमाञ्चकारी संग्राम आदि के वर्णन मे स्रग्धरा का प्रयोग क्षेमेन्द्र ने औचित्यपूर्ण बतलाया है।

वृत्त का उचित सौन्दर्यपूर्ण विन्यास संस्कृत के समान हिन्दी में भी नितान्त स्पृहणीय होता है। भाषा तथा भाव के समान अर्थोचित वृत्त का विधान

पाश्चात्य आलोचना और औचित्य

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में 'औचित्य' का विचार हुआ है, परन्तु यह विचार तथा समीक्षण पूर्वोक्ति भारतीय समीक्षण के सामने नितान्त नगण्य सा है। प्राचीनकाल मे ही यूरोपियन आलोचक—विशेपतः यूनानी तथा रोमन लोग—'औचित्य' के तत्त्व को काव्य समीक्षा मे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे। परन्तु उनकी आलोचना काव्य के बहिरग साधनों मे ही 'औचित्य' का अन्तर्निवेश करती थी। प्रकृति-औचित्य, घटनौचित्य, वर्णौचित्य—आदि औचित्य के कतिपय प्रकारों का विवेचन हमें यहाँ उपलब्ध होता है, परन्तु काव्य के प्राणभूत रस के समीक्षण के अभाव के कारण यह विवेचन उतना मौलिक तथा गूढ नही हो सका है जितना वह भारतीय साहित्यसंसार में हुआ है। पाश्चात्य साहित्यसमीक्षण मे औचित्य बाह्य सौन्दर्य का साधन है, भारत मे वह कला का प्राण, अन्तरंग तत्त्व है—दोनो की तुलना हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है। यूरोप के प्राचीन आलोचकों ने ही इस महनीय काव्यतथ्य का विवेचन किया है, नवीन आलोचकों ने मौलाम्बन ही इस विषय में श्रेयस्कर माना है।

अरस्तू

पाश्चात्य आलोचना के प्रवर्तक अरस्तू ने अपने दोनों ग्रन्थों मे—पोइटिक्स तथा रेटारिक में—औचित्य के तत्त्व की समीक्षा बड़ी मार्मिकता से की है।

(१) नाटककर्ता का कर्तव्य है कि वह वास्तव दृश्यों का ही नाटक में उपन्यास करे—दृश्य काल्पनिक न होकर वास्तविक हों जिनसे उनके रंगमंच पर अभिनीत होने पर नाटक बिल्कुल सत्य प्रतीत हो। इस प्रसङ्ग मे अरस्तू ने घटना के औचित्य का वर्णन किया है। जो दृश्य नाटक मे दिखलाये जॉय उन्हे उचित होना चाहिए। उचित घटनाओं के प्रदर्शन से ही नाटककार की अभीष्ट सिद्धि होती है। वस्तु-जगत् से असम्बद्ध घटनाओं का प्रदर्शन नाटक में सर्वथा वर्जनीय होता है[१]।

---

1. The poet should remember to put the actual scenes as far as possible before his eyes...he will devise what is appropriate, and be least likely to overlook in congruities ·
—Poetics p. 61.

(२) अरस्तू मुख्य घटना—वस्तु—के साथ अवान्तर घटनाओं का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं[1]। भारतीय नाट्यकर्ता 'वस्तु' के दो भेद मानते हैं— (क) आधिकारिक तथा (ख) प्रासङ्गिक। प्रधानभूत घटना को आधिकारिक तया अवान्तर घटना को—जो मुख्य घटना की सिद्धि मे प्रवृत्त होती है—प्रासङ्गिक वस्तु कहते हैं। मुख्य वस्तु के साथ प्रासङ्गिक वृत्त का पूर्ण सामञ्जस्य होना चाहिए। यदि अवान्तर वस्तु मुख्य वस्तु के प्रति अनुचित हो, तो वस्तु की एकता सिद्ध नही होती जो अरस्तू के मन्तव्यानुसार नाटक के त्रिविध ऐक्यों मे प्रधान ऐक्य (Unity of Plot) है। 'घटनैक्य' को अरस्तू बहुत महत्त्व देते हैं और इसके निमित्त मुख्य वृत्त तथा प्रासङ्गिक वस्तु (episode) मे पूरी एकता मानते हैं। यह तभी सम्भव है जब प्रासङ्गिक वस्तु आधिकारिक वस्तु से पूर्ण औचित्य धारण करे। भारतीय आलकारिको का भी यही सिद्धान्त है। धनञ्जय ने स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है[2] कि निर्वहण सन्धि मे मुखसन्धि आदि सन्धियो मे उपन्यस्त घटनाओ अथवा पदार्थों का इस प्रकार प्रदर्शन होना चाहिए जिससे वे एक अर्थ की सिद्धि मे प्रयुक्त हों, अन्यथा नाटक के मुख्य वस्तु का विधान कथमपि श्लाघनीय नही माना जा सकता। यह है **घटनौचित्य**, जिसे भरत के समान अरस्तू ने भी स्पष्टतः अगीकार किया है।

(३) गद्य को अलंकृत करने तथा ऊर्जस्वी बनाने का मुख्य साधन अरस्तू की दृष्टि मे 'रूपक' का प्रयोग है। पद्य म सौन्दर्य विधान के अनेक

---

1 His story, again, whether already made or of his own making he should first simplify and reduce to a universal form, before proceeding to lengthen it out by the insertion of episodes ... the next thing is to work in episodes or accessory incidents One must mind, however, that the episodes are *appropriate* —Poetics p 61, 62

२—वीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत्॥

—दशरूपक १।४८

उपाय हैं, परन्तु गद्य में रूपक ही कवियों का एकमात्र साधक सिद्धमन्त्र होता है। परन्तु रूपक के प्रयोग करने के अवसर पर लेखक को सर्वदा जागरूक रहना चाहिए। औचित्य से सज्जित रूपक गद्य का भूषण है, परन्तु अनौचित्य से सम्पन्न रूपक गद्य का दूषण है। रूपक—विधान के विशिष्ट नियम हैं। वर्ण्य-वस्तु के उत्कर्ष दिखलाने के लिए उसी जाति में आनेवाले उत्कृष्ट गुण से युक्त वस्तु के साथ और अपकर्ष दिखलाने के लिए हीनगुण सम्पन्न वस्तु के साथ रूपक बाँधना चाहिए[1]। तभी रूपक का औचित्य है। रूपक को दूरगामी कभी न होना चाहिए--उनके विधान में क्लिष्ट कल्पना का अवकाश न होना चाहिए। रूपक उपमान तथा उपमेय के अभेद का ही दूसरा नाम है, परन्तु उपमान को उपमेय के समान कोटि, समान जाति, समान धर्म विशिष्ट होना चाहिए[2], अन्यथा लेखक अपने को अनौचित्य दोष से बचा नहीं सकता। औचित्य की कसौटी पर ठीक उतरने के कारण अरस्तू उषा को 'गुलाबी अंगुली वाली' कहने के पक्षपाती हैं, 'बैंगनी अंगुली वाली' या 'लाल अंगुली वाली' नहीं[3]। इस प्रकार अरस्तू रूपकौचित्य का महत्त्व काव्य में पूर्णरूपेण अंगीकार करते हैं।

(४) विशेषणों के प्रयोग में भी लेखक को सावधान होना चाहिए। जो विशेषण सन्दर्भ की, प्रकृत अर्थ की, पर्याप्त पुष्टि कर सकता है उसी का

---

1 If it is your wish to adorn a subject, the proper means is to borrow your metaphor from things superior to it which fall under the same germs; if to disparage it, from such things as are inferior.

—Aristotle : Rhetoric p. 232.

2 The Metaphors should not be far-fetched but derived from cognate and homogeneous subjects, giving a name to something which before was nameless and manifesting their cognate character as soon as they are uttered.

—Rhetoric p, 233-34

(३) रेटारिक पृ० २३५

प्रयोग औचित्यपूर्ण होता है। प्रशंसा के अवसर पर प्रशंसाद्योतक और निन्दा के अवसर पर निन्दाद्योतक विशेषणों का प्रयोग उचित होता है। अरस्तू ने इस विषय में कई उदाहरण दिये हैं। अपने पिता के बदला चुकानेवाले माता की हत्या करनेवाले व्यक्ति को निन्दा के अवसर पर 'मातृहन्ता' कहना ही उचित होगा और प्रशसा के प्रसङ्ग पर उसे 'पितृऋण का शोधक' बतलाना ही न्यायसंगत होगा। इसे क्षेमेन्द्र **'विशेषणौचित्य'** की संज्ञा देंगे।

(५) भाषण के औचित्य के निमित्त कुछ शर्तें हैं—भाषण की शैली भावाभिव्यञ्जक तथा नीतिमय होनी चाहिए। साथ ही साथ विषय के अनुरूप होनी चाहिए। अनुरूप शैली से अभिप्राय यह है[1] कि—विषय के उदात्त होने पर रचनाप्रकार को क्षुद्र न होना चाहिए। विषय के साधारण होने पर रचनाप्रकार को उदात्त कभी नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार महत्त्वहीन शब्द के सम्बन्ध मे अलङ्कृत तथा विचित्र विशेषणों का प्रयोग सर्वथा अन्याय्य होता है। यदि कवि ऐसे अवसर पर अनुचित विशेषणों का प्रयोग करता है, तो उसका काव्य काव्यालोचकों के लिए उपहास्यास्पद ही होता है। अतः भाषण करते समय या लिखते समय प्रत्येक व्यक्ति को **विषयौचित्य** पर पूरा ध्यान देना चाहिए, अन्यथा वह आनन्द का कारण न बनकर उपहास का ही भाजन बनता है। अरस्तू का यह विवेचन क्षेमेन्द्र के 'विषयौचित्य' की ही पश्चिमी व्याख्या है।

(६) अरस्तू ने 'रेटारिक' के तृतीय खण्ड के सप्तम परिच्छेद मे 'औचित्य' (Propriety) का विशद वर्णन किया है। वक्ता का उद्देश्य श्रोताओ के हृदय को अपने वश में करना होता है और इस अभिप्राय से उसे अपने हृदय के भावो को श्रोताओं के ऊपर डालना पड़ता है। श्रोताओं के

---

1 By a proportionate style, I mean that the manner of composition should not be slovenly if the subject is pompous, or dignified if it is humble, and there should be no ornamental epithets attached to unimportant words; otherwise the composition has the air of a comedy.

—Rhetoric, Book III chapter VII, p 245

हृदय को आत्मसात् करने का प्रधान उपाय है रसानुकूल भाषा का प्रयोग[1]। यदि अनादर का भाव प्रकट करना अभीष्ट हो, तो क्रोध की भाषा होनी चाहिए; यदि क्षुद्रता अभिव्यक्त करनी हो, तो उसे उस वस्तु के नाम के उल्लेख से भी पराङ्मुख होना चाहिए। यदि प्रशंसनीय वस्तु का वर्णन अभिप्रेत हो, तो भाषा भी तदनुरूप प्रशंसा की होनी चाहिए। हृदय के भावों का अभिव्यञ्जन भाषा के द्वारा ही होता है। अतः दोनों में मौलिक साम्य होने की आवश्यकता है। भाव तथा भाषा—दोनों का सामञ्जस्य ही वक्ता के भाषण तथा कवि के काव्य की सफलता का चरम रहस्य है।

इस भाषौचित्य का अपना निजी महत्त्व होता है। यदि वक्ता की भावानुसारिणी भाषा होती है, तो श्रोताओं के हृदयमें वक्तव्य विषय की सम्भावनीयता का विश्वास हो जाता है। वक्ता के कथन पर उन्हें विश्वास जमने लगता है। वे समझते हैं कि वक्ता जिधर हम लोगों को अपने भाषण के द्वारा ले जा रहा है वही वस्तुतः सच्चा मार्ग है[2]। दूसरी स्थिति में भाषण में इतनी

---

1 The means of expressing emotions, if the matter is an insult, is the language of anger; if it is impiety or foulness, that of indignation and of a shrinking from the very mention of such a thing; if it is something laudable, that of admiration; if something pitiable, that of depression and so on.
—Rhetoric, Book III Ch. 7 p. 246

2 The appropriateness of language is one means of giving an air of probability to the case, as the minds of the audience draw a wrong inference of the speaker's truthfulness from the similarity of their own feelings in similar circumstances, and are thus led to suppose that the facts are as he represents them, even if this is not really so.
—वही

मोहकता, प्रभावोत्पादकता तथा उत्तेजकता नहीं आ सकती। यदि सुकुमार विषय का वर्णन कठोर भाषा में किया जाय, या उग्र विषय का वर्णन सुकुमार पदों द्वारा निष्पन्न किया जाय तो प्रभावोत्पादकता में वृद्धि न होकर ह्रास उत्पन्न हो जाता है[1]। यही कारण है कि व्याख्यान देनेवाले वक्ता को तथा काव्य रचनेवाले कवि को इस विषय में सदा सावधान रहना चाहिए। अरस्तू ने यहाँ जिस औचित्य का वर्णन किया है वह सचमुच नितान्त श्लाघनीय है। भाषा हृदय के भावों को प्रकट करने का मुख्य माध्यम है। अतः दोनों का सामञ्जस्य सर्वदा सम्पादनीय होता है। यदि भावों की अभिव्यक्ति उचित पदों के द्वारा न हो, तो निश्चय है कि अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। वक्ता का भाषण कानों को भले सुनाई पड़े, वह हृदय को स्पर्श नहीं करता। कवि की रचना न तो अपना सत्य अर्थ ही प्रकट करती है और न श्रोताओं का हृदयावर्जन ही करती है।

इस समीक्षण का निष्कर्ष यही है कि अरस्तू की सम्मति में 'औचित्य' रचना का एक महनीय तत्त्व है, जिसका अवलम्बन रचना को महनीय, प्रभावशाली तथा उत्तेजक बनाने में सर्वथा समर्थ होता है। इस प्रकार अरस्तू ने भारतीय आलोचकों के द्वारा प्रदर्शित अनेक औचित्यों का सुन्दर वर्णन किया है।

---

1 It is a general result of these considerations that, if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language there is a certain loss of pursuasiveness.

—वही पृ० २४७

लाञ्जिनस

लाञ्जिनस (२१३ ई०—२७३ ई०) पाश्चात्य आलोचको में से विशेषतः माननीय हैं। उनका ग्रन्थ On the Sublime पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का एक नितान्त मौलिक ग्रन्थ समझा जाता है। उनकी दृष्टि मे कविता मे अथवा समग्र ललित कलाओं में चमत्कृतिजनक वस्तु होती है— Sublimity 'भव्यता' और इसी भव्यता के विधान के विविध प्रकारों का विवेचन उन्होंने बड़ी विवेकबुद्धि से किया है। इसी प्रसङ्ग मे औचित्य का विचार उनके ग्रन्थ मे किया गया मिलता है।

(१) उनकी सम्मतिमे काव्य में भव्यता का उदय अलंकारो की सत्ता से भी होता है। अलकार शब्द तथा अर्थ का सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं और काव्य मे भव्यता उत्पन्न करने मे प्रधानतया कारण बनते हैं। अलकार का चमत्कार काव्य की भव्यता से विशेषतः पुष्ट तथा हृष्ट बन जाता है। इस प्रकार दोनों में परस्परोपकारकभाव विद्यमान रहता है—अलंकार भव्यता की वृद्धि करता है और भव्यता अलंकृति के चमत्कार को समधिक सम्पन्न करती है[१]। परन्तु समस्त अलकारों मे यह क्षमता नही रहती है। वे ही अलकार काव्य मे सर्वोत्तम प्रतीत होते हैं, जिनकी पृथक् सत्ता का पता पाठक को चलता नही। अलंकार की यदि अलंकारत्वभावना पाठक के ध्यान से सर्वदा विलुप्त रहे, तो वही अलंकार शोभनतर प्रतीत होता है[२]। लाञ्जिनस का यह हुआ अलकारौचित्य और इस विषय मे उनका यह कथन आनन्दवर्धनसे पूर्णतया सामञ्जस्य रखता है। काव्य में अलंकृति-विधान के विषय मे आनन्दवर्धन की सम्मति नितान्त उपादेय है। उनका यह कथन कि रसाक्षिप्तचित्तवाले कवि के द्वारा बिना किसी विशिष्ट यत्न से निर्वर्त्य अलकार ही ध्वनिकाव्य

---

1 Some how or other figures naturally fight on the side of sublimity and in turn receive a wonderful reinforcement from it.

2. A Figure looks best when it escapes one's notice that it is a figure.—Longinous, on the sublims ch. XVII.

में विधान पा सकता है[१], लाङ्गिनस के पूर्वोक्त कथन का प्रकारान्तर से प्रतिपादन है।

(२) लाङ्गिनस ने अपने ग्रन्थ में शब्दौचित्य पर विशेष ध्यान दिया है। उचित शब्दों के चुनाव पर कविता का प्रभाव विशेषरूप से अवलम्बित रहता है। उचित तथा शोभन पदों का काव्य में विन्यास श्रोताओं के हृदय पर एक विचित्र आकर्षण और आश्वासन का भाव उत्पन्न कर देता है। लेखक तथा वक्ता का उचित पदविन्यास पर इतना इसीलिए आग्रह है कि उसके कारण उसके पद जीवनी शक्ति से सम्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् शब्दौचित्य के बिना जो काव्य या भाषण मृतक-सा प्रतीत होता है और जिसमें श्रोता तथा पाठक को चमत्कृत करने की तनिक भी शक्ति नहीं रहती, वही काव्य शब्दौचित्य के रहने पर जीवित के समान प्रतीत होने लगता है। वह श्रोता के हृदय में एक विचित्र स्फूर्ति उत्पन्न कर देता है। वह पाठक के चित्त को अनायास ही चमत्कृत कर देता है। यह है शब्दौचित्य की महिमा। लाङ्गिनस की यह उक्ति कितनी मार्मिक है कि सुन्दर तथा उचित शब्द अर्थ का वास्तव आलोक है[२]। उचित अर्थ की अभिव्यञ्जना करने की योग्यता उचित शब्द ही में रहती है। परन्तु कविको इसके लिए सदा जागरूक रहना चाहिए। भव्य तथा माहात्म्य-मण्डित शब्दों का प्रयोग भव्य विषय के वर्णन मे ही करना चाहिए। यदि उसका प्रयोग तुच्छ, अभव्य पदार्थ के वर्णन में किया जायगा, तो वह उसी प्रकार उपहासास्पद होता है, जिस प्रकार शिशु के शरीर पर विन्यस्त दुःखान्त नाटक में प्रयुक्त मेखडा (mask)। ग्रीक शोकावसायी नाटकों की यह प्रथा है कि पात्र दर्शकों के सामने अभिनय करते समय अपने शरीर के ऊपर नाना प्रकार के आवश्यक परिच्छद धारण

१—रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शब्दक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥

—ध्वन्यालोक—२।१७

2 For in fact beautiful words are the very and peculiar light of thought.

करते हैं, जैसे मुँह के मेखड़ा पहनना आदि। दर्शकों के चित्त के ऊपर गम्भीरता का प्रभाव उत्पन्न करना इसका मुख्य उद्देश्य होता है। इसके धारण करने से पात्रों की आकृति विशाल, विपुलकाय तथा नितान्त गम्भीर हो जाती है। अतः इस परिच्छद के उचित पात्र हैं, जवान गठीले बदनवाले व्यक्ति। यह परिच्छद यदि बालक के शरीर पर विन्यस्त होगा, तो गम्भीरता की भावना तो दूर रहे, दर्शकों के मुखपर हँसी का फौव्वारा फूट निकलेगा[१]। अशोभन तथा हेय पदार्थों के विषय मे प्रयुज्यमान शोभन तथा भव्य पदावली की यही दशा है। इससे स्पष्ट है कि लाञ्जिनस की दृष्टि में शब्दौचित्य का कविता में पर्याप्त महत्त्व था[२]। इस विषय की आनन्दवर्धन के विवेचन से तुलना करना विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

इस प्रकार लाञ्जिनस काव्य में औचित्य के प्रबल पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि में शब्दौचित्य का विधान काव्य में सौन्दर्य, शक्ति, प्रभाव, महत्त्व तथा भव्यता का उत्पादक होता है तथा अन्य आवश्यक काव्यगुण का भी उदय स्वतः हो जाता है। अतः औचित्य का पालन काव्यकला की चरम कसौटी है।

---

1 High language is not for indiscriminate use; for to put great and dignified words on petty trifles would be like putting a tragic mask on a baby.

—Longinus परि० ३०

2 The selection of proper and magnificent words has a wonderfully seductive and caressing effect upon readers—that all speakers and writers make it their-chief-study, inasmuch as it confers upon litrature, as it were on the fairest structure, grandeur, beauty, light, strength, force and what not—in as much as it puts, as it were, a living voice in the words.

—वही

होरेस

होरेस (६५ ई० पू०—८ ई० पू०)—लैटिन भाषा के नितान्त लोकप्रिय कवि हैं। ये लैटिन महाकाव्य इनीड़ के रचयिता वर्जिल के समकालीन थे। जिस समय कालिदास अपनी कमनीय कविता से अपने देशवासी आर्यो का मनोरञ्जन कर रहे थे, उसी समय होरेस ने भी अपनी काव्यकला के द्वारा रोमनिवासियों के हृदय को स्निग्ध तथा रससिक्त बनाया। आलोचना के विषय में इनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक है Art Pœtica—Art of Pœtry 'काव्यकला,' परन्तु यह आलोचना के विषय मे सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ न होकर काव्य के विषय में कतिपय उल्लेखनीय सिद्धान्तों का प्रतिपादक अधूरा तथा अपूर्ण ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ का प्रभाव यूरोप के अवान्तर कालीन कवियो के ऊपर बहुत ही अधिक रहा है। लोकप्रियता तथा सांसारिक बुद्धि की दृष्टि से काव्यविवेचना मे यह ग्रन्थ सचमुच अप्रतिम है।

होरेस 'औचित्य' के महनीय अनुयायी हैं। इन्होंने लैटिन कवियो के सामने जिस काव्यगत आदर्श का विधान प्रस्तुत किया था, उसमे औचित्य का परिपालन अन्यतम है। इन्होंने अपने समय के कवियों को लक्ष्य कर तीन उपदेश दिये हैं—(१) ग्रीक आदर्शों का अनुकरण करो, (२) पात्र के स्वरूप की रक्षा करो तथा (३) औचित्य का संरक्षण करो। इन तीनों उपदेशों के यथार्थ अनुगमन करने से कवि मे कविगत गुणों की उत्पत्ति होती है। औचित्य के विषय में होरेस के सिद्धान्त भरत के नाट्यशास्त्र मे प्रतिपादित अनेक तथ्यों के साथ पूर्ण सादृश्य रखते हैं।

नाटक या काव्य के कथानक के विषय मे उनका मन्तव्य है कि कवि या तो परम्परागत कथा का वर्णन अपने काव्य ग्रन्थ मे करे या किसी सुव्यवस्थित नवीन कथानक का संविधानक प्रस्तुत करे। परम्परागत वस्तु का संरक्षण तभी शक्य हो सकता है जब तद्गत पात्रों के चरित की रक्षा अच्छी तरह से की जाय। परम्परा ने अनेक प्रख्यात पात्रों का चरितविधान पहिले से ही प्रस्तुत कर दिया है। इस परम्परा का विधिवत् परिपालन कवि का मुख्य कर्तव्य है। ग्रीक-साहित्य मे होमर ने अकिलीज को तेजस्वी, क्रियाशील,

जागरूक वीर के रूप में चित्रित किया है तथा मीडिया नामक पात्री को उग्र, भयानक तथा हठी अंकित किया है। ग्रीक आदर्श के ऊपर निर्मित काव्य या नाटक मे इन पात्रों की स्वरूपरक्षा के लिए इनका इन रूपों में ही चित्रण अनिवार्य है[1]। इन स्वरूपों में विकृति होने पर कवि परम्परा का अनुयायी कथमपि नहीं हो सकता। कवि को नवीन कथानक की कल्पना करने का अधिकार है। परन्तु इन कथानकों में जो पात्र प्रथम वार जिस प्रकार से अंकित किया जाता है उस पात्र का उसी रूप से अन्ततक निर्वाह होना नितान्त आवश्यक है। उग्र रूप में अवतीर्ण पात्र का स्वरूपनिर्वाह अन्त-तक उसकी उग्रता की रक्षा करने मे ही होता है। दया का अवतार पात्र यदि दानवता का नग्न नर्तन करने लगे, तो वह अपने रूप से अत्यन्त च्युत हो जाता है। होरेस का यह नियम भरत के 'प्रकृत्यौचित्य' के अन्तर्गत आता है। भरत ने दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य रूप से प्रकृति के तीन प्रकार वतलाये हैं। प्रकृति के स्वरूपानुसार ही उसके कर्तव्य-कर्मों का प्रतिपादन कवि करता है। दिव्य प्रकृति के लिए उपयुक्त कर्म अदिव्य प्रकृति के लिए कथमपि मान्य तथा आश्रयणीय नही हो सकते। इस प्रकार होरेस का यह व्यापक सिद्धान्त 'औचित्य' के तथ्य के ऊपर अवलम्बित है।

अभिनय के औचित्य का बड़ा ही मार्मिक विवेचन हमें होरेस के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। दर्शकों के हृदय पर प्रभाव डालना नाटक का प्रधान लक्ष्य ठहरा और यह तभी सम्भव होता है जब यथार्थ अभिनय रगमच के ऊपर सम्पन्न किया जाय। यदि नाटक से दर्शकों के हृदय में उल्लास की भावना जागरित करना अभीष्ट हो, तो उसका मुखमण्डल प्रसन्न तथा हास्यमय होना

---

1 A poet should follow tradition or else make things consistent with themselves Achilles should be represented as active, passionate, inexorible and keen; Medea fierce and indomitable. If you put a novelty on the stage, and dare to invent a new personage, let it be kept throughout true to its first appearance and consistest to itself.

—Horace: Art of Poetry.

चाहिए। क्या मुहर्रमी सूरतवाला नट दर्शकों के चित्त पर उल्लास प्रकट कर सकता है? अभिनय एक विशिष्ट कला है और इसमे औचित्य का प्रधान आश्रय है। दुःखद शब्दों के लिए उदास चेहरा चाहिए, क्रुद्ध मुखमण्डल से शत्रुओं को डाँट डपट सुनानी चाहिए; हँसी की बातचीत के लिए चेहरा खिलता होना चाहिए और गम्भीर वार्ता के लिए पात्र के मुखमण्डल की गम्भीरता नितान्त आवश्यक है[१]। होरेस का यह अभिनयौचित्य है जिसका विस्तृत वर्णन भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है[२]।

होरेस का कहना है कि अभिनय रंगमच के ऊपर वस्तु के प्रदर्शन से आरम्भ होता है अथवा वस्तु के कथन से। दर्शकों के नेत्रों के सामने जो घटनायें अभिनीत होती हैं वे उनके हृदय पर गहरा प्रभाव डालती हैं। कानों के द्वारा सुनी गई घटनायें हृदय को उतना अभिभूत नहीं करती जितनी नेत्रो के द्वारा दृष्ट घटनायें। परन्तु कौन वस्तु रगमच के ऊपर अभिनय योग्य है? तथा कौन सी नेपथ्यगृह मे वर्णन के द्वारा सूचनीय है? इसके लिए कवि को सदैव जागरूक रहना चाहिए। जो वस्तु वर्णन के द्वारा भी दिखलाई जा सकती हैं उनका रग मच पर अभिनय कथमपि ग्राह्य नही हो सकता। जो घटना दर्शकों के चित्त पर घृणा या अश्लीलता का भाव पैदा कर सकती हैं उनका प्रदर्शन किसी भी प्रकार से उचित नही माना जा सकता।

---

1 Sad words suit a gloomy face, threats suit an argry face, sportive words suit a playful, and serious words a stern brow.

—Horace.

२ द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र, ८ तथा ६ अध्याय। रसाभिनय के लिए मुख के ६ भेद भरत ने बतलाये हैं—

विधुतं विनिवृत्त च निर्भुग्न भुग्नमेव च।
विवृत्त च तथोद्वासि कर्माण्यत्रास्य जानितु ॥

—८।१४८

इनकी विशिष्टता के साथ होरेस के पूर्वोक्त कथन की तुलना कीजिये, नाट्यशास्त्र (६।१४६—१५४)।

मीडिया के द्वारा अपने पुत्रो का वध क्या कभी भी रंगमंच के ऊपर दर्शकों के सामने अभिनीत किया जा सकता है ? कारण स्पष्ट है—अनौचित्य। औचित्यपूर्ण वस्तु का प्रदर्शन न्याय्य होता है, परन्तु अनुचित घटना का अभिनय सर्वथा वर्जनीय होता है। मीडिया द्वारा पुत्र-वध का अभिनय दर्शकों के हृदय में घृणा ही उत्पन्न करेगा[1]। अतः इसका प्रदर्शन सर्वथा त्याज्य तथा वर्जनीय होना चाहिए।

होरेस का यह नियम क्षेमेन्द्र के घटनौचित्य का प्रतिपादक है। संस्कृत के आलोचको ने 'अभिनेय' तथा 'संसूच्य' वस्तु का विधान अपने ग्रन्थों में किया है। नाट्य वस्तु के दो प्रकार हैं—'सूच्य' तथा दृश्य'। जो वस्तुओ का विस्तार नीरस हो और अनुचित हो वह 'ससूच्य' होता है, परन्तु मधुर, उदात्त तथा रसभाव से पूर्ण वस्तु 'दृश्य' होती है। पहिली की केवल अर्थोपक्षेपक (विष्कम्भ, प्रवेशक आदि पंच प्रकार) के द्वारा सूचनामात्र दी जाती है, परन्तु दूसरी घटना रंगमच के ऊपर आनन्ददान के लिए अभिनीत होती है[2]। होरेस का पूर्वोक्त नियम हमारे आलकारिकों के सूच्य

---

1 The theatre proceeds either by action or by narration of action. Things heard effect the soul less vividly than what is put before the faithful eyes, and what the spectator administers to himself But you will not bring on the stage what ought to be done behind the scenes and you will keep out of sight much which can be presently narrated. Let not Medea slaughter her sons in public. If you show me anything of this kind I disbelieve it and feel disgust.—Horace.

२ द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापि वा॥
नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥
—दशरूपक १।५६,५७।

तथा दृश्य के प्रदर्शन के भीतर आता है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार नाटक मे अनेक वस्तुओ की केवल सूचना ही दी जा सकती है। अनुचित होने से इनका अभिनय कथमपि श्लाघनीय नही माना जाता।

रंगमंच के ऊपर वध का विधान न तो ग्रीक पद्धति से ही उचित है और न भारतीय पद्धति से; तथापि आजकल के यथार्थवादी अभिनेता इसके वास्तव अभिनय करने मे किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करते। अभिनीत घटना का प्रभाव दर्शको के चित्त के ऊपर सद्यः पड़ता है। अनुचित घटना वैरस्य का कारण बनती है और उचित घटना आनन्द का उद्रेक करती है। इस प्रभाव को दृष्टि मे रखकर ही घटना के औचित्य का विवेचन किया गया है। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि होरेस अभिनेय वस्तु के औचित्य के पक्षपाती हैं। भरत के समान ही वे भी 'दृश्य' तथा 'सूच्य' वस्तु का द्विविध भेद अंगीकार करते हैं तथा इस विभेद के अक्षरशः मानने के लिए अपना आग्रह दिखलाते हैं।

होरेस ने छन्दों के औचित्य के विषय मे भी अपने विचार प्रकट किये हैं। ग्रीक आलोचको के मन्तव्यानुसार काव्य के प्रमुख भेद ये हैं— महाकाव्य (epic), करुण-काव्य (elegy), व्यंग्य काव्य (satire) शोकावसायी नाटक (tragedy) और उल्लासमय नाटक (comedy)। ग्रीक कविता में इनके लिए विशिष्ट छन्द भी होते हैं जिनके द्वारा तद्गत भाव तथा विषय का यथार्थ प्रतिपादन सम्भव होता है। होरेस का कहना है कि ग्रीक काव्य के अनुकरण के समय उन के छन्दों की भी अनुकृति श्लाघनीय होती है। ग्रीक कवि सचमुच प्रतिभासम्पन्न कवि थे, उन्होंने विषय-प्रतिपादन के निमित्त समुचित वृत्तों की भी व्यवस्था की है। अतः इन वृत्तों का भी तत्तत् काव्यों मे अनुकरण तथा प्रयोग सर्वथा आवश्यक होता है। यदि विषय हास्योत्पादक हो, तो वह शोकावसायी नाटक के छन्द मे पूर्णतया अभिव्यक्त नही किया जा सकता। होरेस की यह वृत्त-

विषयिणी व्यवस्था[१] क्षेमेन्द्र का 'वृत्तौचित्य' है। भारतीय आलंकारिकों ने भी काव्य में वृत्तविन्यास के लिए विशेष नियम बनाये हैं। रस के अनुगुण होना ही वृत्त का औचित्य है। रस के अननुगुण वृत्त होने पर 'हतवृत्त' नामक दोष की उद्भावना आलकारिकों ने की है। वृत्त का स्वरूप ही ऐसा है कि वह किसी एक रस के अनुकूल ही होता है। सर्वत्र सामञ्जस्य रखनेवाला वृत्त दुर्लभ ही है। दोधकवृत्त हास्यरस के अनुकूल होता है। अतः वह होरेस के अनुसार (comic metre) उल्लासमय नाटककोपयोगी वृत्त कहा जा सकता है। दोधकवृत्त में करुणरस का उन्मेष नितान्त अनुचित है। यह छलकता हुआ धावमान दोधक वियोग के लिए सर्वथा अनुपयक्त है :—

हा नृप हा बुध हा कविबन्धो
विप्रसहस्रसमाश्रय ! देव !
मुग्ध-विदग्ध-सभान्तर-रत्न,
क्वासि गतः क वयं च तवैते ॥

कतिपय साहित्यिक 'वियोगिनी' छन्द को विरहवर्णन के लिए उपयुक्त बतलाते हैं। क्षेमेन्द्र की सम्मति में प्रावृट् ऋतु के तथा प्रवास के क्लेश के वर्णन के निमित्त 'मन्द्राक्रान्ता' सुशोभित होती है। हिन्दी-साहित्य मे भी सवैया तथा घनाक्षरी में इसी प्रकार का स्वरूपभेद विद्यमान है। युद्ध आदि ओजस्वी विषय के वर्णन के अवसर पर तथा वीर, रौद्र आदि उग्र रसो के उन्मीलन के निमित्त 'घनाक्षरी' का प्रयोग नितान्त उपयुक्त होता है। महाकवि भूषण की यह घनाक्षरी कितनी औचित्यपूर्ण है :—

---

1 Metres appropriate to epic, elegiac, satiric and other poetry have been settled once for all and must not be changed, a comic matter refuses to be set forth in tragic verse and contrariwise even tragic heroes in poverty and exile cast aside their yard long verbiage and their swelling pride of language if they wish to touch the spectators.

—Horace.

महाराज शिवराज चढ़त तुरंग पर,
ग्रीवा जाति नै करि गनीम अतिबल की।
भूसन चलत मरजा की सैन भूमि पर,
छाती दरकति है खरी अखिल खल की।
कियौ दौरि घाव उमरावन अमीरन पै,
गयी कटि नाक सिगरेई दिल्ली-दल की।
सूरत जराइ दियौ दाहु पात साहु डर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी।

हिन्दी साहित्य में विरह तथा वेदना के मार्मिक कवि घनानन्द अपनी सरस सवैयो के लिए नितान्त प्रसिद्ध हैं। इस सवैये मे वेदना की कितनी सुन्दर अभिव्यञ्जना है—

हमसों हित कै कित को हित ही
चित बीच वियोगहिं बोय चले।
सु अखैवट बीज लौं फैलि पर्‍यो
बनमाली कहाँ धौं समोय चले।
घन आनँद छाय बितान तन्यौ
हम ताप के आतप खोय चले।
कबहूँ तिहि मूल तौ बैठिए आप
सुजान ज्यों खाय कै रोय चले।

हिन्दी के मान्य कवियों ने इस वृत्तौचित्य का परिपालन अपने कमनीय काव्य में विशेष रूप से किया है।

इस प्रकार ग्रीक आलोचकों ने औचित्य (propriety) की कमनीयता ललित कला में पर्याप्त रूप से स्वीकृत की है। सचमुच यूनानी आलोचनापद्धति (classical criticism) का सर्वस्व 'औचित्य' रहा है और जब कभी इस पद्धति का पुनः सस्कार हुआ है तब औचित्य का माहात्म्य भी अंगीकृत किया गया है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी साहित्य में १८ वी शताब्दी के काव्यविकास पर दृष्टिपात कीजिये इस समय प्राचीन आलोचनापद्धति पर कवियों का आग्रह दुगुने जोश से जम रहा था। फलतः महाकवि पोप ने औचित्य के अनेक

प्रकारो को अपने आलोचना-ग्रन्थ मे स्थान दिया है। पोप का यह ग्रन्थ (Essay on criticism) मौलिक आलोचना ग्रन्थ न होकर प्राचीन मान्य काव्य सिद्धान्तो का पद्यबद्ध समुच्चय मात्र है। इसमें उन्होंने वर्ण के औचित्य के ऊपर बड़ा जोर दिया है। उनका कथन है[1] कि कविता मे केवल उद्वेगकारी कर्णकटुता का अभाव ही पर्याप्त नही माना जा सकता, प्रत्युत वर्ण अर्थ की प्रतिध्वनि अवश्य होना चाहिए। मलयानिल के बहने के अवसर पर प्रयुक्त शब्दों मे सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए, मन्द लहरिका का प्रवाह कोमल पदो मे प्रवाहित होता है, परन्तु जब प्रचण्ड झंझवात का थपेड़ा खाकर भीषण उर्मियाँ किनारों पर टकराती हैं, तब ओजस्वी पद्य भी तुमुल प्रवाह के भाँति घोर गम्भीर गर्जना करता है। पोप का आशय यह है कि वर्णनीय वस्तु तथा तत्प्रतिपादक शब्दो मे मधुर सामञ्जस्य होना चाहिए। मन्द-मन्द बहनेवाले मलयानिल की अभिव्यक्ति सुकुमार पदों के द्वारा की जाती है तथा शारदीय सरिता की धारा सुकुमार पदावली में प्रवाहित होती है, परन्तु प्रावृ-षेण्य तरङ्गिणी की प्रचण्डधारा घोर घर्घर-रव करती हुई चलती है। पोप ने जिस वर्णध्वनि का ऊपर प्रतिपादन किया है, उसका सुन्दर दृष्टान्त महाकवि भवभूति के नाटको मे उपलब्ध होता है। देखिए, नदियों का परस्पर मिलन कितने समुचित शब्दों मे व्यक्त किया गया है—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलै—
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः॥

उत्तररामचरित २।३०

---

1 It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo of sense
Soft is the strain when Zephyr gently blows,
And the smooth stream in smoother number flows,
But when loud surges lash the sounding shore
The hoarse rough verse should like a torrent roar.

जिन कुहरनि गद्गद नदति, गोदावरी की धार।
सिखर स्याम, घन सजल सों, ते दक्खिनी पहार॥
करत कुलाहल दूर सों, चञ्चल उठत उतङ्ग।
एक दूसरी, सो जहाँ खाइ चपेट तरङ्ग॥
अति अगाध बिलसत सलिल, छटा अटल अभिराम।
मन भावन पावन परम ते सरि—संगम धाम॥

भीषण संग्राम में प्रवर्तमान धनुषों की झनझनाहट तथा हथियारों की खनखनाहट की पर्याप्त सूचना यह पद्य कितनी सुन्दरता से दे रहा है :—

झणज् झणितकङ्कणक्वणितकिङ्कणीकं धनु-
र्ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलम्।
वितत्य किरतोः शरानविरतस्फुरच्चूडयो-
र्विचित्रमभिवर्धते भुवनभीममायोधनम्॥

उत्तर० ६।१

झन झनन कंकन सम कनित कल किंकनीक बिसाल।
जुग छोर सन लगि, जासु गुन, अति करति सब्द कराल॥
धनु तानि अस, सर तजत, जिन सिख निरत चंचल-चारु।
जग-भयद अद्भुत तिन दोउन मधि बढ़त जुद्ध अपारु॥

—सत्यनारायन।

पोप का यह काव्यतत्त्व आनन्दवर्धन का होगा—वर्णध्वनि, कुन्तक का वर्णवक्रता तथा क्षेमेन्द्र का वर्णौचित्य। एक ही गम्भीर चमत्कारी तत्त्व भिन्न भिन्न आलकारिकों की कल्पना में भिन्न भिन्न अभिधान से अभिव्यक्त किया गया है, पर वह है एक ही अभिन्न वस्तु। कुन्तक ने स्पष्ट शब्दों में वर्णों को 'प्रस्तुतौचित्यशोभिनः'[1] कहा है अर्थात् वे वर्णनीय वस्तु के

१ 'प्रस्तुतौचित्यशोभिनः'—प्रस्तुतं वर्ण्यमान वस्तु तस्य यदौचित्य तेन शोभन्ते ये ते तथोक्ताः। न पुनः वर्णसावर्ण्यव्यसनितामात्रेण उपनिबद्धा प्रस्तुतौचित्यम्लानिकारिणः॥

वक्रोक्तिजीवित, २।२.

औचित्य से शोभासम्पन्न रहते हैं। केवल वर्ण की सवर्णता लाने के लिए ही उनका निबन्धन नही होता, प्रत्युत वर्ण्यमान वस्तु के स्वभाव तथा अभिव्यज्यमान रस के साथ उनका पूर्ण सामञ्जस्य सम्पन्न रहता है[१]। आनन्दवर्धन की सम्मति में रसानुकूल होने पर जो वर्ण 'रसश्च्युतः' होते हैं, वही वर्ण रस-प्रतिकूल होने पर 'रसच्युतः' हो जाते हैं। इस प्रकार वर्ण्य वस्तु के साथ वर्ण की जो पूर्ण मैत्री सस्कृत आलकारिकों को अभीष्ट है वही मैत्री पोप की दृष्टि मे भी कविता मे नितान्त प्रयोजनीय है !

पोप के अनन्तर अग्रेजी साहित्य मे (romanticism) 'स्वच्छन्दतावाद' की धारा प्रवाहित हुई और इस काव्यधारा के सग मे आलोचना की प्रवृत्ति भी ग्रीक आदर्शों से मुड़कर नवीन आदर्शों की ओर झुकी। काव्य के सौन्दर्य की समीक्षा के लिए नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना हुई। १९ वी शताब्दी तक इसी पद्धति का प्राबल्य रहा, परन्तु इस बीसवी शताब्दी मे आलोचकों की दृष्टि यूनानी आलोचना पद्धति की ओर फिर आकृष्ट हुई है और पुनः एक नवीन सम्प्रदाय का उदय हुआ है, जो अपने मत को 'नव्यक्लासिकल' (neo-classical criticism) के नाम से पुकारता है। इसमें फिर से औचित्य की ओर आलोचको का ध्यान गया है।

उपसंहार

पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र ने इस प्रकार औचित्य के काव्य मे गौरव तथा महत्त्व को अगीकार किया है। परन्तु हमारे अलकारशास्त्र का समीक्षण नितान्त मौलिक, अन्तरंग तथा सूक्ष्म है। पाश्चात्य साहित्य-संसार मे 'औचित्य' बहिरग आलोचना (formal criticism) के ही अन्तर्गत बतलाया गया है, परन्तु जैसा हमने इस परिच्छेद में सप्रमाण दिखलाया है, औचित्य भारतीय साहित्य-शास्त्र का अतीव हृद्य अन्तरग काव्यतत्त्व है। वह काव्य के आत्मभूत रस के साथ साक्षात् सम्बद्ध रहता है। यहाँ भी एक समय आलोचकों का एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय था जो औचित्य की रसादि से पृथक् सत्ता मानकर उसे ही काव्य का प्राण मानता था। परन्तु ऐसे आलोचकों की अभिनवगुप्त ने अच्छी खबर ली है। उनकी यह युक्ति

बड़ी ही गम्भीर है कि औचित्य तो एक सम्बन्ध विशेष ठहरा (उचितस्य भावः औचित्यम्) और जिसके साथ औचित्य का सम्बन्ध जोड़ना है, उसका बिना ज्ञान हुए क्या औचित्य का यथार्थ निर्वाह हो सकता है? वह प्रयोजनीय पदार्थ है—रस। रस के बिना औचित्य की सत्ता मानना मूल के अभाव मे पल्लव का सींचना है। काव्य का सर्वस्व ठहरा रस और इसी रस के अनुगुण होने पर किसी भी काव्याङ्ग का औचित्य ठहरता है और उसके अनुगुण न होने पर अनौचित्य का उदय होता है। क्षेमेन्द्र का यह कथन औचित्यतत्त्व का सिद्ध उद्घोष-मन्त्र है—

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

रस से सिद्ध काव्य का स्थिर जीवित औचित्य है। यहाँ 'रस' शब्द श्लिष्टार्थक है। रस का अर्थ है पारद। जिस प्रकार पारद (पारा) भस्म के सेवन से साधकों का शरीर 'सिद्ध' हो जाता है और उनमें स्थिर जीवनी शक्ति का सञ्चार हो जाता है, उसी प्रकार काव्य की भी दशा है। रस की सत्ता होने पर ही काव्य सिद्ध-प्रसिद्ध होता है और तब उस समय स्थिर जीवित रूप से औचित्य का जन्म होता है। अतः काव्य में रस की सत्ता होने पर ही औचित्य उसे स्थिर जीवनी शक्ति प्रदान करता है। काव्य की आत्मा रस है और औचित्य काव्य का जीवित है। आत्मा के बिना जीवन जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार रस के बिना औचित्य की सत्ता अर्थ नही रखती। रस के बिना औचित्य का नियामक ही कौन होगा?

'द्वय गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः'

कालिदास के इस पद्य में 'कपालिनः' (कपाल=खप्पर धारण करनेवाला) पद का औचित्य है, 'पिनाकिनः' (पिनाक धारण करनेवाला) पद का नही। क्यों? इस समस्या के हल करने का एक ही उपाय है पद्यगत रसध्वनि का विचार। कपाल लेकर भिक्षा माँगनेवाले व्यक्ति का उल्लेख घृणा उत्पन्न करता है। 'पिनाकी' धनुष धारण करनेवाले पुरुष की वीरता का द्योतक है। अतः प्रकृति रसानुकूल होने से 'कपाली' पद का

प्रयोग उचित है, 'पिनाकी' का नहीं। स्पष्ट है कि औचित्य का सम्बन्ध रसध्वनि से है और इसी तत्त्व का प्रतिपादन हमारे आलंकारिकों ने किया ने किया है। अतः भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'औचित्य' काव्य का बहिरङ्ग साधन न होकर नितान्त अन्तरङ्ग, गूढ़ तथा अतिसूक्ष्म तत्त्व है[१]। इस तथ्य की घोषणा तथा मीमांसा हमारे आलंकारिकों ने मार्मिकता के साथ विस्तार से की है। इसीलिए हम 'औचित्य' के सिद्धान्त को विश्व-साहित्य के इतिहास में भारतीय-साहित्य की महती तथा महिमाशालिनी देन मानते हैं। पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा-शास्त्र की एतद्विषयक तुलना से हम इसी महत्त्वपूर्ण परिणाम पर पहुंचते हैं।

---

१ क्षेमेन्द्र ने औचित्य को 'अतिसूक्ष्म तत्त्व' तथा उसके विचार को महाकवियों को भी अत्यन्त हर्ष देनेवाला माना है—

महाकवेरप्यतिसूक्ष्मतत्त्व—

विचारहर्षप्रदमेतदुक्तम् ॥

सुवृत्ततिलक, ३।३६

रीति-विचार

रीतिरात्मा काव्यस्य

—वामन

ससार के समग्र व्यापारों मे विचित्रता का साम्राज्य है। इस विश्व का मूल कारण ब्रह्म ही अविकारी होने से सर्वदा एकत्व तथा समत्व धारण करता है, परन्तु सन्तत परिणामी होने से यह जगत् सदा अनेकत्व तथा वैषम्य से चित्रित रहता है। प्रकृति के त्रिविध गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—के परिणाम होने से विश्व में विचित्रिता की सत्ता होना नैसर्गिक है। हम तीर्यक्‌योनि के प्राणियों की चर्चा नही करते, परन्तु मानवदेहधारी प्राणियों के स्वभाव मे इतनी विचित्रता पाई जाती है, इतनी विपमता उपलब्ध होती है कि उन्हे यथार्थरूप से परीक्षण करना नितान्त दुरूह व्यापार है। स्वभाव की भिन्नता के ऊपर मनुष्यों की रुचि की भिन्नता आश्रित है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'—कालिदास की यह सूक्ति सुन्दर ही नहीं, यथार्थ भी है। मनुष्यों की रुचि सचमुच भिन्न हुआ करती है। भौगोलिक स्थिति के कारण भिन्न भिन्न प्रान्तो के निवासियों की वेशभूषा मे पार्थक्य होना स्वाभाविक ही है, परन्तु क्या निरीक्षणकर्ताओं से यह बात परोक्ष है कि एक ही प्रान्त में, एक ही नगर मे, नही नही एक ही परिवार के व्यक्तियों के आचार विचार में भी, विभिन्नता का प्रकाण्ड रूप अपना अस्तित्व जमाने के लिए सदा चुनौती दिया करता है। भूषा के विन्यास मे, केशपाश के विधान में, वस्त्र के परिधान में तथा अलकार के निवेश मे, वैयक्तिक रुचि अपनी भव्य झाँकी सर्वदा दिखाया करती है। भगवान् ने जिन्हे विवेक के लोचन दिये हैं, जिन्हे सामाजिक घटनाओं के निरीक्षण तथा समीक्षण करने की शक्ति अभ्यास से तथा जन्म से प्राप्त हुई है, जो किसी भी घटना के बाहरी आवरण को हटाकर उसके अन्तस्तल तक पहुँच सकते हैं, वे भलीभाँति समझते हैं कि जगत् में रुचि की सर्वत्र विचित्रता उपलब्ध होती है तथा यह रुचि-वैचित्र्य स्वभाव-वैचित्र्य पर अवलम्बित और आश्रित रहता है।

वेशभूषा का ही उदाहरण लीजिए। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के निवासी न तो एक प्रकार के वस्त्र ही पहनते हैं और न एक प्रकार से आभूषण

ही धारण करते हैं। मद्रास का निवासी जिस प्रकार की धोती, चादर तथा पगड़ी पहनता है, बंगाल का निवासी वैसा परिधान धारण नही करता। बंगाली लोग अपनी ढीली धोती के लिए प्रसिद्ध हैं—उनका कुर्ता चुस्त होता है और शिर पर पगड़ी एकदम गायब। महाराष्ट्र सज्जन की पहचान उनकी विचित्र रंगीन पगड़ी तथा विचित्र जूतों से होती है। पुरुषों की वेशभूषा से स्त्रियों की वेशभूषा तो और भी विचित्र होती है। इन प्रान्तीय विशिष्टताओं का निरीक्षण प्राचीन नाट्यकर्ताओं ने भलीभाँति किया था और इसे वे 'प्रवृत्ति' के नाम से पुकारते थे। भरत ने नाट्यशास्त्र में चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है।[1] भरत की व्याख्या के अनुसार 'प्रवृत्ति' वह है जो पृथिवी पर के नाना देशों के वेष, भाषा तथा आचार की वार्ता का ख्यापन—प्रकटन—करे[2]। पृथिवी में नाना देश हैं। अतः प्रवृत्तियों की भी संख्या में विपुल होना चाहिए, तथापि लोकरूढ़ि के अनुसार भारतवर्ष में चार प्रवृत्तियों का निवेश स्वीकृत किया जाता है[3]—(१) आवन्ती—भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति; (२) दाक्षिणात्या—दक्षिण भारत की प्रवृत्ति; (३) औड्रमागधी—उड्र (उड़ीसा) तथा मगध अर्थात् पूर्वी-भारत की प्रवृत्ति; (४) पाञ्चाली—मध्यदेश की प्रवृत्ति। नाट्य मे लोकवृत्ति का अनुकरण होता है तथा लोक में उपलब्ध तथा उचित वेशभूषा तथा आचार का यथार्थ अनुकरण करना उसे उचित ही है। भारतीय नाट्यशास्त्र यथार्थवादी है, वह कल्पनालोक में विचरण करनेवाला शास्त्र नही है।

---

१ नाट्यशास्त्र—अध्याय १४

२ प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते—पृथिव्या नानादेशवेशभाषाचार-वार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। वृत्तिश्च निवेदने॥

—ना० शा० पृ० १६५

३ चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी॥—ना० शा० १४।३६

(क) सामान्य परिचय

अब भाषा के प्रयोग का निरीक्षण कीजिए। लेखक अपनी रुचि के अनुसार विचित्र प्रकार से अपने अर्थों का प्रतिपादन करता है। अर्थप्रतिपादन की उसकी विशिष्ट भङ्गी होती है। अपने अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए वह अपने ढङ्ग के पदों का प्रयोग करता है। यही उसकी 'रीति' होती है। 'रीति' शब्द रीङ् गतौ गत्यर्थक रीङ् धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से बनता है। अतः रीति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—मार्ग। पन्था, वीथि, गति, प्रस्थान—सब रीति के ही पर्यायवाची शब्द हैं। रीति किसी लेखक के विशिष्ट लेखन-प्रकार को सूचित करती है। किसी भाषा का लेखक अपनी रचना मे विशिष्ट प्रकार के पदों तथा वाक्यों का प्रयोग करता है। कोई लेखक साधारण अर्थ के प्रतिपादन के लिए भी असाधारण पदावली का व्यवहार करता है, तो अन्य लेखक असाधारण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए साधारण पदविन्यास प्रस्तुत करता है। अपने मनोगत भावों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न कवि नवीन तथा विचित्र मार्गों का अवलम्बन करते हैं। कभी अर्थ एक ही होता है, परन्तु उनके द्योतक शब्द तथा वाक्य का विन्यास भिन्न भिन्न लेखकों तथा कवियो के हाथ में भिन्न भिन्न हो जाता है। अतः तथ्य बात यह है कि प्रत्येक शिष्ट साहित्यिक की एक विशिष्ट शैली होती है। वह उसी शैली मे लिखता है, चाहे वह थोड़ा लिखे या बहुत लिखे। यही कारण है कि एक छोटे पद्य की समीक्षा से भी हम कवि की विशेषता का परिचय पा सकते हैं। जितने कवि हैं, उतनी रीतियाँ हैं। जितने लेखक हैं, उतनी शैलियाँ है। इसीलिए दण्डी का कथन है कि रीतियाँ अनन्त हैं, और उनका परस्पर विभेद नितान्त सूक्ष्म है। ऊख, दूध, गुड़, चीनी, मिश्री आदि के माधुर्य मे पार्थक्य है और बहुत अधिक पार्थक्य है इसका अनुभव प्रत्येक विवेकी पुरुष को होता है। दूध के मिठास का प्रेमी उसमें चीनी डालकर उसे विकृत बनाना नहीं चाहता। दूध के मिठास में एक विचित्रता है जो चीनी के मिठास में भी नहीं है। चीनी तथा मिश्री के मिठास का पार्थक्य तो प्रत्यक्ष ही मालूम पड़ता है परन्तु उसके भेद को ठीक ठीक प्रकट करने की क्षमता सरस्वती में भी नही है। उसी प्रकार कवियों की शैली

विभिन्न होती हैं। उनका विभेद इतना सूक्ष्म है कि भगवती सरस्वती भी इन विभेदों का निरूपण यथार्थरूप से नहीं कर सकती[१]। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाश' में दण्डी के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ही पुष्टि की है[२]। उनका कहना है कि प्रत्येक वचन, प्रत्येक पुरुष, अवान्तर जाति—आदि के भेद से रीतिया वस्तुतः अनन्त हैं। वे ही अक्षरों के विन्यास रहते हैं, वे ही पदों की पंक्तियाँ रहती हैं, परन्तु प्रत्येक पुरुष की विशिष्टता के कारण उनकी सरस्वती भिन्न भिन्न आकार धारण करती है। इसीलिए महाकवि माघ ने कवि की उपमा तन्तुवाय के साथ दी है। डोरे वे ही रहते हैं, परन्तु चतुर तन्तुवाय उनके विविध विन्यास से नितान्त मनोहर साड़ी बनाने में समर्थ होता है। हमारे कवि की भी दशा ऐसी है। वे ही पुराने परिचित शब्द होते हैं; परन्तु उनका गुम्फन नवीन प्रकार से करके वह अत्यन्त हृदयावर्जक सरस कविता की उद्भावना करता है। अतः कवि की यह विशिष्टता ही ललित कविता के उद्गम में समर्थ होती है:—

अदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम्।
प्रसारयन्ति चतुराश्चित्रां वाचं पटीमिव[३]॥

---

१ अस्त्यनेको गिरा मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥ काव्यादर्श १।४०
इति मार्गद्वय भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥
इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तरं महत्
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते॥
—काव्या० १।१०१-२

२ प्रतिवचन प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्धैव॥
त एवाक्षरविन्यासास्ता एवाक्षरपंक्तयः
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती॥
—भावप्रकाशन पृ० ११-१२

३ शिशुपालवध २।७४

एक विशिष्ट रीति का प्रयोग ही सच्चे कवि की कसौटी है। सच्चा कवि या लेखक वही है जो अपने भावों को प्रकट करने के निमित्त अपनी निजी शैली का प्रयोग करता है। महाकवि नीलकण्ठ दीक्षित रीति की प्रशसा में लिखते हैं कि अर्थ वही हैं, शब्द भी वे ही हैं, अक्षरों का चमत्कार भी वैसा ही है, फिर भी उक्ति न तो शोभित होती है और न वह पाठकों के हृदय का आवर्जन कर पाती है। इसका कारण क्या है? रीति का अभाव। रीति से सम्पन्न होते ही उन परिचित शब्दों में तथा अभ्यस्त वाक्यो में नवीन स्फूर्ति आ जाती है, नूतन जीवन का संचार हो जाता है। वह कमनीय कविता रसिकों का हृदय लुभाने लगती है—

सत्यर्थे सत्सु शब्देषु सति चाक्षरडम्बरे।
शोभते यं विना नोक्तिः स पन्था इति घुष्यते।

नलचरित—१।१०

वे कवि सचमुच अन्ध हैं जो दूसरों के मार्ग पर चलते हैं। वे कवि सचमुच कुञ्जर के समान श्रेष्ठ तथा माननीय हैं जो अपने लिए नये मार्ग का उद्घाटन करते हैं। अतः विशिष्ट रीति से सम्पन्न होना ही कवित्व की कसौटी है—

अन्धास्ते कवयो येषां पन्थाः क्षुण्णः परैर्भवेत।
परेषां तु यदा क्रान्तः पन्थास्ते कविकुंजराः॥

गगावतरण काव्य—१।१७

रीति लेखक के व्यक्तित्व की प्रतिनिधि होती है। जिस प्रकार लेखक का स्वभाव होगा, उसकी रीति भी उसी प्रकार की होगी। कवि की उद्दण्डता या स्वच्छन्दता उसकी रचना की रीति में प्रतिफालत होती है। यदि लेखक ढुलमुल सिंह के समान किसी एक सिद्धान्त का अनुयायी न होकर विचारों मे शिथिल रहता है, तो उसका यह चरित्र उसकी लेखन-शैली के अध्ययन से भलीभाँति सकेतित किया जा सकता है। तथ्य बात यह है कि रीति एक वैयक्तिक वस्तु है। अग्रेजी मे यह कहावत प्रसिद्ध है कि

स्टाइल इज दी मैन[1] = रीति ही मनुष्य है। इसका भी यह रहस्य है। फिर भी रीतियो के समीक्षण के लिए किसी प्रान्त या प्रदेशविशेष के कवि समुदाय की सामान्य शैली का अनुशीलन प्राचीन काल से होता चला आया है। एक भौगोलिक इकाई में उत्पन्न होनेवाले कवियों के ऊपर स्थानीय भौगोलिक स्थिति का, साहित्यिक परम्परा का तथा समान शिक्षण का, प्रभाव अवश्यमेव पड़ता है। यही कारण है कि वैयक्तिक गुणों की भिन्नता होने पर भी प्रान्तविशेष के कवियो की रीति में विलक्षण सादृश्य दिखलाई पड़ता है। आजकल भी यह बात सत्य है और प्राचीन काल में भी यह बात इसी प्रकार सत्य थी।

(ख) ऐतिहासिक विकाश

संस्कृत के अलंकार ग्रन्थों में निबद्ध रीतियो के इतिहास को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) पहला युग वह था जब गौड़ी, पाञ्चाली, वैदर्भी आदि रीतियाँ वस्तुतः निजी भौगोलिक महत्त्व रखती थीं। अर्थात् इन इन प्रदेशो में रहनेवाले कविगण वस्तुतः उसी प्रदेश की शैली मे अपनी काव्यरचना करते थे जिस प्रदेश के वे निवासी थे। जैसे गौड़—बङ्गाल देश का निवासी कवि सचमुच समासबहुला, गाढबन्धसम्पन्ना गौड़ी रीति में ही अपनी कविता रचता था तथा विदर्भ का निवासी कवि वैदर्भी में।

(२) दूसरा युग तब आया जब इन नामों का भौगोलिक महत्त्व जाता रहा और विषय की दृष्टि से इन शैलियों का रूपनिर्धारण सदा के लिये कर दिया गया। जैसें युद्ध, संघर्ष, भयानक वस्तु आदि के वर्णन के लिये गौड़ी रीति का प्रयोग सब के लिये अनिवार्य ठहरा दिया गया। बङ्गाल से हजारों मील दूर रामेश्वरम् में रहनेवाला भी कवि यदि युद्ध का वर्णन करेगा

---

1 Style is the man. इसके समर्थन के लिये द्रष्टव्य

Croce—Aes thetic पृष्ठ ८७-८८

तो उसे गौड़ी रीति ही का आश्रय लेना पड़ेगा। इसी प्रकार शृंगार-रस-सयोग तथा विप्रलम्भ—ऋतु, उपवन आदि सुकुमार वस्तुओ के वर्णन में वैदर्भी रीति का प्रयोग करना सभी कवियो के लिए आवश्यक ठहराया गया। विदर्भ से कई सौ कोस दूरस्थित काश्मीरी कवि भी शृङ्गार के वर्णन में अपनी भारती की स्फूर्ति के समय इसी वैदर्भी का अवलम्बन करेगा। इस युग का प्रभाव बहुत काल तक रहा।

(३) तृतीय युग का आरम्भ कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवित' से होता है। हम कह आये हैं कि साहित्यशास्त्र के इतिहास में कुन्तक एक मौलिक ग्रन्थकार हैं। उनकी सम्मति में रीतियों का साक्षात् सम्पर्क कवि से है देशविशेष से नही। कवि के ही स्वभाव तथा चरित्र की झलक उसकी कविता मे सर्वथा मिलती है। इसीलिये उन्होंने रीतियो के नाम से भौगोलिक संबंध को सदा के लिये दूर करने के लिये इन प्राचीन नामों के स्थान पर नये नामो की उद्भावना की है। कुन्तक ने वैदर्भी रीति के लिए **'सुकुमार मार्ग'** का नाम दिया है। वे गौड़ी रीति को **'विचित्र मार्ग'** कहते हैं और पाञ्चाली रीति का अभिधान **'मध्यम मार्ग'** बतलाते हैं। यद्यपि ये नाम वैज्ञानिक ढंग से रखे जाने से सरल एव अभिव्यञ्जक हैं परन्तु साहित्यशास्त्र मे ये नाम अधिक प्रसिद्ध नही हो सके। इसे दैवदुर्विपाक ही मानना चाहिए कि मौलिक होने पर भी कुन्तक के सिद्धान्त कवि-जगत् मे तथा अलकार-ससार मे विशेष प्रभावशाली सिद्ध नही हुए। उनका 'वक्रोक्ति' मत ही साहित्यशास्त्र के इतिहास मे ऐसा ही एक सम्प्रदाय है कि जिसका अनुयायी कोई भी दिखलाई नहीं पड़ता। जब वक्रोक्ति के मौलिक तथ्य की यह दशा है, तब इन नवीन मार्गों के नामग्रहण की कथा तो नितान्त अकल्पनीय है।

बाणभट्ट

किसी जाति या राष्ट्र के आचार विचार, वेश-भूषा के सम्बन्ध में जिस प्रकार की विशेषता हुआ करती है उसी प्रकार की विशेषता छोटे-छोटे प्रान्तों में भी पाई जाती है। जातीय या राष्ट्रीय विशेषता का क्षेत्र व्यापक होता है और प्रान्तीय विशेषता का क्षेत्र तदपेक्षया संकीर्ण होता है। भारतवर्ष एक महान् राष्ट्र है। इसके प्रान्त भी इतने लम्बे चौड़े हैं कि वे किसी अन्य भूभाग के देश से समानता रखते हैं। प्राचीन भारत के विभिन्न प्रान्तों की साहित्यिक विशेषताओं का वर्णन सर्वप्रथम बाणभट्ट ने किया है। हर्षचरित के आरम्भ मे इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि उदीच्य (उत्तरी भारत) लोग श्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। प्रतीच्य (भारत के पश्चिमी) लोग केवल अर्थ—अर्थमात्रकम्—को पसन्द करते हैं। अर्थ को सुशोभित, सुन्दर तथा समीचीन रूप से अभिव्यक्त करने के लिये पल्लवित शब्दावली की आवश्यकता होती है परन्तु पश्चिमी भारत के कविगण इस प्रकार की मनोरम पदावली की अवहेलना कर केवल अलंकारहीन अर्थ का ही प्रयोग अपनी कविता में करते हैं। दाक्षिणात्य कवियों में उत्प्रेक्षा के लिये आदर है। वे लोग अपने काव्य को कमनीय बनाने के लिये उत्प्रेक्षालंकार का बहुल प्रयोग करते हैं। गौड़ (पूर्वी) कवियों में केवल वर्णों का आडम्बर ही दिखाई पड़ता है :—

> श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
> उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः[१]॥

इस पद्य से स्पष्ट है कि बाणभट्ट के समय (सप्तम शतक) भारत वर्ष की चारों दिशाओं में चार प्रकार की रीतियाँ वर्तमान थी। परन्तु बाणभट्ट की अपनी सम्मति यह है कि इन चारो शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है, इनका पृथक् प्रयोग उतना श्लाघनीय नही होता, जितना एकत्र प्रयोग। उनका महत्त्वपूर्ण कथन है:—

> नवोऽर्थो, जातिरग्राम्या; श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
> विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

हर्षचरित—१।८

---

१ हर्षचरित—प्रस्तावना, उच्छ्वास १, श्लोक ७

(१) नवोऽर्थः—केवल अर्थ का प्रदर्शन कविता को नीरस तथा फीका बना देता है। अतः नयी भावभगी का उपयोग कर अर्थ में नूतनता का सचार करना आवश्यक होता है।

(२) जातिरग्राम्या—किसी पदार्थ के यथावत् स्थिति या स्वरूप का ठीक ठीक निरूपण करना 'जाति' या 'स्वभावोक्ति' कहलाता है। परन्तु लोक के अत्यन्त अनुकरण पर निबद्ध कविता मे ग्राम्यता दोष अधिकतर हुआ करता है। इस दोष का परिहार तभी सम्भव हो सकता है, जब कवि साधारण धरातल से ऊपर उठकर वर्णन में अपनी कल्पना का उपयोग करता है।

(३) श्लेषोऽक्लिष्टः—श्लेष का प्रयोग कविता मे विशेष चमत्कार-जनक होता है, परन्तु यह सरस तथा सुन्दर तभी हो सकता है जब उसके अर्थ समझने मे किसी प्रकार की खीचातानी न हो। प्रसन्नता तथा सरसता श्लेष की सच्ची कसौटी है। श्लेष को कभी क्लेशोत्पादक होना ही न चाहिए। इसे ही कहते हैं—प्रसन्न श्लेष।

(४) स्फुटो रसः—रस कविता का जीवातु ठहरा। उसे कविता मे स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करना कवि का प्रधान कर्तव्य है। परम्परा सम्बन्ध से नीरस काव्यों मे भी रस का अस्तित्व खोजकर निकाला जा सकता है, परन्तु यह द्रविड प्राणायाम की तरह अत्यन्त क्लेशकारक तथा उद्वेगजनक होता है। इसलिए रस की स्फुटता पर बाणभट्ट का इतना आग्रह है।

(५) विकट अक्षरबन्ध—अक्षर विन्यासों को विकट होना चाहिए। विकट उदारता गुण का सूचक प्रतीत होता है। विकटता वह गुण है जिसके रहने पर काव्य के पद नाचते हुए के समान प्रतीत होते हैं। पदों मे स्फूर्ति होनी चाहिए। उत्तेजक पदों का विन्यास तभी कविता मे माना जा सकता है, जब रस की स्फुटता बनी हो। रस की स्फुटता के अभाव मे अक्षरडम्बर अलंकार का नीरस झकार ही उत्पन्न करता है, उसमें सहृदयों को आवर्जन करने की क्षमता कहाँ? ध्यान देने की बात है कि बाणभट्ट स्वयं गौड़ कवि (पुरबिया कवि) ठहरे, तथापि वे अक्षरडम्बर मात्र के उपासक नही हैं, प्रत्युत सच्चे कवि के भाँति इस पद्य मे उल्लिखित समग्र सामग्री के एकीकरण पर

ही उनका आग्रह है। बाण स्वयं उच्चकोटि के प्रतिभासम्पन्न कवि थे। उनकी यह स्वानुभूति है कि कविता की उदात्तता के लिए नवीन अर्थ, अग्राम्य स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, विकट अक्षर तथा स्फुट रस—इन सब का एकत्र निवेश नितात आवश्यक है। इस समस्त सामग्री का एक स्थान पर होना वे जरूर दुर्लभ मानते हैं। परन्तु प्रतिभासम्पन्न कवि के लिए कुछ भी असाध्य नही है।

इन पूर्वोक्त पद्यो के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाणभट्ट ने चार प्रकार की रीतियों का यहाँ उल्लेख किया है जो किसी विशिष्ट उपकरण ही को काव्य मे विशेष महत्त्व देती थी। परन्तु बाण का अपना मत यह था कि कवि को किसी शैली का दास नही होना चाहिए। उसे तो समग्र शैलियो के सुन्दर तत्त्वों को ग्रहण कर अपने भावों का प्रकटन करना चाहिए। कवि रीति का दास नही है, प्रत्युत रीति ही वश्यवाक् रससिद्ध कवीश्वर की दासी बनकर उसकी अनुगामिनी बनती है। अब व्यावहारिक कवि से हटकर सिद्धान्तवादी आलोचकों की ओर दृष्टिपात करने से भामह ही प्रथम आलकारिक हैं जिन्होंने रीति के तत्त्व की समीक्षा अपने ग्रथ में की है।

भामह

अलंकारशास्त्र के इतिहास मे रीति के चर्चा की प्रथम अवतार भामह के 'काव्यालंकार' में होता है। भरत मुनि ने नाट्योपयोगी प्रवृत्तियों और वृत्तियों का बड़ा ही सुन्दर विवरण अपने 'नाट्यशास्त्र' मे दिया है। जिन काव्य-गुणों के आधार पर कालान्तर में रीति का विशालकाय प्रासाद खड़ा किया, वे 'गुण' भारत में विद्यमान हैं। तथापि रीतियो का वर्णन उनके ग्रन्थ मे नहीं मिलता। रीतियों के प्रतिपादक प्रथम आलकारिक भामह ही हैं। उनके ग्रन्थ की समीक्षा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि भामह के समय में दो प्रकार के 'मार्ग' (रीति) थे—वैदर्भ मार्ग तथा गौडीय मार्ग। ये दोनों अपनी विशेषता धारण करते हुए साहित्य के स्वतन्त्र मार्ग के रूप में परिनिष्ठित हो चुके थे। बाणभट्ट की चार साहित्यिक पद्धतियो में दो पद्धतियाँ ही शेष रह गयी। उदीच्य तथा प्रतीच्य पद्धति लुप्त हो गयी। बाण का गौडीय मार्ग ठीक उसी रूप में उन्हीं विशिष्टताओं के साथ ग्रहण किया

गया परन्तु उनकी दाक्षिणात्या पद्धति वैदर्भी के रूप में स्वीकृत हुई। दक्षिण देश के अनेक प्रान्तों मे प्राचीन विदर्भ (आधुनिक 'बरार' प्रान्त) ही कला-विलास तथा काव्य-सौन्दर्य का निकेतन समझा जाता है। ऐसी परम्परा हमारे साहित्य में बड़े प्राचीन काल से चली आती है। भरत मुनि ने इसीलिए अपनी दाक्षिणात्या प्रवृत्ति मे दाक्षिणात्य कवियों के सौकुमार्य का उल्लेख किया है[1]। दाक्षिणात्य कवियों मे कभी उत्प्रेक्षा की प्रधानता थी। परन्तु विदर्भ के कवियों ने कविता के एक ललित मार्ग का आविष्कार किया जो उन्हीं के नाम पर वैदर्भ मार्ग कहलाने लगा। गौड़ देश (बंगाल) के कवि ऐसी कविता करते थे जिसमे अलंकारों की झंकार, अक्षरों का आडम्बर तथा बन्ध की गाढ़ता आलोचकों के केवल कानो को ही अपनी ओर आकृष्ट करती थी, उनके हृदय को नही; क्योंकि उसमें अर्थ का अभाव बेतरह खटकता था। इस प्रकार कवि-गोष्ठी मे आलोचना के अवसर पर दो ही विभिन्न मार्ग प्रस्तुत हुए—**वैदर्भ मार्ग और गौड मार्ग**। सरल शब्द तथा सरस अर्थ से समन्वित होने के कारण वैदर्भ मार्ग आलोचको के सम्मान तथा आदर का पात्र बन सका। परन्तु गौड़ मार्ग के प्रति उनकी स्वाभाविक अवहेलना बनी रही। भामह के समय मे साहित्य-जगत् की यही दशा थी। भामह इस एकपक्षीय सिद्धान्त के अनुयायी नही थे। वे मौलिक आलोचक थे। किसी निःसार परम्परा की दासता उनके व्यक्तित्व से विपरीत थी।

इस विषय मे भामह का कहना है कि वैदर्भी रीति की आँख मूँद कर प्रशसा करना उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार गौड मार्ग की आँख मूँद कर निन्दा करना। वैदर्भ मार्ग की बिना समझे बूझे प्रशंसा करना केवल परम्परा का पालनमात्र है। यदि प्राचीनों ने गुणों पर रीझ कर वैदर्भी को आदरणीय रीति बतलाया, तो क्या हमे भी उसी मार्ग का पथिक बनना चाहिये? इसी प्रकार गौड़ी रीति की अवहेलना करना एक प्राचीन अर्थहीन

१—तत्र दाक्षिणात्या भवेत् बहुगीतनृत्यवाद्या।
कैशिकीप्राया, चतुरमधुरललिताङ्गाभिनया।

—भरत

परिपाटी का ही अन्ध पालनमात्र है। हमें तो काव्य के वास्तविक गुणों की खोज करनी चाहिए। ये जिस मार्ग में उपलब्ध हों वही काव्य का यथार्थ मार्ग है। सुन्दर काव्य के गुण हैं[१]—अलङ्कारवत्ता (अलङ्कारों से विभूषित होना), अग्राम्यत्व (अशिष्ट शब्द तथा अशिष्ट भाव का अभाव), अर्थ्यत्व (चमत्कार पूर्ण अर्थ से युक्त होना), न्याय्यत्व (लोक तथा शास्त्र दोनों के मान्य सिद्धान्तों से युक्त होना), अनाकुलत्व (शब्दाडम्बर से रहित होना)। अच्छे काव्य के परिचायक ये ही गुण हैं। इन गुणों के अतिरिक्त काव्य मे वक्रोक्ति का होना भी भामह के मत से अत्यन्त आवश्यक है[२]। शोभन काव्य की परीक्षा इन्हीं गुणों की सत्ता के कारण यथार्थतः की जा सकती है। जहाँ कहीं भी ये उपलब्ध न हों वहाँ हमें निःसंकोच भाव से कहना पड़ेगा कि यह सत् काव्य नहीं है, चाहे उसमें वैदर्भ मार्ग हो या गौडीय मार्ग हो। काव्य का स्वरूप सामान्य गुणो की सत्ता से सम्पन्न होता है, रीतियों के विन्यास से नहीं। किसी भी रचना को काव्य के महनीय अभिधान पाने की योग्यता तभी उत्पन्न होती है, जब काव्य के माननीय तथा मान्य गुण उसमे उपलब्ध हों। काव्य के स्वरूप निष्पन्न होने पर ही उसमें रीति का विचार किया जा सकता है। अतः भामह की दृष्टि में रीति का विचार गौण है, स्वरूप का विचार प्रधान।

१—अलङ्कारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥

भामहः १।३५

२—युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते॥

—वही १।३०

रीति के विषय मे भामह की दृष्टि बड़ी ही विवेचनापूर्ण है। वे परम्परा के पक्षपाती न होकर विचार-स्वातन्त्र्य के उपासक हैं। उनका कहना है कि वैदर्भी भी यदि अपनी सीमा को पार कर जाय तो वह भी अवाञ्छनीय है। परन्तु यदि गौड़ी अपनी सीमा के भीतर रहते हुए पूर्वोक्त काव्य-गुणों से विभूषित हो, तो वह सर्वथा श्लाघनीय है। वैदर्भी में यदि पुष्टार्थता न हो, वक्रोक्ति का अभाव हो, प्रसादयुक्त केवल कोमल पदों की सत्ता हो, तो वह केवल गान की भाँति श्रुति-पेशल हो सकती है—उससे केवल हमारे कानों का प्रसादन भले ही हो जाय, परन्तु वह हमारे हृदय को स्पर्श नहीं कर सकती ?

अपुष्टार्थमवक्रोक्तिप्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥

—भामह १ । ३४

इसी प्रकार परम्परा के द्वारा निन्दित गौडीय मार्ग भी यदि अर्थवत्ता, सालंकारता, अग्राम्यता, न्याय्यता, तथा अनाकुलता से परिपुष्ट हो तो वह नितान्त शोभन है, क्योंकि जिन गुणों की सत्ता काव्यत्व के लिये अपेक्षित है वे उसमे विद्यमान हैं। वैदर्भी भी हो और वह इन गुणों से हीन हो, तो उसे सुन्दर मानने के लिये हम कथमपि उद्यत नहीं हो सकते ।:—

अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयः, वैदर्भमपि नान्यथा ॥

—वही १ । ३५

रीति के विषय मे भामह का यही मत है। इससे मालूम होता है कि आलोचना के क्षेत्र में भामह किसी अन्ध परम्परा के भक्त नहीं थे, बल्कि स्वतन्त्र विचारधारा के प्रवर्तक थे। उनका मत था कि काव्य के मूलतत्त्व जहाँ मिले वही सत्काव्य है। वैदर्भ मार्ग को ही सर्वथा शोभन मानना तथा गौड़ मार्ग को सदा तिरस्कृत करना—दोनों ही एकपक्षीय सिद्धान्त हैं और काव्य जगत् में सर्वथा उपेक्षणीय हैं।

दण्डी

रीति के इतिहास में आचार्य दण्डी का नाम नितान्त उल्लेखनीय है। संस्कृत अलंकार-शास्त्र के इतिहास मे रीतियों का स्वरूप—निरूपण तथा पार्थक्यनिर्देश दण्डी ने ही सर्वप्रथम किया। उनके रीतिविषयक सिद्धान्त जानने के पहले यह जानना आवश्यक है कि वे अलकार-शास्त्र के किस सम्प्रदाय के अनुयायी थे। काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में रीतियों के विशिष्ट विवेचन से अनेक आलोचक इन्हे 'रीति सम्प्रदाय' का पक्षपाती मानते हैं। परन्तु तथ्य बात इसके ठीक विपरीत है। दण्डी तो भामह से भी बढ़कर काव्य में अलंकार के पक्षपाती है। इनकी दृष्टि में काव्य की शोभा करनेवाले जितने धर्म होते हैं उनकी सामान्य संज्ञा है—'अलकार'[१]। प्रसाद, माधुर्य्यादि गुण काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के कारण उसी प्रकार अलंकार पदवाच्य हैं, जिस प्रकार शब्द तथा अर्थ को विभूषित करनेवाले अनुप्रास तथा उपमादि अलंकार। दण्डी के मतानुसार नाट्य के भी समस्त शोभाविधायक अंग—जैसे सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, लक्षण—सब अलकार के अन्तर्गत सन्निविष्ट होते हैं। इसका उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों मे वर्णन किया है[२]। दण्डी की इस पद्धति को समझ लेने पर हमें उनकी रीति की कल्पना समझने मे प्रयास नही करना पड़ता।

दण्डी केवल सिद्धान्तवादी न थे। वे स्वयं कविकर्म से नितान्त अभिज्ञ थे। काव्यादर्श में उदाहरणरूप से दिये गये पद्य दण्डी की काव्यकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। वे अपने अनुभव से जानते हैं कि प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट शैली होती है। एक ही विषय पर लिखनेवाले कवियों की रीतियों मे भी अत्यधिक भिन्नता दीख पड़ती है। एक ही रामचरित पर निबद्ध काव्यों की भिन्नता इस तथ्य के पुष्टीकरण के लिये पर्याप्त प्रमाण है। कवि अनन्त

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मान्, अलकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥ काव्यादर्श २।१

२ यच्च सन्ध्यङ्ग—वृत्यङ्ग—लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टम् अलंकारतयैव नः।
—काव्यादर्श २। ३६६

हैं तो उनकी काव्य-शैलियाँ भी अनन्त हैं। 'कवि अनन्त, कविमार्ग अनन्ता।' जिस प्रकार ऊख, दूध, गुड़, चीनी, मिश्री आदि मधुर वस्तुओं मे माधुर्य है परन्तु वह माधुर्य एक प्रकार का न होकर नाना प्रकार के विशेष से युक्त है। माधुर्य के इन विभेदों को स्पष्टतः प्रकट करने की योग्यता स्वयं भगवती सरस्वती में भी नहीं है, साधारण जनो की तो बात ही दूर रही। शैली का विश्लेषण भी इसी प्रकार गम्भीर तथा अनाख्येय वस्तु है। कालिदास, पद्मगुप्त परिमल, बिल्हण प्रभृति अनेक कवि एक ही वैदर्भी के उपासक हैं; परन्तु सूक्ष्म रीति से अनुसन्धान करने पर इन सभी की काव्य शैलियो में कुछ न कुछ पार्थक्य बना ही हुआ है। वह पार्थक्य इतना सूक्ष्म, इतना गूढ़ तथा इतना विचित्र है कि दण्डी की दृष्टि मे सरस्वती भी उसका ठीक ठीक विश्लेषण नही कर सकती[1]। अपने ग्रन्थ के दूसर स्थल पर भी दण्डी ने कवि-वाणी के परस्परभिन्न, नितान्त निगूढ़ तथा सातिशय सूक्ष्म अनेक मार्गों का उल्लेख किया है[2]। सामान्यतः रीति के विषय मे दण्डी के ये ही उद्‌गार हैं। दण्डी ने 'रीति' शब्द के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का ही सर्वत्र उल्लेख किया है। उन्होंने नितान्त विभिन्न होने के कारण वैदर्भ और गौड़ीय इन्हीं दोनों मार्गों का अपने ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में विस्तार के साथ वर्णन किया है। दण्डी के समय मे वैदर्भ तथा गौड़ीय नामों का भौगोलिक महत्त्व था अर्थात् विदर्भ देश—आधुनिक बरार प्रान्त—के रहनेवाले कवि ही अपने काव्यों में वैदर्भ मार्ग का अनुसरण करते थे। इसी प्रकार से गौड़-बंगाल—देश निवासियों की कविता गौड़ीरीति प्रधान होती थी। आजकल

---

[1] इति मार्गद्वय भिन्नं, तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते, वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥
इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातु, सरस्वत्यापि शक्यते॥

—काव्यादर्श १। १०१-१०२

[2] अस्त्यनेको गिरा मार्गः, सूक्ष्मभेदः परस्परम्।

काव्यादर्श १।४०

इन शब्दों का ... रूढ़िगत प्रयोग होता है उसका उस समय सर्वथा अभाव था।"

दण्डी ने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता ओज, कान्ति, तथा समाधि इन दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है[1]। इनकी दृष्टि में ये दसों गुण काव्य के गुण न होकर एक विशिष्ट मार्ग के ही गुण हैं। गौड़ मार्ग में प्रायः इन गुणो का विपर्यय विद्यमान रहता है। 'प्रायः' कहने का विशिष्ट स्वारस्य है। गौड मार्ग मे वैदर्भ मार्ग के समग्र दसों गुणों का विपर्यय नही रहता, बल्कि पूर्वोक्त गुणो मे से तीन गुण—अर्थव्यक्ति औदार्य तथा समाधि—दोनों मार्गों में तुल्य रूप से विद्यमान रहते हैं। इनसे पृथक् सात गुणों की सत्ता केवल वैदर्भ मार्ग में ही रहती है। गौडीय मार्ग में इन सातो के विपर्यय विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार दण्डी ने मार्गों का सम्बन्ध विशिष्ट गुणो के साथ स्थापित किया है। इनके पहले भामह ने यद्यपि गुण और रीति के परस्पर संबध का उल्लेख स्पष्ट शब्दो में नहीं किया है तथापि उनके पद्यो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रीति का सिद्धान्त गुण के ऊपर अवलम्बित था। वैदर्भी रीति के सम्बन्ध में उन्होने कोमलत्व, प्रसन्नत्व, तथा श्रुतिपेशलत्व गुणों का निर्देश किया है[2]। परन्तु भामह इतना ही कहकर रुक नही जाते, प्रत्युत आगे बढ़कर काव्य के लिए ग्राह्य शैली में अर्थ-पोष, वक्रोक्ति, अर्थ्यत्व, न्याय्यत्व तथा अनाकुलत्व को भी प्रधान साधन मानते हैं। परन्तु इन साधनों का क्षेत्र गुण की परिमित सीमा

---

१ श्लेषः, प्रसादः, समता, माधुर्य, सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

वही १।४१—४२

२ अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्न गेयमिवेद तु केवलं श्रुतिपेशलम्।

—भामह १।३४

से कही अधिक बढ़कर है। इन साधनों को काव्य-शैली में महत्त्व प्रदान करने का अर्थ यह है कि शैली केवल कतिपय बाह्य गुणों पर ही अवलम्बित नहीं रहती प्रत्युत वह सूक्ष्म अन्तरङ्ग गुणों की अपेक्षा रखती है। ये आभ्यन्तर गुण काव्य के स्वरूप के निष्पादक होते हैं तथा काव्य में नितान्त स्पृहणीय होते हैं। इन साधनों से हीन होने पर काव्य मे काव्यत्व की ही हानि हो जाती है। भामह के इस मर्म को दण्डी ने खूब समझा है। वे भी रीति को केवल शब्द-सौन्दर्य के उत्पादक गुणों पर ही आश्रित नही मानते, प्रत्युत रीति मे अलकारों तथा रसो का भी निवेश भलीभाँति स्वीकार करते हैं। इसी उदात्त दृष्टि के कारण दण्डी की आलोचना हमारे लिए विशेष महत्त्व रखती है।

दण्डी की दृष्टि में वैदर्भी काव्य की उत्तम शैली और गौडी काव्य की निकृष्ट शैली थी। दण्डी ने रीतियो का सम्बन्ध गुणो के साथ नियत किया है। ये गुण संख्या मे १० हैं—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) माधुर्य, (५) सुकुमारता, (६) अर्थव्यक्ति, (७) उदारता, (८) ओज, (९) कान्ति और (१०) समाधि। ये गुण प्राचीन हैं। भरत ने ही इनका सर्वप्रथम उल्लेख किया है[१]। परन्तु भरत और दण्डी की कल्पनाओं मे कुछ अन्तर है। भरत के अनुसार ये दसों 'काव्यस्य गुणा दशैते'—काव्यार्थ के गुण हैं[२] अर्थात् काव्यार्थ को भूषित करनेवाले सामान्य गुण हैं, परन्तु दण्डी के अनुसार ये वैदर्भमार्ग के प्राण हैं (इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः १।४२) अर्थात् काव्यार्थ के पोषक न होकर वैदर्भ-मार्ग के जीवनाधायक हैं। वैदर्भमार्ग इस गुणों से हीन होने पर अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। अतः दण्डी के मत मे ये गुण काव्य के सामान्य गुण न होकर काव्य की एक विशिष्ट शैली के गुण हैं। गौडमार्ग में अर्थात्

---

१ नाट्यशास्त्र १७।९६—१०७

२ श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥
—नाट्यशास्त्र १७।९६

गौडी रीति में इन गुणों के 'प्रायः' विपर्यय रहते हैं। 'प्रायः' शब्द बड़े महत्त्व का है। ऊपर दिखलाया गया है कि गौडमार्ग में इन समग्र गुणों का विपर्यय (विपरीत भाव) नहीं होता, प्रत्युत कुछ गुण ऐसे भी हैं जिनकी स्थिति उभय रीतियों में समान भाव से रहती है। दोनों मार्गों के विशिष्ट गुणों तथा उनके विपर्ययों की यह तालिका इस विभेद को स्पष्ट कर देगी।

वैदर्भमार्ग	गौडमार्ग
गुण	विपर्यय
(१) श्लेष	शैथिल्य
(२) प्रसाद	व्युत्पन्न
(३) समता	वैषम्य
(४) माधुर्य	
(क) शब्दगत = श्रुत्यनुप्रास	(क) वर्णानुप्रास
(ख) अर्थगत = अग्राम्यता	(ख) ×
(५) सौकुमार्य	दीप्त
(६) अर्थव्यक्ति	×
(७) औदार्य	×
(८) ओज (गद्य में केवल)	गद्य-पद्य दोनो में ओज
(९) कान्ति	अत्युक्ति
(१०) समाधि	×

इस तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थव्यक्ति, औदार्य तथा समाधि— ये तीन गुण दोनों मार्गों में स्वीकृत होते हैं। अर्थगत माधुर्य (जो ग्राम्यदोष का अभावरूप है) दोनों में मान्य हैं। इनसे अन्य गुणों की सत्ता वैदर्भी मार्ग में ही अंगीकृत होती है और इनके विपर्यय—अर्थात् इनसे विपरीत साधन-ही गौडमार्ग मे सिद्ध माने जाते हैं। अतः दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग काव्य का श्लाघनीय मार्ग है और गौड मार्ग वर्जनीय मार्ग।

गुण-विवरण

(१) श्लेष

श्लेष का अर्थ है गाढबन्धता। रचना में गाढबन्धता महाप्राण वर्णों के प्रयोग करने से उत्पन्न होती है। इसके विपरीत 'शैथिल्य' का अर्थ है—शिथिलता—ढीलापन। कोमल वर्णों अथवा अल्पप्राण अक्षरों के बहुल प्रयोग से काव्य में 'शैथिल्य' उत्पन्न होता है। 'मालती की माला भ्रमरों से व्याप्त है' इस एक ही अर्थ के प्रकाशन के लिए दोनों मार्ग-वाले दो भिन्न भिन्न वाक्यों का प्रयोग करते हैं—

वैदर्भ—मालतीदाम लंघितं भ्रमरैः।
गौड—मालतीमाला लोलालिकलिला ॥

यहाँ 'लङ्घित भ्रमरैः' में संयुक्त घ तथा भ्र, के प्रयोग से गाढबन्धता आ गयी है, परन्तु दूसरे वाक्य में लकार के बहुल प्रयोग ने शैथिल्य की परमावधि कर दी है। वर्णों में सबसे कोमल वर्ण तो लकार ही होता है।

(२) प्रसाद

प्रसिद्ध अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण शब्द सुनते ही जहाँ अर्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है वही प्रसादगुण है। 'प्रसिद्धार्थ' शब्द का अर्थ है रूढ अर्थ मे शब्द का प्रयोग जैसे इन्दुः, चन्द्रमाः आदि। इसका उलटा होता है—व्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्ति से निष्पन्न अर्थ=यौगिक शब्द। जैसे चन्द्रमा के लिए 'वलक्षगु' शब्द (वलक्षा गावो यस्य सः। वलक्ष=उज्ज्वल, श्वेत; गो=किरण; श्वेत किरणवाला अतएव चन्द्रमा) इन्दु शब्द के प्रयोग मे प्रसादगुण होता है, तो वलक्षगु का विन्यास 'व्युत्पन्न' का सूचक है।

(३) समता

समता=बन्धों (रचनाओं) में एकरूपता। बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—(क) मृदुबन्ध जिसमे अल्पप्राण अक्षरों की बहुलता होती है; (ख) स्फुटबन्ध जिसमे विकट वर्णों की सत्ता रहती है; (ग) मध्यम-

बन्ध जिसमें प्रथम दोनों प्रकार के बन्धों का मिश्रण रहता है। इसे 'मिश्र' भी कह सकते हैं। इन तीनों बन्धों में अन्तिम प्रकार में समता का निवास रहता है, और प्रथम दो प्रकारों में वैषम्य का। इसीलिए वैदर्भ लोग मध्यम बन्ध के पक्षपाती हैं[१] और गौड लोग मृदुबन्ध तथा स्फुटबन्ध का अपने काव्यों में आदर करते हैं। गौड़ मार्ग में अर्थडम्बर तथा अलंकारडम्बर ही प्रधान लक्ष्य रहता है। अर्थ का दिखावा उन्हें पसन्द होता है। उसी प्रकार अलकार की झनझनाहट उनके कानों को सुखद प्रतीत होती है। दण्डी का आशय यह है कि गौडदेशीय कवियों का हृदय इतना अनुप्रासप्रिय होता है कि वे किसी अन्य काव्यगुण की ओर दृष्टिपात नहीं करते। वैदर्भकवि 'समता' का रसिक होता है। समता का निवास रहता है मध्यबन्ध में। मृदुबन्ध में शैथिल्य दोष रहता है और स्फुटबन्ध में सौकुमार्य नहीं रहता। दण्डी ने स्वयं लिखा है कि सब अक्षरों के कोमल होने पर बन्ध स्वयं शिथिल हो जाता है और इसीलिए मृदुबन्ध वैदर्भ कवियों को पसन्द नहीं है। स्फुटबन्ध में विकट अक्षरों की सत्ता होने से उसमें सुकुमार का अभाव खटकता है। इसीलिए इन दोनों बन्धों में दोष होने के कारण वैदर्भ कवि मध्यमबन्ध पर आग्रह रखता है। दृष्टान्तों से इनका रूप देखिए:—

(क) मृदुबन्ध

कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः।

(कोयल की कूक से मुखरित मलयपवन मेरे पास आता है) लकार की बहुलता से इसमें शैथिल्य दोष स्पष्ट है।

(ख) स्फुटबन्ध

उच्चलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भः कणोक्षितः।

(निकलते हुए बिन्दुओं से युक्त तथा अत्यन्त स्वच्छ झरने के जलकणों से सिक्त मलयानिल मेरी ओर आ रहा है) च्च, च्छ, र्झ, म्भ आदि विकट संयुक्ताक्षरों के अस्तित्व के कारण इस पद्यांश में सौकुमार्य का अभाव स्पष्टतः दृष्टिगत होता है।

---

१ मृदुस्फुटौ गौडीयैः स्वीकृतौ। मध्यमस्तु मिश्रः अविषमः इति वैदर्भैः स्वीकृतः—हृदयंगमा पृ० ३१

(ग) मध्यबन्ध

चन्दनप्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुतः ।

(चन्दन के साथ सम्पर्क होने से सुगन्धि मन्द मलय मारुत बह रहा है) यहाँ सुकुमार वर्णो की सत्ता दूसरे पाद मे है और परुष वर्णों की प्रथम पाद में। अतः इस मध्यबन्ध में समता का सरस निवास है। यही वैदर्भ कवियो को अभीष्ट है।

(४) माधुर्य

माधुर्य का अर्थ है रसवत्ता, रस से सम्पन्नता। यह शब्दगत तथा अर्थगत होने से दो प्रकार का होता है।

(क) वैदर्भ मार्ग मे शब्दमाधुर्य का अभिप्राय 'श्रुत्यनुप्रास' से है, इसके विपरीत गौडमार्ग मे 'वर्णानुप्रास' के प्रति समधिक श्रद्धा है। इस प्रकार दोनों अनुप्रास के प्रेमी हैं, परन्तु एक अन्तर के साथ। यदि अनुप्रास (वर्णानुप्रास) बन्ध की परुषता तथा शिथिलता उत्पन्न करता है, तो वैदर्भमार्ग वाले उसे काव्य मे कथमपि आश्रय नही देते[1]। गौडमार्ग तो अनुप्रास का अखाड़ा ही ठहरा। रचना मे कर्णकटुता भले आ जाय, अथवा शिथिलता का उदय भले हो जाय, गौडी रीति के कवि 'अनुप्रास' को अपने काव्य में बॉधेगे ही। इसीलिए उन्हे 'यमकालकार' भी अभीष्ट है। 'अक्षरडम्बर' का अर्थ ही है अनुप्रास तथा यमक का समधिक प्रयोग। गौडमार्गी तो अक्षरडम्बर के अनुरागी ही थे (गौडेष्वक्षरडम्बरः—बाण)। अतः वर्णानुप्रास तथा यमक के प्रति उनकी यह भक्ति कथमपि आश्चर्यकारिणी नही है।

(ख) अर्थमाधर्य—अग्राम्यता। जिस अर्थ मे ग्राम्य दोष नही रहता, अर्थात् जो साहित्यिक दृष्टि से सभ्य, शिष्ट तथा सुसंस्कृत रहता है वही अर्थ 'सरस' होता है[2] (अग्राम्योऽर्थो रसावहः' १।६४)। ग्राम्यता कई प्रकार

---

१ इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति ।
अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥
काव्या० १।६०

२ कामं सर्वोऽप्यलकारो रसमर्थे निषिञ्चति ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भार वहति भूयसा ॥ ,, १।६२

से काव्य में हो सकती है—कहीं वाक्य का अर्थ ही व्यञ्जना के द्वारा असभ्य द्वितीय अर्थ का बोधन करता है, तो कहीं दो शब्दों के सान्निध्य से ही एक असभ्य अर्थ की स्वतः उत्पत्ति हो जाती है। जैसे 'या भवतः प्रिया' में 'या' का भकार से योग होने पर 'याभ' पद की स्थिति हो जाती है जो मैथुन अर्थ का प्रतिपादक होने में नितरां ग्राम्य है। ग्राम्य अर्थ उभय मार्गों में हेय है[1]। अतः 'अर्थमाधुर्य' दोनों मार्गों में आदरणीय माना जाता है।

(५) सौकुमार्य

काव्य समग्र कोमल अक्षरों के विन्यास से 'शैथिल्य' दोष से दुष्ट हो जाता है तथा निष्ठुर वर्णों के प्रयोग से वह कर्णकटु हो जाता है। अतः इन दोनों दोषों का तिरस्कार कर कोमल तथा परुष वर्णों के रमणीय मिश्रण को 'सौकुमार्य' के नाम से पुकारते हैं[2]। इससे विपरीत प्रकार का नाम है—दीप्तत्व, जिसमें परुष वर्णों की बहुलता श्रोताजनों के हृदय को उद्दीप्त कर देती है, शान्त हृदय भी जिसे सुनकर धधक उठता है। श्रोताओं के हृदय पर यह प्रभाव 'क्ष' आदि निष्ठुर वर्णों के प्रयोग से सद्यः होता है।

सौकुमार्य का उदाहरण—

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि॥

—काव्यादर्श १।७०

[मेघ से सुशोभित काल में—वर्षा ऋतु में—मयूर अपने पंखों को गोलाकार बनाकर तथा कण्ठों से मधुर शब्दों को उत्पन्न करते हुए नाच रहे हैं] यहाँ न तो अर्थ ही अपूर्व है और न रसयुक्त है; सौन्दर्याधायक अलंकार भी कोई नहीं है; परन्तु सुकुमारता के कारण ही यह काव्य विदग्धों के चित्त पर चढ़ता है। दीप्त का उदाहरण देखिए—

---

१ एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि।

—दण्डी १।६७

२ अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमहेष्यते।

—वही १।६६

न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिव ॥

(क्षत्रियो का पक्ष क्षणभर में पूरी तौर से ध्वस्त कर दिया गया) इस वाक्य मे 'क्ष' कारकी बहुलता इतनी है कि इसका उच्चारण बड़े कष्ट से हो रहा है। यह गौड मार्ग का प्रिय अक्षरडम्बर है है।

(६) अर्थव्यक्ति

जहाँ वाक्य के समग्र अर्थ का बोध उसमें आनेवाले पदों के ही द्वारा सम्पन्न हो जाय, वहाँ 'अर्थव्यक्ति' गुण होता है। 'अर्थव्यक्ति' का अर्थ है—अर्थ की स्फुट प्रतीति। कभी कभी वाक्य की पदावली अधूरी ही रहती है जिससे वाक्य के अर्थ की प्रतीति के लिए अन्य पदों के अध्याहार करने की आवश्यकता बनी रहती है। यह काव्य का 'नेयार्थ' नामक दोष है[१]। नेयार्थ के अभाव मे ही अर्थ का स्फुट द्योतन होता है। शब्दशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण नियम (शब्द-न्याय) है—यावदर्थः तावान् शब्दः अर्थात् जितना अर्थ उतना ही शब्द। जितने अर्थ का बोध वक्ता को अभीष्ट होता है उतने ही शब्दों का प्रयोग उचित होता है, न कम और न अधिक। इस शब्द-न्याय का जहॉ पालन होता है वहॉ अर्थ की स्फुटता मे किसी प्रकार की हानि नही होती। यही अर्थव्यक्ति है। यह गुण दोनो मार्गो में गृहीत है।

(७) औदार्य

जिसके कारण वाक्य के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष की प्रतीति हो, उसे 'औदार्य' कहते हैं। दण्डी' के अनुसार यह अर्थगत गुण है।

---

१ अध्याहारादिगम्यार्थं नेयार्थं प्रागुदाहृतम्।

—भोज० १।१३०

२ अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य।

—दण्डी १।७३

३ उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् उक्ते यस्मिन् प्रतीयते।
तदुदाराह्वय तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ काव्या० १।७६

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत्।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥

—काव्यादर्श १।७७

इस पद्य का अर्थ है कि हे राजन्, याचकों की दृष्टि आपके मुख पर एक बार ही पड़ी। इसका फल यह हुआ कि उस दीनावस्था में वह दृष्टि फिर किसी दूसरे का मुँह नही जोहती। व्यङ्ग्य अर्थ स्पष्ट है। आप इतने उदार हैं कि याचकों को एक बार में इतना दे डालते हैं फिर किसीसे माँगने की आवश्यकता ही नही रहती। यह हुआ औदार्य गुण।

कुछ आचार्य इसे पदसम्बद्ध गुण मानते हैं। उनके मत में श्लाघनीय विशेषण से युक्त पदों में 'औदार्य' गुण का संचार होता है जैसे लीलाम्बुज, क्रीडासर, हेमाङ्गद, रत्नकाञ्ची, कनककुण्डल आदि सुभग विशेषणों से सम्पन्न पद। यह गुण दोनो मार्गों मे स्वीकृत है।

(८) ओज

ओज गुण का उदय तब होता है जब वाक्यो में समासयुक्त पदों की बहुलता होती है—यह दण्डी का मत है। यह गुण दोनों मार्गों मे सम्मत है। अन्तर इतना ही है वैदर्भ मार्ग के कवि समास-बहुलता का प्रयोग केवल गद्य मे ही करते हैं, पद्य मे नहीं। उद्भट पदों से रहित कमनीय वाक्य से समन्वित पद्य में वैदर्भ लोग ओज की स्थिति मानते हैं, परन्तु गौडमार्ग के कवि गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं में समासभूयस्त्वरूप ओज का प्रयोग करते हैं[१]।

(९) कान्ति

कान्ति शब्द का अर्थ है कमनीयता, उज्ज्वलता। कान्ति गुण वहाँ होता है जहाँ लौकिक अर्थ का अतिक्रमण नहीं किया जाता। कवि अपने कार्य में तभी सफल हो सकता है जब उसके काव्य में घटना या अर्थ का निवेश

---

१ ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ॥

—काव्या० १।८०

स्वाभाविक रूप से किया गया हो। लोक मे जैसा उसका स्वरूप है काव्य में भी ठीक उसी रूप में उसका निरूपण आवश्यक है। इस गुण का उपयोग वैदर्भमार्ग मे वार्ता तथा वर्णना के अवसर पर किया जाता है[१] परन्तु गौड-मार्ग में इसका विपर्यय होता है। इस विपर्यय का नाम है—अत्युक्ति (=अति अर्थात् लोक को अतिक्रमण करनेवाली उक्ति)। वैदर्भ कवि लोक की उपयुक्तता पर दृष्टि रखता हुआ कहता है कि गृह वस्तुतः वे ही हैं जिन्हें आपके समान तपस्वी पुरुष अपनी पावन पादधूलि से गौरव प्रदान करता है[२]। परन्तु लोकोत्तर चमत्कार में चतुर गौडकवि अपना भाव इस प्रकार प्रकट करता है—भगवन्, आप की पादधूलि के गिरने से हमारे घर के समस्त पातक धुल गये हैं। अतः मेरा घर आज से मन्दिर के समान आराधनीय हो गया है[३]। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदर्भ मार्ग लोकसिद्ध अर्थ को श्रेयस्कर समझता है वहाँ गौड मार्ग लोकातीत अर्थ को। 'कान्त' काव्य लौकिक पुरुषों को रुचिकर होता है, अत्युक्तिसम्पन्न काव्य विदग्धों को अत्यन्त तोषप्रद होता है। यही दोनों मे अन्तर है।

(१०) समाधि

जहाँ लोकसीमा के अनुरोध से किसी वस्तु का विशिष्ट धर्म अन्य वस्तु मे ठीक ढङ्ग मे आरोपित किया जाय, वहाँ 'समाधि' गुण होता है[४]। 'समाधि' की व्युत्पत्ति है—सम्यग् आधीयते उपचर्यते स समाधिः। अर्थात् एक धर्म

---

१ कान्त सर्वजगत्कान्त लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते॥

—काव्या० १।८५

२ गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः।
सम्भावयति यान्येव पावनैः पादपांशुभिः॥ १।८६

३ देवधिष्ण्यमिवाराध्यमद्य प्रभृति नो गृहम्।
युष्मत्पादरजःपातधौतनिः—शेषकिल्बिषम्॥ १।६०

४ अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥ १।६३

का दूसरे वस्तु में सम्यक् आधान या उपचार। निमीलन तथा उन्मीलन नेत्र के स्वाभाविक धर्म हैं—नेत्र खुलता है तथा बन्द होना है, परन्तु नेत्र की इस क्रिया के आरोप करने से हम कहते हैं कि कुमुद खिलते हैं और कमल बन्द होते हैं। अतः 'कुमुदानि निमीलन्ति' तथा 'कमलानि उन्मिषन्ति' के प्रयोगों में 'समाधि' गुण विद्यमान है। इस प्रकार दण्डी ने लाक्षणिक या औपचारिक प्रयोगों का समावेश 'समाधि' गुण में किया है। दण्डी लाक्षणिक प्रयोग की महत्ता से पूर्णरूपेण परिचित हैं। असभ्य या उद्वेगजनक शब्दों के भी लाक्षणिक प्रयोग काव्य में अत्यन्त रुचिकर होते हैं। निष्ठ्यूत, वान्त, उद्गीर्ण आदि शब्दों का वाच्य अर्थ सचमुच जुगुप्साव्यञ्जक है, परन्तु इन्हीं शब्दों का गौण अर्थ में प्रयोग काव्य को सरस तथा कमनीय बना देता है। लाक्षणिक पदों की शक्ति भामह ने ही प्रथमतः स्वीकृत की थी, परन्तु दण्डी ने 'समाधि' के अन्तर्गत उसकी सत्ता मानकर इसे काव्य के लिए आवश्यक सौन्दर्य-साधन माना है। यही उनकी सूक्ष्म आलोचना-शक्ति का परिचायक है। दण्डी समाधिगुण को 'काव्य-सर्वस्व'—काव्य में सब से मूल्यवान् पदार्थ—मानते हैं और बतलाते हैं कि समग्र कवि समुदाय इसी एक गुण का काव्य में आश्रय लेता है[1]। इसे ही वामन ने 'वक्रोक्ति' नामक अलंकार माना है—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।

इस अनुशीलन से हम रीति के विषय में दण्डी के अभीष्ट मत का पूरा परिचय पाते हैं। काव्य में अत्यन्त सरस, स्वाभाविक तथा उदात्त शैली वैदर्भी ही थी जिसकी तुलना में गौडी रीति अत्यन्त निकृष्ट थी। वैदर्भी की तुलना उस कुलाङ्गना के साथ की जा सकती है जो अपने स्वभावसुन्दर सरस वचनों से सर्वत्र आदर पाती है। गौडी की समता उस गणिका के साथ की जा सकती है जिसके वस्त्र में जरी का काम किया हुआ है, शरीर पर बहु-मूल्य आभूषणों की प्रभा दर्शकों के नेत्र को चकाचौंध बना रही है तथा अलंकारों से संघटित वाक्य विदग्धजनों के हृदय में सद्यः चमत्कार उत्पन्न

---

१ तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेकमुपजीवति ॥ १।१००

करते हैं। शोभन काव्य-रीति में वर्णों का सन्तुलन होना चाहिए। न तो अत्यन्त कोमल वर्णों के प्रयोग से वाक्य में शैथिल्य होना चाहिए और न अत्यन्त परुष वर्णों के कारण उग्रता, प्रत्युत दोनों का मनोरम मिश्रण ही अभीष्ट होता है। शब्दों का निवेश ठीक-ठीक होना चाहिए जिससे अभीष्ट अर्थ के प्रकाशन मे कोई व्याघात न हो। लाक्षणिक पदो का प्रयोग रुचिकर होता है। लौकिक अर्थ का अतिक्रमण न होना चाहिए। काव्य को प्रभावोत्पादक होने के लिए उसे स्वाभाविक होना नितान्त आवश्यक है और यह तभी सम्भव है जब कवि लौकिक अर्थों का अनुगमन करता है। अर्थ को सुसंस्कृत होना चाहिए। ऐसा न हो तो कान में पड़ते ही सहृदय जन नाक भौ सिकोड़ने लगे—उसमें ग्राम्यता की गन्ध भी न होनी चाहिए। उसे रसयुक्त होना चाहिए। तथ्य बात यह है कि दण्डी के दस गुण अत्यन्त व्यापक हैं—वे केवल इने-गिने बाह्य उपकरणों का ही बोध नही कराते, प्रत्युत काव्य के अन्तरङ्ग और आवश्यक साधनों को लक्ष्य करते हैं। इसलिए दण्डी के मत से रीति की कल्पना उदात्त तथा अत्यन्त व्यापक है।

वामन

वामन रीति तत्त्व के मर्मज्ञ आलकारिक थे। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है[१] जिससे रीति का काव्यांगों मे महत्त्व स्फुटतया व्यक्त होता है। रीति का लक्षण है—विशिष्टपदरचना रीतिः। पदों की विशिष्ट रचना को रीति कहते हैं। पदरचना में वैशिष्ट्य का सम्पादक कौन पदार्थ होता है? गुण। वामन ने स्पष्ट ही कहा है—विशेषो गुणात्मा। वामन प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने गुणों के शब्दगुण तथा अर्थगुण नाम से दो प्रकार स्वीकार किये हैं। इन द्विविध गुणों में शब्दगुण बन्ध के गुण हैं और इन गुणों के द्वारा रीति का उन्मेष बड़ी ही स्वल्पमात्रा मे होता है। अर्थगुणों का साम्राज्य विशाल है और इनके द्वारा रीति बडी ही ऊँची कक्षा तक जा पहुँचती है। अर्थगुण नितान्त व्यापक हैं और ये रस को भी अपने में सन्निविष्ट करते हैं। अर्थगत ओज, माधुर्य, श्लेष तथा कान्ति

१ रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन १।२।६

गुणों के भीतर काव्य के समस्त अङ्गो का समावेश हो जाता है। अथ की प्रौढ़ि को ओज कहते हैं। उक्ति की विचित्रता को माधुर्य कहते हैं। नवीन चमत्कारिक कल्पना का, जो काव्य में सौन्दर्य उत्पादन का प्रधान साधन है, अन्तर्भाव वामन 'माधुर्य' गुण के भीतर मानते हैं। नवीन अर्थ की दृष्टि को 'समाधि' कहते हैं (अर्थदृष्टिः समाधिः) तथा रस की दीप्ति को 'कान्ति' कहते हैं (दीप्तरसत्वं कान्तिः)। समग्र रसों का समावेश वामन ने इस कान्तिगुण के भीतर किया है। वामन ने स्वयं शब्दगुणों की अपेक्षा अर्थगुणों को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनका कहना है कि वैदर्भी में अर्थगुण की सम्पत्ति विशेष आस्वादनीय होती है—शब्दगुण की सत्ता उतनी मनोरञ्जक तथा चमत्कारजनक नही होती[1]। इस प्रकार गुणों के भीतर बन्धगुण, अलङ्कार और रस का सन्निवेश स्पष्टतः वामन को अभीष्ट है। इन गुणो का अस्तित्व रीति को काव्य का एक नितान्त महनीय अङ्ग सिद्ध करने में समर्थ हो रहा है। ग्रीक आलोचक डेमेट्रियस ने भी रीति के वर्णन में इन तीनों साधनों पर जोर दिया है। उन्होंने भी रीति के विभिन्न प्रकारों में कतिपय बन्धगुण, कतिपय अलंकार और कतिपय रसमय प्रसङ्गों का निर्देश किया है।

वामन ने 'गुणों' को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है। उत्तम कोटि के काव्य का लक्षण यही गुण है। इन्ही गुणों के अस्तित्व से काव्य उत्तम कोटि का सम्पन्न होता है। इसीलिए उन्होंने अन्य मार्ग के गुणों का उल्लेख नही किया है। रीतियों में वैदर्भी के श्रेष्ठ होने का रहस्य है—**गुणस्फुटत्व** (गुणों की विशदता) तथा **गुणसाकल्य** (गुणो की समग्रता)। वैदर्भी में ही समग्र गुण स्फुट रूप से विद्यमान रहते हैं। इसीलिए वैदर्भी का आश्रय कवियों के लिए श्रेयस्कर माना गया है। इससे स्पष्ट है कि 'गुण' के विषय मे वामन की दृष्टि दण्डी से अनेक अश में भिन्न है।

---

१ तस्यामर्थगुणसम्पद् आस्वाद्या १।२।२०
सापि वैदर्भी तात्स्थ्यात् १।२।२२
सापीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता।

दण्डी गौडमार्ग में कतिपय गुणों की सत्ता मानते हैं, तथा कतिपय गुणों का विपर्यय, परन्तु वामन की दृष्टि मे किसी भी मार्ग मे गुणों के विपर्यय नहीं रहते। प्रत्युत गुणों की संख्या मे अधिक या न्यून मात्रा के कारण ही रीतियो में भिन्नता होती है। 'गुण' की कल्पना को व्यापक रूप देने का यह परिणाम है।

वामन ने पाञ्चाली नामक एक तृतीय रीति की कल्पना प्रथम बार की है। रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली। वैदर्भी रीति में समस्त गुणो का सद्भाव रहता है[1]। वामन की गौडी दण्डी के द्वारा उदाहृत निकृष्ट कोटि की गौडी रीति नही है, प्रत्युत यह वैदर्भी के समान ही सुन्दर तथा आह्लादक है। इसमे ओज[2] तथा कान्ति गुणो को प्रधानता रहती है। वैदर्भी के माधुर्य तथा सौकुमार्य के स्थान पर गौडी मे समासबहुलता और अति उल्वण पदों की सत्ता रहती है। वैदर्भी मे माधुर्य का निवास तथा सुकुमारता का साम्राज्य रहता है। गौडी में ओज और कान्ति के कारण अधिक ओजस्विता का सचार रहता है[3]। पाञ्चाली रीति मे ओज तथा कान्ति गुणो का अभाव रहता है तथा माधुर्य और सौकुमार्य का सद्भाव[4]। इन तीनो मे वामन का कवियो के लिए उपदेश है कि वे वैदर्भी रीति का ही आश्रय ग्रहण करे क्योंकि इसीमें गुणो की समग्रता रहती है। गौडी और पाञ्चाली का ग्रहण न करे। इनमे तो कतिपय गुण ही विद्यमान रहते हैं[5]। कुछ आलोचक

---

१ समग्रगुणा वैदर्भी—१।२।११

२ ओजः कान्तिमती गौडीया—वामन १।२।१२

३ समस्तात्युद्भटपदामोजः — कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः॥
वामन १।२

४ माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।१।२।१३
आश्लिष्टश्लथभावां ता पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चाली कवयो विदुः॥

५ तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्।१।२।१४

वैदर्भी की प्राप्ति के लिए इतर रीतियो के अभ्यास को आवश्यक मानते हैं, परन्तु वामन इस मत के पोषक नही हैं[1]। उनकी उक्ति तथा युक्ति बड़ी ही मार्मिक है। अतत्त्वशील व्यक्ति तत्त्व का ग्रहण कथमपि नही कर सकता। शण सूत्र (पटुआ) का बुननेवाले व्यक्ति रेशम के बुनने में कभी समर्थ नहीं हो सकता[2]। कहाँ पटुए का मोटा सूत्र और कहाँ रेशम का महीन सूत्र !! इसी प्रकार अल्पगुणा गौडी या पाञ्चाली का समाश्रय समग्रगुणा वैदर्भी में व्युत्पत्ति पाने के लिए कथमपि श्लाघनीय नहीं होता—यही वामन का परिनिष्ठित मत है।

रुद्रट

रीति के इतिहास में वह युग भी आ गया जब रीतियों का भौगोलिक महत्त्व जाता रहा और जब वे वर्ण्य विषय के औचित्य से काव्य मे निविष्ट की जाने लगीं। अब वे विदर्भ या गौड देश के कवियों के काव्य व्यवहार की परम्परा से उन्मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से विभिन्न रस, विभिन्न विषय की प्रतिनिधि बन गई। इस युग का आरम्भ रुद्रट के ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' से होता है। रुद्रट ने वामन की तीन रीतियों में **'लाटीया'** नामक एक चौथी नवीन रीति को भी जोड़ा[3] और इन चारों रीतियों को दो विभागों में बाँटा। पाञ्चाली के साथ वैदर्भी काव्य में माधुर्य द्योतक होने से एक छोर पर थी, तो इस चतुर्थ रीति लाटीया के साथ गौड़ी काव्य में ओजस्विता-प्रदर्शक होने से दूसरी छोर पर थी। वामन मे ही पाञ्चाली का वैदर्भी के साथ हम एक नैसर्गिक सामीप्य पाते हैं, परन्तु रुद्रट ने इस सम्बन्ध को स्फुटतर रूप से अभिव्यक्त किया है। रसौचित्य के अनुसार रीतियों के चुनाव की

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् ।१।२।१५

१ तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके ।१।२।१६

२ तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः।
न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः।
—वामन १।२।१७,१८

३ रुद्रट—काव्यालंकार २।४

बात रुद्रट ने ही साहित्य-संसार में सर्वप्रथम चलाई और इसी सूत्र को ग्रहण कर अवान्तरकालीन आलंकारिकों ने रस और रीति के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार कर इसका सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया।

रुद्रट ने इन रीतियों का विभाजन एक नये सिद्धान्त पर किया। वह सिद्धान्त था पदों की समस्तता या असमस्तता। रीतियों का नियामक समास होता है। जिन पदों की रचना में समास बिल्कुल नही होता, उसे वैदर्भी रीति कहते हैं[१]। समस्तपदों के भी तीन प्रकार हैं और इन्ही पर अवलम्बित रीतियाँ भी तीन हैं—(क) लघु समास = पाञ्चाली, (ख) मध्यसमास = लाटीया, (ग) आयत या दीर्घ समास = गौडीया। पाञ्चाली में दो या तीन समस्तपदों की विद्यमानता रहती है, लाटीया में पाँच सात की परन्तु गौडीया में यथाशक्ति समासवाले पदों का ही प्रयोग रहता है[२]। इस प्रकार रुद्रट रीतियो के विश्लेषण मे गुणों का उल्लेख न कर समस्त रचना को ही महत्त्व देते हैं। इनकी दृष्टि में वैदर्भी तथा तत्सम पाञ्चाली माधुर्य तथा सौकुमार्य की अभिव्यञ्जिका होने से शृङ्गार, प्रेय, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों मे निविष्ट होनी चाहिए;[३] ओज तथा बन्धगाढता के प्रतीक होने से लाटीया तथा गौडीया रीतियों का समावेश रौद्र रस में श्लाघनीय होता है। अन्य रसों में रीतियों का नियम नहीं होता—

---

१ वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ॥

—रुद्रट २।६

२ पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥
द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ॥

वही २।४-५

३ इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया।
मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु शृङ्गारे ॥

—वही १४।३७

वैदर्भी-पाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
लाटीया-गौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम् ॥

—१५ । २०

रीतियों के इतिहास के अनुशीलन करने से हम देखते हैं कि किसी समय में भी कवि वैदर्भी के सौन्दर्य तथा गौडी की ओजस्विता से अपरिचित नहीं था। वैदर्भी आदि नामों से भौगोलिक तात्पर्य जाता रहा, तब किसी देश का कवि इन रीतियां को स्वेच्छापूर्वक काव्य में व्यवहार करने लगा। इतना ही नहीं, एक ही काव्य के विभिन्न अंशों में एक ही कवि इन दोनो शैलियों का प्रयोग करने लगा। अब विषय का औचित्य रीतियों का नियामक बन गया। यदि वर्ण्य विषय में सौन्दर्य तथा सौकुमार्य की चारुता कविहृदय को आनन्दित करती, तो उसके निमित्त 'वैदर्भी' का प्रयोग किया जाता। यदि विषय की उदात्तता तथा ओजस्विता हृदय में स्फूर्ति अर्पित करती, तो उसके लिए गौडी का प्रयोग श्लाघनीय माना जाता। विभिन्न रसों तथा तत्सम्बद्ध अर्थों में विचित्रता तथा चारुता भी भिन्न प्रकार की रहती है। दर्शकों तथा श्रोताओं के हृदय पर इनका प्रभाव भी विचित्र हुआ करता है। इस विषय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया और चार प्रकार की वृत्तियों को जन्म दिया। रस का दर्शकों पर प्रभाव 'वृत्ति' नामक काव्यसिद्धान्त का निदान है। वृत्ति का उदय नाट्य की मीमांसा के लिए हुआ परन्तु पीछे यह तत्त्व काव्य की समीक्षा के लिए भी प्रयुक्त हुआ। वृत्तियाँ चार हैं—कैशिकी, सात्त्वती, भारती तथा आरभटी। कैशिक शृङ्गार रस की वृत्ति है और आरभटी रौद्र, वीर, अद्भुत तथा बीभत्स रसों की। इन्हीं वृत्तियों के साथ रीतियों का भी सम्बन्ध स्थापित किया गया। कैशिकी वृत्ति, वैदर्भी रीति तथा शृङ्गार रस—इन तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ; क्योंकि ये तीनों ही समभावेन एक ही सौकुमार्य तथा माधुर्य के द्योतक तत्त्व हैं। गौडी रीति में जो गाढ-बन्धता तथा ओजस्विता का अस्तित्व रहता है उसी से उसका सम्बन्ध आरभटी वृत्ति तथा रौद्र-वीर रसों से स्थापित किया गया। गौडी रीति, आरभटी वृत्ति तथा रौद्ररस—एक ही कोटि के काव्यतत्त्व हैं। पाञ्चाली तथा लाटीया रीतियों का स्थान इन दोनों के

मध्यवर्ती है जिनमें पाञ्चाली का झुकाव वैदर्भी की ओर है और लाटी का गौडी की ओर। रस के साथ रीति के सम्बन्ध की प्रथम चर्चा हमें रुद्रट के काव्यालङ्कार मे उपलब्ध होती है और इसीका विकाश ध्वनिमार्ग के आचार्यों—आनन्दवर्धन तथा मम्मट-आदि —मे दृष्टिगोचर होता है।

काव्य में 'वृत्ति' के उदय तथा अभ्युदय का इतिहास विस्तार के साथ अन्य परिच्छेद मे किया गया है। यहाँ वृत्ति तथा रीति के परस्पर सम्बन्ध के प्रसङ्ग मे यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि रस तथा तदभिव्यञ्जक अर्थ के साथ वृत्तियों का साक्षात्सम्बन्ध है। रीतियों का रस के साथ जो सम्बन्ध है वह शब्दव्यवहार के ऊपर आश्रित है। रीतियाँ शब्द-संघटनारूप हैं। प्रत्येक रस में विशिष्ट प्रकार के शब्दों के संघात की आवश्यकता होती है और इसका सम्पादन रीतियों के द्वारा काव्य में सम्पन्न किया जाता है। इसका फल यह है कि माधुर्य आदि गुण जो रीतियों के विशिष्ट गुणों के रूप मे गृहीत किये जाते थे वे शब्दसंघटनारूप ही सिद्ध होते हैं। अभिनव गुप्त की स्पष्ट उक्ति है[1] कि गौड, विदर्भ तथा पञ्चाल देशों के हेवाक (लीला, व्यवहार) की प्रचुरता रखनेवाली तीनों वृत्तियाँ—गौडी, वैदर्भी तथा पाञ्चाली क्रमशः दीप्त, ललित तथा मध्य विषय को लक्ष्य कर ही काव्य मे प्रयुक्त होती हैं। आनन्दवर्धन ने वृत्ति के साथ रीति का सम्बन्ध प्रदर्शित करते समय दोनो के स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। रसानुकूल व्यवहार को ही 'वृत्ति' कहते हैं। यह वृत्ति दो प्रकार की होती है। अर्थ के रसानुगुण व्यवहार को कैशिकी आदि वृत्ति कहते हैं और शब्द के रसानुरूप व्यवहार को उप-नागरिका आदि वृत्ति कहते हैं[2] और इन्ही द्वितीय प्रकार की वृत्तियो को 'रीति'

---

१ दीप्त—ललित—मध्यवर्णनीयविषय गौडीय—वैदर्भ—पाञ्चालदेश—हेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्। लोचन पृ० ६

२ रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा मताः ॥

—ध्वन्यालोक ३।३३

के अभिधान से उल्लिखित करते हैं। इस प्रकार शाब्दिक वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा, कोमला—को ही वैदर्भी आदि रीतियों की संज्ञा प्रदान की गई है।

राजशेखर

राजशेखर ने 'रीति' का 'प्रवृत्ति' तथा 'वृत्ति' के साथ घनिष्ठ सम्पर्क भली भाँति दिखलाया है। उनकी कल्पना है कि काव्यपुरुष की खोज में उनकी प्रियतमा साहित्यविद्यावधू भारत की चारो दिशाओं मे जाती है और वहाँ पहुंच कर वह विलक्षण वेशभूषा धारण कर लेती है, विचित्र प्रकार का विलास ग्रहण करती है और अपने भावो की अभिव्यक्ति के लिए नवीन वचन-विन्यास का भी आश्रय लेती है। उसी दिन से साहित्य-संसार में 'प्रवृत्ति' 'वृत्ति' तथा 'रीति' का उद्भव होता है। राजशेखर के शब्दों मे इनके लक्षण हैं—**वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः; विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः वचनविन्यासक्रमो रीतिः** अर्थात् वेष के विन्यास का प्रकार 'प्रवृत्ति' कहलाता है। विलास के विन्यास का क्रम वृत्ति है। तथा वचनो के विन्यास का क्रम रीति है।

सर्वप्रथम काव्यपुरुष की खोज में सब लोग पूरब की ओर चले—जिधर अंग—वंग—सुम्ह—पुण्ड्र आदि देश हैं। इन देशों मे साहित्यवधू ने ने जैसी वेशभूषा धारण की उसीका अनुकरण उन देशों की स्त्रियों ने किया[१]। उन देशों में जाकर काव्यपुरुष ने जैसी वेषभूषा धारण की वहाँ के पुरुषो ने भी उसीका अनुकरण किया। उन देशों मे जाकर साहित्यवधू जिस प्रकार की बोली बोलती गई, वैसी ही बोली वहाँ बोली जाने लगी। उस बोलचाल का नाम **गौडी रीति** हुआ, जिसमें समास तथा अनुप्रास का

१ आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहारः
सीमन्तचुम्बिसिचयः स्फुटबाहुमूलः।
दूर्वाप्रकाण्डरुचिरास्वगुरूपभोगाद्
गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेषः॥

—काव्यमीमांसा पृ० ८

अत्यधिक प्रयोग रहता है। वहाँ जो कुछ नृत्य गीत आदि कला दिखलाई गई उसका नाम हुआ—**भारती वृत्ति**। उन देशों की जो वेषभूषा प्रयुक्त हुई उसकी प्रतिपादिका प्रवृत्ति का नाम '**औड्रमागधी**' हुआ।

इसके अनन्तर काव्यपुरुष पाञ्चाल की ओर चला जहाँ पाञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, बाह्लीक, बाह्लवेय, आदि जनपद हैं। वहाँ पर जो वेशभूषा साहित्यवधू ने धारण की उसीका अनुकरण वहाँ की स्त्रियों ने किया। साहित्यवधू के अनुकरण पर पाञ्चाल देश की सुन्दरियों का गण्डस्थल सोने के कर्णभूषणों के हिलने से तरङ्गित होता था; सुन्दर मोतियों की माला गले से नाभी तक लटकती हुई धीरे धीरे हिलती थी। उनकी सुन्दर चादर एड़ी तक लटक रही थी[1]। इस वेशभूषा से संवलित प्रवृत्ति का नाम '**पाञ्चाल मध्यमा**' है। इन देशों में जाकर साहित्यवधू ने किञ्चित् नृत्य, गीत, वाद्य, आदि विलासों को प्रदर्शित किया। उसका नाम '**सात्वती वृत्ति**' हुआ। वही उग्रता धारण करने पर '**आरभटी वृत्ति**' के नाम से प्रसिद्ध हुई। वहाँ की बोलचाल का नाम हुआ **पाञ्चाली** रीति जिसमें समास, अनुप्रास, का प्रयोग कम होता है तथा उपचार अर्थात् लाक्षणिक प्रयोगो की प्रधानता रहती है। इस प्रकार इस 'मध्यदेश' से सम्बद्ध रीति का नाम है पाञ्चाली रीति, प्रवृत्ति का नाम है पाञ्चाल-मध्यमा तथा वृत्तियों का नाम है सात्वती और आरभटी।

इसके बाद काव्यपुरुष और साहित्यवधू अवन्ति देश की ओर गये जहाँ अवन्ति, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि देश हैं। वहाँ पर साहित्यवधू ने एक नवीन प्रकार का ही वेश धारण किया जिसमे पाञ्चाल देश और दक्षिण देश के वेशों का मिश्रण था। इसकी प्रशंसा में मुनियों का यही

---

१ ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख—
मानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितोत्तरीयं,
वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्॥

का० मी० पृ० ८

कथन था कि अवन्ति देश के पुरुषों का नेपथ्यविधान (वेश-रचना) पाञ्चाल देश के पुरुषो के समान था परन्तु स्त्रियो का वेश दक्षिण देश के समान था। वहाँ के लोगो की बोली और चरित्र में भी इन दोनों देशों का मिश्रण दीख पड़ता था[१]। इस प्रवृत्ति का नाम आवन्ती है जो पाञ्चाल मध्यमा तथा दक्षिणात्या की मध्यवर्तिनी है। यहाँ की वृत्तियों का नाम सात्वती तथा कैशिकी है। इस प्रकार भारतवर्ष का यह पश्चिम प्रान्त राजशेखर की सम्मति में उत्तर तथा दक्षिण भारत के मध्यवर्ती होने के कारण वेशभूषा मे, नृत्य-कला में, बोलचाल में इन दोनों प्रान्तों का सामञ्जस्य उपस्थित करता है।

इसके पश्चात् काव्यपुरुष दक्षिण दिशा की ओर चला जिधर मलय, मेकल, कुन्तल, केरल, पालमञ्जर, महाराष्ट्र, गङ्ग, कलिङ्ग आदि जनपद हैं। इन देशों मे जाकर साहित्यवधू ने एक विचित्र वेश धारण किया जो आज भी केरल देश (आधुनिक त्रिवाकुर तथा कोचीन राज्य) की कामिनियों के द्वारा अंगीकृत होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता उद्घोषित कर रहा है[२]।

यहाँ की प्रवृत्ति का नाम दाक्षिणात्या प्रवृत्ति हुआ। साहित्यवधू ने यहाँ जिस विचित्र नृत्य, गीत, वाद्य के विलास को प्रकट किया उसी का नाम कैशिकी वृत्ति था। काव्यपुरुष ने जिस बोलचाल तथा कथन-प्रकार का

१　पाञ्चालनेपथ्यविधिर्नराणां,
　　स्त्रीणां पुनर्नन्दतु दाक्षिणात्यः।
　यज्जल्पितं यच्चरितादिकं तत्,
　　अन्योन्यसंभिन्नमवन्तिदेशे ॥
　　　　का० मी० पृ० ६

२　आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूड—
　　श्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभागः।
　कक्षानिवेश-निबिडीकृत-नीविरेष,
　　वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम् ॥
　　　　वही

अपने भाषण मे उपयोग किया उसका नाम हुआ वैदर्भी रीति। इसमें श्रुत्य-नुप्रास की सत्ता रहती है तथा समास का अभाव रहता है। दक्षिण देश ललित कलाओं की विलासभूमि माना गया है। इसीलिये भरत ने दाक्षिणात्या प्रवृत्ति की प्रशंसा मे कहा है कि यह गीत, नृत्य, वाद्य की बहुलता से समन्वित होती है तथा यहाँ का अभिनय चतुर, मधुर तथा ललित होता है[1]। कुन्तक ने भी दाक्षिणात्य गीत की स्वाभाविक मधुरता की बड़ी प्रशसा की है[2]। यद्यपि दक्षिण दिशा में अनेक देश भरत तथा राजशेखर ने गिनाये हैं परन्तु कैशिकी वृत्ति के उदय का मुख्य स्थान विदर्भ देश है। विदर्भ देश के साहित्य-माधुर्य तथा रसपरिपाक की प्रशसा संस्कृत साहित्यमें सदा से होती रही है। इसीलिये राजशेखर ने विदर्भ के मुख्य नगर वत्सगुल्म को भगवान् कामदेव का क्रीडा-निवास बतलाया है[3] जहाँ काव्यपुरुष ने साहित्यवधू के साथ गान्धर्व रीति से विवाह किया। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत मे विभिन्न प्रान्तों की साहित्यिक-सम्पत्ति तथा काव्य-सौन्दर्य की समीक्षा करके प्राचीन आलोचकों ने उन उन देशो के नाम से विभिन्न काव्यशैलियों का नामकरण किया।

राजशेखर रीति के साथ प्रवृत्ति तथा वृत्ति सामञ्जस्य के लिए भरत के ही ऋणी हैं। भरतमुनि ने इस विषय का विशिष्ट वर्णन नाट्यशास्त्र के प्रवृत्ति-धर्मव्यञ्जक नामक चतुर्दश अध्याय मे किया है। राजशेखर के इस विवरण का स्पष्ट परिचय यह तालिका देती है—

---

१ तत्र दाक्षिणात्या भवेत् बहुगीतनृत्यवाद्या, कैशिकीप्राया, चतुरमधुर-ललिताङ्गाभिनया। भरत नाट्यशास्त्र पृ० १४७

२ न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत् तस्य स्वाभाविकत्व वक्तुं पार्यते। व० जी० पृ० ४६

३ तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयः तामौमेयी गन्धर्ववत् परिणिनाय। का० मी० पृ० १०

देश	प्रवृत्ति	वृत्ति	रीति
गौड	औड्रमागधी	भारती	गौडी
पाञ्चाल	पाञ्चालमध्यमा	सात्त्वती, आरभटी	पाञ्चाली
अवन्ति	आवन्ती	सात्त्वती, कैशिकी	×
विदर्भ	दाक्षिणात्या	कैशिकी	वैदर्भी

इस तालिका के अवलोकन से स्पष्ट है कि अवन्ति देश में राजशेखर ने किसी भी रीति की सत्ता नहीं मानी है। क्यों? अवन्ति तथा लाट देश का वर्णन उन्होंने अनेक स्थलों पर किया है, परन्तु रुद्रट के द्वारा निर्दिष्ट किये जाने पर भी राजशेखर लाट देश को विशिष्ट रीति मानने के लिए उद्यत नहीं हैं। यह कुछ विचित्र सा जान पड़ता है। कारण यही हो सकता है कि उनकी दृष्टि में लाटीया तथा पाञ्चाली मे विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। दो-चार समस्त पदों के होने पर रुद्रट ने पाञ्चाली रीति मानी है और पाँच-सात समस्तपदों के अस्तित्व से लाटीया बनती है। अतः विशिष्ट पार्थक्य न होने से राजशेखर इन दोनों को स्वतन्त्र रीति नहीं मानते। राजशेखर के आविर्भाव-काल में रीतिचतुष्टय की मान्यता थी, परन्तु उन्हे रीतित्रय का ही पक्ष मान्य था। लाटीया रीति की पृथक् सत्ता न मानने से वे तीन रीतियों के ही पक्षपाती थे।

राजशेखर का रीतिविषयक ग्रन्थ—रीतिनिर्णय—तो लुप्त ही हो गया है। अतः हम उनके रीतिविषयक समग्र सिद्धान्तों से अपरिचित ही हैं, तथापि उनके नाटकों और काव्यमीमांसा के अध्ययन से हम उनके मुख्य सिद्धान्तों से परिचय पा सकते हैं। रीतियो के पार्थक्य दिखलाने में राजशेखर ने एक नूतन वैचित्र्य का निर्देश किया है अर्थात् योगवृत्ति, योगवृत्ति की परम्परा और उपचार। राजशेखर के अनुसार रीतियों की विलक्षणता इस प्रकार है:—

वैदर्भी	पाञ्चाली	गौडी
असमास	ईषदसमास	समास
स्थानानुप्रास	ईषदनुप्रास	अनुप्रास
योगवृत्ति	उपचार	योगवृत्तिपरम्परा

जैसे ऊपर दिखलाया गया है राजशेखर ने इन तीनों रीतियों का सम्बन्ध तीन देशों के साथ स्थापित किया है। उनकी दृष्टि में वैदर्भी रीति ही सबसे सुन्दर तथा मनोहर है। उनका कहना है कि जब काव्यपुरुष की वधू ने गौडीरीति में उनसे संभाषण किया, तब वह उससे तनिक भी आकृष्ट नही हुआ (अवशंवदीकृत)। जब वह पाञ्चाली मे बोली, तब उसके प्रति उसका कुछ आकर्षण हुआ (ईशद्वशवदीकृतः)। जब उसने वैदर्भी रीति में भाषण किया, तब वह उसके वश मे हो गया—वह नितान्त आकृष्ट हो गया (अत्यर्थ वशवदीकृतः)। इस प्रकार काव्यपुरुष के ऊपर वैदर्भी का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। राजशेखर ने विदर्भ के वत्सगुल्म[1] नगर में काव्य-पुरुष तथा साहित्यविद्या का विवाह-मंगल रचाया है जिससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि वे वैदर्भी की मनोहरता तथा सरसता के विशेष पक्षपाती थे।

वैदर्भी—नाटकों के अध्ययन से भी उनका वैदर्भी के प्रति उत्कृष्ट प्रेम का परिचय मिलता है। बालरामायण मे इस विषय के दो प्रसङ्ग आते हैं। तृतीय अङ्क में उनका कथन है कि वैदर्भी वाग् माधुर्यगुण को चुलाती है—माधुर्य वह है जो कानों के द्वारा चाटा जाता है[2]। अन्यत्र उन्होंने विदर्भ

---

१ राजशेखर की दृष्टि में 'वत्सगुल्म' विदर्भ का मुख्य नगर प्रतीत होता है। आज भी नर्मदा नदी के उद्गम स्थान के पास 'वशगुल्म' नामक नगर है। सम्भवतः ये दोनों एक ही हैं। परन्तु वात्स्यायन ने कामशास्त्र (५, ६) में विदर्भ तथा वत्सगुल्म को दो भिन्न-भिन्न देश माना है। प्रेष्याभिः सह तद्-वेषान् नागरकपुत्रान् प्रवेशयन्ति वात्सगुल्मकानाम् ३५। स्वैरेव पुत्रैरन्तः-पुराणि कामचारैर्जननीवर्जमुपभुज्यन्ते वैदर्भकाणाम्। ३६। क्या यह वत्सगुल्म राजशेखर के निर्दिष्ट स्थान से भिन्न है? सम्भवतः यह वत्सराज उदयन का देश हो।

२ वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम्।

—बालरामायण ३।१४

देश में रस को पैदा करनेवाली वाग्देवता का निवास बतलाया है अर्थात् वैदर्भी में रस का प्राचुर्य रहता है[१] तथा उसमें माधुर्य और प्रसाद गुणों की सत्ता रहती है[२]। राजशेखर ही वैदर्भी की सरसता से आकृष्ट नही हुए हैं, परन्तु धनपाल, पद्मगुप्तपरिमल, श्रीहर्ष, नीलकण्ठ जैसे मान्य कवियो ने भी अपना पक्षपात इसी रीति की ओर दिखलाया है। वे लोग इसकी प्रशंसा करने से तृप्त नही होते। धनपाल (११ शतक का प्रथमार्ध) रीतियों में वैदर्भी को सबसे अधिक समुज्ज्वल बतलाते हैं[३]।

विशिष्ट कवियों की प्रशंसावाले पद्यों मे राजशेखर का एक पद्य मिलता है[४] जिसमें पाञ्चाली रीति का लक्षण दिया गया है तथा कवयित्री शिला और बाण की कवितायें इस रीति का विशुद्ध स्वरूप स्वीकृत किया गया है। पाञ्चाली रीति वह है जहाँ शब्द तथा अर्थ का समान गुम्फन हो अर्थात् शब्द

---

१ वाग्देवता वसति यत्र रसप्रसूतिः
लीलापदं भगवतो मदनस्य यच्च।
प्रेङ्खद् विदग्धवनिताञ्चितराजमार्गं
तत् कुण्डिनं नगरमेष विभुर्बिभर्ति॥
—बा० रा० ३।५०

२ यत्क्षेमं त्रिदिवाय वर्त्म निगमस्याङ्गं च यत् सप्तमं
स्वादिष्टं च यदैक्षवादपि रसात्, चक्षुश्च यद् वाङ्मयम्।
तद् यस्मिन् मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तं च काव्यामृतं
सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषयः सारस्वती जन्मभूः॥
—वही १०।७४

३ वैदर्भीमिव रीतीनामधिकमुद्भासमानाम्।
—तिलकमंजरी पृ० १३०

४ शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चालीरीतिरिष्यते
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि।

और अर्थ का सन्निवेश एक ही प्रकार का हो। इस रीति का यह लक्षण नितान्त नूतन है और इस कल्पना के मूल का पता नहीं चलता।

राजशेखर ने इन दोनों रीतियों के अतिरिक्त गौडी रीति का भी वर्णन काव्यमीमांसा में किया है। अतः वे भी केवल रीतित्रय—वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी—के पक्षपाती थे, यह निःसन्देह कहा जा सकता है[1]। परन्तु इन तीनों से अतिरिक्त 'मागधी' रीति का उल्लेख कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना में और 'मैथिली' रीति का वर्णन बालरामायण के दशम अंक में राजशेखर ने किया है। कर्पूरमञ्जरी के मङ्गलश्लोक में तीन रीतियो का उल्लेख मिलता है—(क) वच्छोमी जो वात्सगुल्मी (वैदर्भी) का ही प्राकृत रूपान्तर है; (ख) मागधी तथा (ग) पञ्चालिका। यहाँ 'मागधी' का केवल निर्देशमात्र है। बहुत सम्भव है कि 'मागधी' गौडी रीति का ही नामान्तर हो। परन्तु मैथिली रीति के स्वरूप का पर्याप्त परिचय राजशेखर ने बालरामायण (१०।९५) के इस पद्य मे दिया है—

यत्रार्थातिशयोऽपि सूत्रितजगत्मर्यादया मोदते
सन्दर्भश्च समासमासलववत् प्रस्तारविस्तारितः।
उक्तिर्योगपरम्परा—परिचिता काव्येषु चक्षुष्मतां
सा रम्या नवचम्पकाङ्गि भवतु त्वन्नेत्रयोः प्रीतये॥

मैथिली रीति—इसमे तीन प्रधान गुण थे—(क) अर्थ का अतिशय भी जगत् मर्यादा की सीमा को अतिक्रमण नहीं करता। यह वही गुण है जिसे दण्डी तथा भोजराज 'कान्त' नाम से उल्लिखित करते हैं—'कान्तं सर्वजगत्—कान्त लौकिकार्थानतिक्रमात्'। (ख) अल्पसमास की स्थिति, (ग) योगपरम्परा का निर्वाह जो दण्डी के अनुसार 'गौडी' रीति में पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि मैथिली रीति वैदर्भी तथा गौडी के अन्तराल की शैली थी और इसीलिए इसमें उक्त रीतियों के विशिष्ट गुणों का मिश्रण होता था।

---

१ वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्रः
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते।
—का० मी० पृ० ३१

परन्तु अलंकार ग्रन्थों में कहीं भी मिथिला देश की गणना स्वतन्त्र रीति के प्रचारक प्रान्तों में नहीं की गयी है। केवल 'श्रीपाद' नामक आलंकारिक ने मैथिली को वैदर्भी के समान ही अल्पसमास विशिष्ट बतलाया है। इनके मत का उल्लेख केशव ने अपने अलंकारशेखर में किया है[१]। इस उल्लेख से यही प्रतीत होता है कि मैथिली मागधी का ही नामान्तर था। भोजराज ने मागधी रीति को स्वीकृत किया है, परन्तु उनका यह कथन कि रीतियों के निर्वाह न होने पर खण्डरीति मागधी होती है विषय को सुबोध नहीं बनाता। यह लक्षण स्वयं अव्यवस्थित है और इस विषय के स्पष्टीकरण में सहायता नहीं करता। मैथिली मागधी का ही नामान्तर भले सिद्ध हो जाय, परन्तु यह तो निश्चित ही है कि न तो कसी मान्य आलंकारिक ने इसका निर्देश किया और न यह कविजनों के द्वारा आदृत ही हुई।

भोजराज

भोजराज ने रीतियों के विषय मे विवेचन किया है। उन्होंने रीतियों की संख्या में दो नाम और जोड़ दिये हैं। रीतियों की प्राचीन संख्या चार थी। उन्होंने दो अन्य भेदों की भी कल्पना की है। ये भेद हैं—**आवन्तिका और मागधी**। वैदर्भी तथा पाञ्चाली की अन्तरालवर्तिनी रीति का नाम आवन्तिका है जिसमें दो, तीन, या चार समस्तपदों का अस्तित्व रहता है[२]। समस्त रीतियो के मिश्रण को लाटी और इस रीति के निर्वाह न होने पर

---

१ तदेतत् पल्लवयन्ति श्रीपादाः—

गौडी समासभूयस्त्वात् वैदर्भी च तदल्पतः।
अनयोः संकरो यस्तु मागधी सातिविस्तरा।
गौडीयैः प्रथमा, मध्या वैदर्भैः मैथिलैस्तथा।
अन्यैस्तु चरमा रीतिः स्वभावादेव सेव्यते॥

पृ० ६ (काव्यमाला सं०)

२ अन्तराले तु पाञ्चाली वैदर्भ्योर्याऽवतिष्ठते।
साऽवन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः।

—सर० कण्ठा० २।३२

खण्डरीति मागधी होती है[1] भोजराज के लक्षण तथा भेददर्शन उतने समीक्षात्मक नहीं प्रतीत होते। इन नवीन प्रकारों की विशिष्टता का विशेष परिचय नहीं चलता। भोज ने इन छ प्रकार की रीतियो का वर्णन अपने सरस्वती कण्ठाभरण में किया है। शृङ्गारप्रकाश मे इन दो नवीन रीतियों का अस्तित्व नही मिलता, केवल प्राचीन चार रीतियाँ—पाञ्चाली, गौडीया, वैदर्भी तथा लाटीया—ही उल्लिखित तथा विशेषरूपेण लक्षित हैं। भोज ने राजशेखर के रीति-लक्षणों को ग्रहण किया है और अग्निपुराण का रचयिता इन चारों रीतियो के लक्षण के लिए भोजराज का ही ऋणी है।

रीति के इतिहास मे राजशेखर का नाम इसलिए स्मरणीय रहेगा कि इन्होंने प्राचीन परम्परा से किञ्चित् पृथक् हो कर रीतिनिरूपण मे कतिपय नूतन साधनों का उपयोग किया। भामह तो रीति के विभेद को ही मानते न थे। दण्डी और वामन ने 'गुण' नामक काव्यतत्त्व को रीतियों के पार्थक्य का मूल कारण स्वीकार किया। राजशेखर ने रीतियो के लक्षणनिर्देश के अवसर पर ऐसे साधनों का प्रयोग किया जो उनसे पहिले काव्य जगत् मे कहीं उपलब्ध नहीं थे। भोजराज ने इन्हीं को 'शृङ्गारप्रकाश' के १७ वे परिच्छेद मे ग्रहण किया और अग्निपुराण के रचयिता ने ३४० अध्याय में भोजराज के आधार पर रीति-वृत्ति-प्रवृत्ति का निरूपण प्रस्तुत किया। 'शारदातनय' ने 'भावप्रकाशन' मे, शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर मे तथा 'बहुरूपमिश्र' ने दशरूपक टीका मे इसी परम्परा का अनुगमन किया। राजशेखर इस परम्परा के प्रथम प्रतिपादक हैं। उनका रीतिवर्णन ऊपर दिया गया है। यहाँ भोजराज के द्वारा निर्दिष्ट लक्षण के साथ तुलना करने के लिए दोनो का एकत्र उल्लेख किया जा रहा है।

गौडीया

राजशेखर	समास	अनुप्रास	योगवृत्तिपरम्परा
भोजराज	अतिदीर्घसमास	पादानुप्रास	योगरूढिपरम्परा

---

१ समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते।
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी।
—सर० कण्ठा० २।३३

इन तीन लक्षणों के अतिरिक्त भोजराज गौडीया के लक्षणप्रसङ्ग में 'परिस्फुटबन्ध' 'नात्युपचारवृत्तिमत्' अन्य दो विलक्षणताओं का निर्देश करते है। पता नहीं कि उनके पास इनके लिए कोई आधार था या नहीं। ऊपर के तीनों लक्षण तो भोज ने राजशेखर से ही ग्रहण किया है, केवल अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कतिपय विशेषण जोड़ दिये हैं।

पाञ्चाली

राजशेखर	ईषदसमास	ईषदनुप्रास	उपचार
भोजराज	अनतिदीर्घसमास	पादानुप्रास	उपचार

भोजराज ने दो नई बातें और द —अनतिस्फुट बन्ध और योगरूढि।

वैदर्भी

राजशेखर	असमास	स्थानानुप्रास	योगवृत्ति
भोजराज	असमास	,,	,,

भोज ने यहाँ भी दो विलक्षण साधन दिये हैं—अतिसुकुमार बन्ध और 'अनुपचारवृत्ति'।

रीतिविषयक प्राचीन परम्परा की अवहेलना इन लक्षणों में स्पष्ट है, परन्तु फिर भी हम इन लक्षणों को प्राचीन लक्षणों से एकदम असम्बद्ध भी नहीं मान सकते। दण्डी-वामन की परम्परा मे समास तथा अनुप्रास रीतिनिर्णय में नियामक माने गये हैं और वे यहाँ भी उसी रूप में हैं। उपचार का भी अभाव प्राचीन लक्षणों में नही है क्योंकि दण्डी ने समाधि गुण मे उपचार को ही मुख्य माना है (काव्या० १।६३)[१] बन्धस्फुटत्व, योगरूढ़ि की पदावली अवश्य ही नूतन के समान प्रतीत हो रही है।

शारदातनय ने भोजराज के शृङ्गारप्रकाश में निर्दिष्ट चारों प्रकार के अनुभावों को अपने ग्रन्थ मे स्वीकार किया है—(१) मनआरम्भानुभाव,

१ अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥
—दण्डी १।६३

२ अनुभावश्चतुर्धा स्यान्मनोवाक्कायबुद्धिभिः।
—भावप्रकाशन पृ० ६ पं० १३

(२) वागारम्भानुभाव, (३) गात्रारम्भानुभाव, (४) बुद्धयारम्भानुभाव। इनमे रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति को उन्होने भोज के ही अनुसार बुद्धयारम्भ अनुभाव के अन्तर्गत माना है[१]। अतः रीति बुद्धयारम्भ अनुभाव मे अन्यतम है। इसके पार्थक्य के साधन चार लक्षण माने गये हैं—(क) समास, (ख) सौकुमार्य आदि, (ग) उपचारविशेष, (घ) प्रास और अनुप्रास। शारदातनय भोजराज से भी एक डग आगे बढ़कर हैं क्योंकि उन्होंने सौराष्ट्री तथा द्राविडी जैसी अश्रुतपूर्व रीतियाँ ही नही बढ़ाई हैं, प्रत्युत वे १०५ रीतियों के मानने के पक्ष में हैं। वे तो इतना कहते हैं कि रीतियाँ सख्या में उतनी हैं जितने बोलनेवाले मनुष्य[२]। यह तो रीतियों की संख्या की पराकाष्ठा हो गई !!!

शिगभूपाल का भी रीतिवर्णन भोजराज के वर्णन के अनुरूप ही है। अग्निपुराण के ३४० वें अध्याय मे रीति-वृत्ति-प्रवृत्ति का प्रसङ्ग वर्णित है। ते तीनों बुद्धयारम्भ अनुभाव के अन्तर्गत माने गये हैं। यहाँ जो रीतियों के भेद तथा लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं वे सब भोजराज के शृंगारप्रकाश के अनुरूप ही हैं।

बहुरूप मिश्र ने 'दशरूपक व्याख्या' में रीतियों के परस्पर तारतम्य का जो वर्णन किया है, वह शारदातनय से ग्रहण किया गया है। रीतियों के विभेदसम्पादक चार लक्षण हैं—(१) समासतारतम्य, (२) उपचार-तारतम्य, (३) बन्धसौकुमार्यादि तारतम्य, (४) अनुप्रासभेद, (५) योगादिभेद।

---

१ बुद्धयारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते।
रीतिर्वचनविन्यासक्रमः सापि चतुर्विधा ॥

—भावप्रकाशन, पृ० ११

२ समाससौकुमार्यादितारतम्यात् क्वचित् क्वचित्।
उपचारविशेषाच्च प्रासानुप्रासभेदतः ॥

—वही।

३ प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येषा ॥

—वही

इस समस्त विशिष्टता के आद्य प्रवर्तक राजशेखर ही हैं। अतः रीति के इतिहास में इस विशिष्ट मान्यता के प्रवर्तक होने से राजशेखर का नाम विशेष महत्त्व तथा गौरव से भूषित है।

कुन्तक

रीति के इतिहास में कुन्तक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अलङ्कार शास्त्र के तत्त्वों की विवेचना में कुन्तक की प्रतिभा अलौकिक है—उनकी सूझ इतनी पैनी है कि वह तत्त्वों के विशद विश्लेषण में कृतकार्य होती है। अन्य काव्यतत्त्वो के समान रीति के भी विषय में कुन्तक ने जो समीक्षण प्रस्तुत किया है वह नितान्त मौलिक, प्रामाणिक तथा निगूढ है। वे रीति के मौलिक तथ्य के समीक्षक हैं, उनकी दृष्टि उसके बाह्यरूप तक ही परिमित नहीं रहती। वे प्रथमतः रीतियों के भौगोलिक अभिधान को आदर की दृष्टि से नही देखते। उनका कहना है कि रीति तो कवि के आन्तरिक गुणों तथा स्वभाव की बाहरी अभिव्यक्ति है, देशविशेष से उसका सम्बन्ध ही क्या? किसी विशिष्ट देश मे होनेवाले असाधारण नियमो को 'देशधर्म' के नाम से पुकारते हैं जैसे दक्षिण देश में मामा की कन्या से विवाह। तो क्या रीति भी इसी प्रकार 'देशधर्म' है? देशधर्म का यह स्वभाव होता है कि वह वृद्धो की व्यवहारपरम्परा पर ही अवलम्बित होता है, उस देश के निवासियों की शक्ति-अशक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु रीति के विषय में यह नही कहा जा सकता। यदि किसी देश के जलवायु मे ही किसी विशिष्ट प्रकार की काव्य-रचना के साधन उपलब्ध होते, तो उस देश का प्रत्येक निवासी ही उस प्रकार की काव्य रचना मे प्रवीण होता[१]। परन्तु तथ्य बात तो इससे नितान्त विरुद्ध है। समासबहुला गौडी रीति के क्षेत्रभूत गौडदेश में उत्पन्न होने पर भी गीतगोविन्द के रचयिता महाकवि जयदेव की कविता से कितना लालित्य है, कितना माधुर्य है, क्या यह किसी सहृदय से छिपा हुआ है? विदर्भदेश में उत्पन्न होने पर

---

१ न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत् तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्।
—व० जी० पृ० ४६

भी महाकवि भवभूति के युद्धवर्णन की ओजस्विता, प्रौढ़ता तथा सानुप्रासता किस सहृदय के हृदय को उद्दीप्त नही बनाती ? अतः रीतियो का सम्बन्ध किसी देशविशेष से कथमपि समर्थित नही होता। अतः वस्तुस्थिति के आधार पर वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली जैसी देशप्रधान सज्ञा की अवहेलना ही युक्तियुक्त है।

कुछ आलोचक इन रीतियों मे गुण की दृष्टि से तारतम्य के उपासक हैं—वैदर्भी उत्तम रीति है, गौडी मध्यम तथा पाञ्चाली अधम[१]। परन्तु कुन्तक इस मत से भी सहमत नही हैं। शास्त्र का उद्देश्य उत्तम तत्त्वो का विवेचन ही होता है। यदि गौडी और पाञ्चाली मध्यम तथा अधम कोटि मे आती हैं, तब शास्त्र मे इनके वर्णन करने से लाभ ही क्या ? शास्त्र का उद्देश्य श्लाघनीय रीति के वर्णन में ही है—उस रीति के, जिस का काव्य मे अनुकरण तथा प्रयोग सर्वथा प्रामाणिक, आदरणीय तथा स्तुत्य होता है। वैदर्भी रीति की विवेचना ही जिज्ञासुओं के लिए पर्याप्त होती। अतः रीतित्रयी में गुणत्रयी की व्यवस्था करना सर्वथा निराधार और प्रमाणहीन है[२]। यदि वैदर्भी आदि रीतियो के अभिधान केवल संज्ञा माने जायॅ और कविता के किसी देशविशेष से सम्बन्ध की अभिव्यक्ति सूचित नही हो, तो कुन्तक इन नामों मे आपत्ति करने को प्रस्तुत नहीं हैं।

रीति के विषय मे कुन्तक का यह मुख्य सिद्धान्त है कि रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव से ही होता है। कविस्वभाव के प्रकार अनन्त हैं

---

१ चिरन्तनैर्विदर्भादिदेशविशेषसमाश्रयणेन वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिस्रः समाम्नाताः। तासां चोत्तमाधममध्यमत्ववैचित्र्येण त्रैविध्यम्। अन्यैश्च वैदर्भ-गौडीयलक्षणं मार्गद्वितयमाख्यातम्। एतच्च उभयमपि अयुक्तिमत्।

—व० जी० पृ० ४५

२ न च रीतीनामुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यमव्यवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारि काव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासम्भवात् मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते, तैरेवानभ्युपगतत्वात्।

—वहीं पृ० ४६

और वे इतने निगूढ़ हैं कि उनके सूक्ष्म अन्तर का वर्णन करना एक दुष्कर कार्य है। तथापि कतिपय प्रकारो की मुख्यता सर्वत्र लक्षित होती है। स्वभाव तीन प्रकार के प्रधानतया होते हैं—सुकुमार, विचित्र, मध्यम। सुकुमार-स्वभाववाले कवि की शक्ति भी तदनुरूप सहजा होती है। उसकी व्युत्पत्ति भी उसी प्रकार सौकुमार्य तथा रमणीयता से मण्डित होती है। इन्हीं शक्ति तथा व्युत्पत्ति के कारण वह 'सुकुमारमार्ग' से काव्यकला के साधन में प्रवृत्त होता है[1] विचित्र स्वभाववाले कवि की शक्ति और व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार विचित्रता तथा उद्दीसता धारण करती है और वह कवि इसीलिए 'विचित्रमार्ग' से काव्यकला की साधना में संलग्न होता है[2]। मध्यमस्वभाववाले कवि की शक्ति और व्युत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारो की मध्यगामिनी होती है और इसीलिए वह उन दोनों से पृथक् एक नवीन मार्ग से ही काव्य के रूप में अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति करता है। यह नवीन मार्ग पूर्वोक्त दोनो मार्गो के संमिश्रणजन्य चमत्कार से व्याप्त रहता है। अतः इसका नाम है—'मध्यम-मार्ग'। अतः रीति के निर्माण में कवि का स्वभाव ही प्रधान कारण होता है—स्वभाव की अनन्तता के कारण रीति की भी अनन्तता न्यायसङ्गत है, परन्तु ऐसी स्थिति मे रीतियों की गणना असम्भव व्यापार होगी, इसीलिए विषय को बोधगम्य बनाने के लिए तीन ही रीतियो का उल्लेख कुन्तक ने किया है[3]।

---

१ कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसता गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति शक्तिशक्तिमतोरभेदात्। तथा तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्या च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते। व० जी० पृ० ४६

२ तथैव चैतस्माद् विचित्रः स्वभावो यस्य कवेस्तद्विदाह्लादकारि-काव्यलक्षणकरणप्रस्तावात् सौकुमार्यव्यतिरेकिणा वैचित्र्येण रमणीय एव, तस्य च काचिद्विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति। व० जी० पृ० ४६

३ यद्यपि कविस्वभाव-भेद-निबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वम् अनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते।

—वहीं पृ० ४७

कुन्तक मनुष्य जीवन में 'स्वभाव' की महत्ता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं। '**स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते**'—यह लोकोक्ति इसी महत्ता की प्रतिपादिका है। स्वभाव तो मनुष्य का 'स्वो भावः'=अपनापन, अपना अस्तित्व, अपना रूप है। मनुष्य के आदर तथा तिरस्कार, मान तथा अपमान, उन्नति तथा अवनति पाने में उसका स्वभाव ही विशेषतः निमित्त हुआ करता है। सौम्य स्वभाव के कारण मनुष्य जहाँ जनसमाज मे सत्कार तथा मान पाता है, वही उग्रस्वभाव के कारण तिरस्कार तथा अपमान का भाजन बनता है। अतः 'स्वभाव' की व्यापकता तथा प्रभावशालिता सचमुच मानवजीवन के प्रत्येक स्तर में जागरूक रहनेवाली है[१]। जब स्वभाव की इतनी महत्ता है, तो काव्यरचना में ही उसका प्रभाव क्यों नही लक्षित होगा ? इसलिए कुन्तक ने रीति को कविस्वभाव के ऊपर आश्रित मानकर उसके लिए सुदृढ़ आधार खोज निकाला है। अतः इस महनीय आचार्य की सम्मति में काव्य की रचना पर, उसके विशिष्ट प्रकार ग्रहण करने पर, शैली के निर्धारण पर, सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है—लेखक के '**स्वभाव**' का, न तो उसके काल का और न उसके देश का। कुन्तक ने प्राचीन मान्य कवियों के मार्गों का भी निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है। मातृगुप्त, मायूराज तथा मञ्जीर कवि 'मध्यममार्ग' के उपासक हैं क्योंकि इन्होंने अपने काव्य के सहज सौन्दर्य को बाह्य अलकरणों से अलङ्कृत कर उसे रुचिकर बनाया है। कालिदास और सर्वसेन कवि 'सुकुमारमार्ग' के सेवक हैं क्योंकि इनके काव्यों मे कविता का स्वाभाविक निखरा रूप लक्षित होता है। शब्दाडम्बर तथा ओजगुण के कवि बाणभट्ट 'विचित्रमार्ग' के सर्वश्रेष्ठ अनुयायी बतलाये गये हैं और भवभूति तथा राजशेखर भी इसी मार्ग के साधक स्वीकृत किये गये है।

---

१ आस्तां तावत् काव्यकरणं, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचित् अनादि-वासनाभ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिण्यावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तेते। तौ च स्वभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः

—व० जी० पृ० ४७

तीन मार्ग

इस प्रकार कुन्तक ने प्राचीन भौगोलिक नामों का तिरस्कार कर कवि-स्वभावानुरूप तीन मार्गों का वर्णन किया है—(१) सुकुमार मार्ग, (२) विचित्र मार्ग तथा (३) मध्यम मार्ग। ये तीनों मार्ग तीन प्रकार के स्वभाववाले कवियों के द्वारा आश्रित होते हैं और तीन प्रकार की अवस्था के उपयुक्त होते। किन्हीं कवियों का यह स्वभाव होता है कि वे वस्तु का वर्णन स्वाभाविक ढंग से करते हैं, रस तथा भावों पर ही उनकी दृष्टि लगी रहती है, वे सहज सौन्दर्य के उपासक होते हैं, नैसर्गिकता उनके काव्य का जीवन होती है। ऐसे कवियों के द्वारा अभ्यस्त मार्ग 'सुकुमार' कहलाता है। इस प्रकार 'सुकुमारमार्ग' में 'रसपक्ष' का निर्वाह होता है। कुछ कविजन 'कलापक्ष' के उपासक होते हैं, वे अपने काव्य में बाहरी चाकचिक्य लाने के पक्षपाती होते हैं और इसलिए वे अपनी कविता को अलंकारों से इतना अधिक भूषित कर देते हैं कि सर्वत्र अलंकारों का झंकार तथा भड़कीली सजावट ही पाठकों की दृष्टि लुभाने लगती है। इस प्रकार अलंकारसमुच्चय से चर्चित, कलात्मक शब्दसौष्ठव से मण्डित, रचना-प्रकार की संज्ञा 'विचित्रमार्ग' है। कतिपय कविजन उभयपक्ष के सामञ्जस्य के सेवक होते हैं—वे स्वाभाविक सौन्दर्य को अलंकारों से विभूषित कर निसर्ग तथा कला दोनों का एकत्र संमिश्रण प्रस्तुत करते हैं। उनका मार्ग 'मध्यममार्ग' कहलाता है।

सुकुमार मार्ग

सुकुमारमार्ग की विशिष्टता परखने के लिए वाल्मीकि तथा कालिदास की कविता पर दृष्टि डालिए। वाल्मीकि का 'आदिकाव्य' रामायण संस्कृत भारती का नितान्त अभिराम निकेतन है। सरसता तथा स्वाभाविकता उसका सर्वस्व है। नाना रसों का मञ्जुल समन्वय, प्रकृति-वर्णन में सातिशय नैसर्गिकता, छोटे छोटे मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण सरस अर्थ की अभिव्यक्ति—इस काव्य की विशिष्टता है। स्थान स्थान पर वाल्मीकि ने अपने काव्य को अलकारों से अलंकृत भी किया है, परन्तु यह अलंकारविन्यास प्रयत्नसाध्य न होकर अनायास ही प्रस्तुत

हुआ है। ये अलंकार रस के विघातक नहीं हैं, प्रत्युत इनसे वस्तु का सौंदर्य और भी अधिकता से निखरता है और रसिकों का हृदय हठात् मुग्ध बन जाता है। इन अनायास-साध्य अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, काव्यशोभा का विकास संघटित होता है, गुण की गरिमा बढ़ती है। स्वभावोक्ति का प्रयोग वस्तु के सौंदर्य को तथा प्रस्तुत रस की अनुकूलता को विशेषतः बढ़ाता है। वाल्मीकि ने हेमन्त के शीत की विपुलता दिखलाने के लिए उस हाथी का वर्णन किया है जो अत्यन्त प्यासा होने पर भी जल को स्पर्श करते ही अपने सूँड को सिकोड़ लेता है—

स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
(अरण्य० अ०१६)

यह स्वभावोक्ति हेमन्त के शीत की कितनी अभिव्यञ्जिका है, यह सहृदयों से विशेष कहने की आवश्यकता नही। कालिदास की कविता में भी इसी नैसर्गिकता का राज्य है—इसका प्रदर्शन ही उनका ध्येय है। स्थान स्थानपर अलकारो का विन्यास है, परन्तु वह नितान्त भव्य है, भड़कीला नही, कि पाठकों का हृदय वर्ण्य वस्तु को छोड़कर अलकार की छटा की ओर आकृष्ट हो जाय। इस प्रकार निसर्गतः सरस, मधुर तथा प्रसादमयी पदावली के विन्यास से समन्वित मार्ग का नाम है——सुकुमारमार्ग[१]।

---

१ अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः ।
रसादिपरमार्थज्ञमनः — संवादसुन्दरः ॥
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः ।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ॥
यत् किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम् ।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः ॥
व० जी० १। २५-२६

विचित्र मार्ग

'वैचित्र्यम् अलंकारः' अर्थात् विचित्रता का ही नाम अलंकार है। अतः अलंकार प्राणवाले मार्ग को 'विचित्रमार्ग' कहना उचित ही है। इस मार्ग में अलंकारों की इतनी अधिक सजावट होती है कि एक अलंकार का प्रभाव मन से अभी हटा नहीं, कि दूसरा अलंकार अपनी प्रभुता जमाने के लिए आ बैठता है—एक अलंकार दूसरे अलंकार के निबन्धन का कारण बनता है[1]। नाना रंगबिरंगे रत्नों से जडित आभूषण हृदय पर जो प्रभाव उत्पन्न करते हैं या कारचोबी का काम किया गया रत्नखचित जरी का कपड़ा पैदा करता है वही प्रभाव यह मार्ग भी प्रस्तुत करता है। इसमें नूतन अर्थ का उल्लेख नहीं होता, केवल उक्ति की विचित्रता ही अलंकार्य वस्तु को लोकोत्तर कोटि में पहुँचा देती है[2]। अतिशयोक्ति का विलास इस मार्ग की विशिष्टता होता है। विचित्रमार्ग की विशेषता पढ़ कर वाल्मीकि के द्वारा वर्णित रावण के पुष्पकविमान का वर्णन स्मरण हो आता है:—

> न तत्र किञ्चिन्न कृतं प्रयत्नतः
> न तत्र किञ्चिन्न महार्घरत्नवत्।
> न ते विशेषा नियताः सुरेष्वपि
> न तत्र किञ्चिन्न महाविशेपवत्
>
> —रामा० सुन्दर० ८।३

पुष्पकविमान में ऐसी कोई वस्तु न थी जो प्रयत्न से नहीं बनाई गई हो। ऐसी कोई चीज न थी जिसमें वेशकीमती हीरे जवाहिरात

---

१ अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम्
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्।
व० जी० १।३५

२ यद्यप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठा कामपि नीयते॥
—वहीं १।३८

नही जड़े गये थे। ऐसी रचना के प्रकार विद्यमान थे जो देवताओं के विमानों में भी नियत नही हैं। उसमें ऐसा कोई पदार्थ न था जिसकी कोई विशेषता न हो। बस यही है 'विचित्रमार्ग'—**न तत्र किञ्चिन्न कृतं प्रयत्नतः**—जिसमे प्रत्येक वस्तु प्रयत्नपूर्वक रचित हो, जिसके प्रत्येक अग में अलकारो की छटा हो, रचना की विशिष्टता हो। विचित्रमार्ग का प्राण है प्रयत्नरचित अलंकरण, नेत्रों में गड़नेवाली सजावट, बाहरी चाकचिक्य। बाणभट्ट के गद्य का परीक्षण कीजिए— यही विचित्र मार्ग का सर्वाङ्गशोभन उदाहरण है। अलंकारों का प्रयत्नपूर्वक सन्निवेश, सजावट की उल्बण रचना, अतिशय उक्ति का चमत्कारी विन्यास, झणझणायमान पदावली का झंकार—विचित्रमार्ग की अपनी विभूति है[१]। बाण तथा सुबन्धु, भवभूति तथा राजशेखर इस रीति के प्रतिनिधि कवि हैं।

मध्यम मार्ग

इसका 'मध्यम' नाम नितान्त सार्थक है क्योंकि इसमें पूर्वोक्त दोनो मार्गों—सुकुमार तथा विचित्र—की शोभा समरूपेण एकत्र निवास करती हैं, न कम और न अधिक। यहाँ दोनो मार्गों का मिश्रण होता है अर्थात् दोनो के गुण एक साथ मिश्रित होकर काव्य में निबद्ध किये जाते हैं। कुछ कविजनों का यह स्वभाव होता है कि न तो स्वाभाविक सौन्दर्य रखने से उन्हे तृप्ति होती है, और न अलकारों की अधिक सजावट से ही उन्हे सन्तोष होता है, प्रत्युत दोनों का सन्तुलन ही उनकी कला का आराध्य

---

१ स्वभावः सरसाकूतो भावाना यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः॥
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा॥

व० जी० १। ४१,४२

लक्ष्य होता है। ऐसे कवियों का मार्ग 'मध्यम मार्ग' कहलावेगा[1]। कुन्तक ने इस मार्ग के उपासक जिन कवियों—मातृगुप्त, मायूराज तथा मञ्जीर—का नामोल्लेख किया है उनके काव्यों का पता नहीं चलता। अतः इस मार्ग के मनोरम रूप का दर्शन झटिति करने में पाठक असमर्थ ही हैं।

मार्गों के गुण

कुन्तक के इन मार्गों के विशिष्ट तथा साधारण दो प्रकार के गुणों का वर्णन किया है। 'सुकुमारमार्ग' में चार विशिष्ट गुण उपलब्ध होते हैं जिनसे इस मार्ग की सहज शोभा स्वतः परिस्फुरित होती है। इन गुणों के नाम हैं—(१) माधुर्य, (२) प्रसाद, (३) लावण्य, (४) आभिजात्य।

(१) माधुर्य की विशेषता है—असमस्तपदता तथा मनोहारिपद-विन्यास[2]। अर्थात् समास का स्वल्पप्रयोग (बिल्कुल अभाव नहीं) तथा मनोहर पदों का विन्यास। कुन्तक से पहले वामन ने भी 'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' कहकर माधुर्य में दीर्घसमास का अभाव आवश्यक माना है। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए, यथार्थभाव के प्रदर्शन के निमित्त, लेखक को अर्थ के अपकर्ष तथा उत्कर्ष को लक्षित करना पड़ता है और इस कार्य के लिए वाक्य

---

१ वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी॥
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम्॥
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः॥
—व० जी० १।४६-५१

२ असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः॥
वहीं, १।३०

के पदों की पृथक्‌रूप से स्थिति अनिवार्य होती है[1]। समास का भी अपना विशिष्ट सौन्दर्य है, परन्तु वह, जैसा महिमभट्ट ने प्रतिपादित किया है, अर्थों के सम्बन्धमात्र का ही बोध कराता है, न उनके उत्कर्ष का और न उनके अपकर्ष का[2]। इसीलिए मान्य आलोचकों का आग्रह है[3] कि रसभाव के अभिनिवेश से रुचिर सुकुमारमार्ग या वैदर्भी रीति में समास का यथाशक्य स्वल्पप्रयोग करना ही 'विदग्धता है। साथ ही साथ मनोहर पदों का विन्यास भी आवश्यक अंग है।

(२) प्रसाद=जिस शब्द की शक्ति जिस अर्थ के प्रकट करने में प्रसिद्ध है उसी शब्द का उस अर्थ में प्रयोग (प्रसिद्धाभिधानत्व) जिससे अर्थ की स्फूर्ति झटिति हो जाय[4]। इतना ही नहीं, अर्थ का स्पष्टतः प्रतिपादन तो एक अग हुआ। रस तथा वक्रोक्ति का प्रतिपादन भी प्रसाद का ही कार्य है! सुकुमार मार्ग की यह विशिष्टता है कि कवि को जिस अर्थ की अभिव्यक्ति अभीष्ट हो, वह तत्-प्रतिपादक शब्द के द्वारा तुरन्त प्रकट होना चाहिए—अर्थ के साथ रसाभिव्यक्ति भी होनी ही चाहिए। जैसे इन्दुमती-स्वयंवर के अवसर पर कालिदास का यह पद्य—

---

१ विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते॥
तौ विधेयानुवाद्यत्वविवक्षैकनिबन्धनौ।
सा समासेऽस्तमायातीत्यसकृत् प्रतिपादितम्॥
—व्यक्तिविवेक २।१४-१५।

२ सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत्।
नोत्कर्षमपकर्षं वा॥
—वही २।१७

३ अतएव च वैदर्भी रीतिरेकैव शस्यते।
यतः समास-संस्पर्शस्तत्र नैवोपपद्यते॥
वही २।१६

४ अक्लेश व्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम्
रसवक्रोक्तिविषय यत् प्रसादः स कथ्यते॥
व० जी० १। ३१

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृत स्वेदलवा मरुद्भिः ॥

रघु० ६। ५३

[इस राजा के साथ समुद्र के तट पर विहार करो। तट के ऊपर ताड़ के घने वृक्षसमूहों में मर्मरध्वनि गूंजती रहती है। अन्य द्वीपों से लाये गये लवङ्ग के फूलों की गन्ध से सुगन्धित वायु के द्वारा तुम्हारे पसीने के बूंद सुखा दिये जायेंगे]

(३) लावण्य—श्रोता तथा काव्यपाठक की दृष्टि अर्थ तथा रस की चर्वणा से पहिले बन्ध की सुन्दरता पर जाती है। श्रवणपेशल पद कान में पड़ते ही श्रोता को अर्थ की ओर स्वतः आकृष्ट कर लेते हैं। सुनने में रोचक वाक्य की ओर ध्यान आप ही आप आकृष्ट हो जाता है। अतः वर्ण-विन्यास तथा पदसन्धान की सम्पत्ति भी काव्य के लिए आवश्यक होती है और इसी गुण का नाम है—लावण्य[1]। लावण्य अर्थात् बन्ध=रचना की सुन्दरता। इस गुण से कवि का अभिप्राय काव्य के अन्तरंग की अपेक्षा उसके बहिरंग के सौन्दर्य सम्पादन में है।

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम्।

—रघु० १६।५०

[ग्रीष्म ऋतु का आगमन हो गया है। सुन्दरी रमणियों ने सायंकाल स्नान कर अपने केशों को धूप की गन्ध से वासित किया है। उनके केश स्नान से आर्द्र हैं तथा खुले हुए हैं। उनमें मल्लिका के फूल सुशोभित हो रहे हैं। वसन्त के चले जाने से मन्दवीर्य कामदेव ने रमणियों के इन केशों से बल प्राप्त किया। केश काम के संचार में सहायक हैं] यहाँ बन्ध की सुन्दरता पाठकों के चित्त को प्रथमतः आकृष्ट करती है।

१　वर्णविन्यास विच्छित्तिपद-सन्धानसम्पदा।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥

—व० जी० १।३२

(४) आभिजात्य—यह भी लावण्य की कोटि का ही गुण है। इसमें वर्ण श्रवणेन्द्रिय को अतिशय सुख पहुँचानेवाले होते हैं। प्रतीत होता है कि चित्त उसे स्पर्श कर रहा है, परन्तु शब्दों के द्वारा उसका ठीक वर्णन नहीं कर सकता। स्वभाव से इसकी कान्ति नितान्त श्लक्ष्ण तथा मसृण होती है, हृदय उसे स्पर्श करता है पर जिह्वा उसे यथार्थतः अभिव्यक्त सकती—वही है आभिजात्य गुण[१]। जैसा कालिदास का मेघदूत का यह पद्य—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः॥

पूर्वमेघ ४४

[जा उनके बरही को पखा
गिरि तारे जड़ी सी कहूँ परती है।
गौरि उठाय के पूत सनेह सों
कानन कञ्ज सौ ले धरती है॥
जासु कोएन की उज्ज्वलता
शिव के शशि सो समता करती है।
ताहि नचाइयो घोर बड़ी करि
माँहि गुफान के जो भरती है॥

—लक्ष्मणसिंह]

लावण्य और आभिजात्य शब्दों का मुख्य प्रयोग अलौकिक सुन्दरी के रूप के विषय में किया जाता है, परन्तु कविताकामिनी के गुणों के विषय में भी इनका प्रयोग उपचारवशात् उचित ही है।

---

१ श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा।
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते॥

—व० जी० १।३३

विचित्रमार्ग में भी पूर्वनिर्दिष्ट चारों गुण विद्यमान रहते हैं। अन्तर इतना ही होता है कि यहाँ वे पूर्वापेक्षा अतिशयरूप में वर्तमान रहते हैं और वे आहार्यशोभा—प्रयत्नसाध्य बाह्यशोभा—के उत्पादक होते हैं[1]। इसीलिए विचित्रमार्ग के उपर्युक्त इन गुणों के स्वरूप में भी यत्रतत्र भेद है।

(१) **माधुर्य**—पदों की मधुरता जब विदग्धता या विचित्रता प्रकट करती है तथा कोमलता का निरास कर रचना के सौन्दर्य का कारण बनती है, तब वह माधुर्य नाम से अभिहित होती है। विचित्रमार्ग में माधुर्यगुण वैचित्र्यसम्पादक होता है तथा शैथिल्य का सर्वथा निराकरण करता है[2]। यथा—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ॥

[किसी कामिनी के रूप का वर्णन है। क्या यह सुन्दरी तारुण्यरूपी वृक्ष की नवरस से पूर्ण खिली हुई नूतन लता है अथवा क्या यह लीला से लहर मारनेवाले लावण्यरूपी समुद्र की कोई लहरी है] रूपक के सौन्दर्य के साथ साथ वाक्य का घनबन्ध माधुर्य का प्रतिनिधि है।

(२) **प्रसाद**—सुकुमारमार्ग में असमस्तपदों का न्यास उचित माना जाता है, परन्तु विचित्रमार्ग मे समासबहुल ओजगुण का किञ्चित् ग्रहण भी आवश्यक होता है। यही प्रसाद है[3] जो वामन के अनुसार ओज का ही दूसरा नाम है (**गाढबन्धत्वमोजः—वामन ३।१।५**)

---

१ आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदितागुणाः।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः ॥
—व० जी० श्लोक ११०

२ वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्य पदानामत्र बाध्यते
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुराङ्गताम् ॥
—वही १।४४

३ असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥
—वही १।४

जैसे—

> अपाङ्गगततारकाः स्तिमितपक्ष्मपालीभृतः
> स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्गतिद्योतिताः ।
> विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो
> जयन्ति रमणेऽर्पिताः समदसुन्दरीदृष्टयः ॥

[प्रियतम के प्रति अर्पित की गई मतवाली सुन्दरी की दृष्टियाँ विजयी बनें—वे दृष्टियाँ, जिनकी तारका नेत्र के कोने तक पहुँच गई हैं, जिनके पक्ष्म की पंक्ति बिल्कुल निश्चल हो गई है, सुन्दर कान्ति से जो स्निग्ध हैं, स्मित के उदय से जो प्रकाशित हो रही हैं, विलास के भार से जो मन्द मन्द चलती हैं और जिनमे एक भौंह चञ्चल हो गया है ।]

इस पद्य में ओज का मिश्रण सुस्पष्ट ही है ।

(३) लावण्य—यह पदों के सौन्दर्य से प्रधानतया सम्बन्ध रखता है । इसमे पद एक दूसरे के साथ आपस मे गूँथे रहते हैं । उनके अन्त में विसर्ग का लोप नहीं होता, प्रत्युत विसर्ग की विशिष्ट सत्ता रहती है और संयोगपूर्वक ह्रस्व स्वर की अधिकता रहती है । वही 'लावण्य' गुण है[१] ।

> श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे धौताञ्जनश्यामलाः
> कीर्यन्ते कणशः कृशाङ्गि किममी बाष्पाम्भसां बिन्दवः ।
> किञ्चाकुञ्चितकण्ठरोधकुटिलाः कर्णामृतस्यन्दिनो
> हूंकाराः कलपञ्चमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति निर्यान्ति च ॥

[हे तन्वङ्गि ! तुम्हारे स्तनों के तट श्वास की अधिकता के कारण काँप रहे हैं और नेत्रो के कज्जल को धो डालनेवाली काली काली आँसुओं की बूंदे कण कणरूप से विकीर्ण हो रही हैं । इसका क्या कारण है ? कान में अमृत को चुलानेवाले तथा मीठे पञ्चम स्वर के प्रेमी हुंकार क्यों आज

---

१ अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम् ।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥
—व० जी० १ । ४७

टूट रहे हैं और बाहर निकल रहे हैं—वे हुंकार, जो सिकोड़े गये कण्ठ में रुक जाने के कारण सीधे न निकलकर टेढ़े निकल रहे हैं]

इस पद्य में पहली विशेषता यह है कि समग्रपद परस्पर मिलकर एकाकार प्रतीत हो रहे हैं। अनेक पदों के अन्त में विसर्ग की बहुल सत्ता विद्यमान है। कम्प, रङ्ग, नश्या, र्यन्ते आदि अनेक पदों में संयोगपूर्वक ह्रस्व प्रौढ़ता का सम्पादन कर रहा है जिससे पद्य का लावण्य स्फुटित हो रहा है।

(४) आभिजात्य—आभिजात्य वह गुण है जिसमें न तो अत्यन्त कोमलता का अस्तित्व हो और न अत्यन्त कठिनता का, प्रत्युत कवि कौशल से सम्पादित होकर जो दोनों के मध्य में स्थिति धारण करे[१]।

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिकेली—यौवराज्याभिषेकम् ॥

[हे सुतनु, जो तुम अपनी हथेली पर सिर रखकर सो रही हो, सो उसके दृढ़तर सम्मिलन (मेल या सम्बन्ध) के कारण तुम्हारे कपोलों का पीलापन मिट गया है। सच सच बतलाओ कि यह किस नायक के राजा कामदेव के युवराजपद पर अभिषिक्त होने के सौभाग्य को प्रकट कर रहा है अर्थात् जिस नायक के प्रेम में अनुरक्त होकर तुम इतनी विरहविधुरा हो, वह सचमुच धन्य है। —वह कामदेव नरपति के युवराज बनने की योग्यता रखता है अर्थात् कामदेव के समान ही सुन्दर है। बतलाओ ऐसा भाग्यशाली कौन है ?]

इस शृङ्गारप्रधान पद्य में न तो वर्णों की नितान्त कोमलता है और न एकान्त काठिन्य, प्रत्युत दोनों के बीच की स्थिति है। लकार की स्थिति से कोमलता आई है, परन्तु ण्ड, ण्ड, ञ्ज, स्म, ज्य आदि संयुक्ताक्षरों के सहयोग में उसे मध्यम स्थिति प्राप्त हो गई है। यही है—आभिजात्य।

---

१ यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम् ॥
—व० जी० १।४८

मध्यममार्ग मे भी ये ही गुण होते हैं जिनमें उभयमार्गों की विशिष्टता लक्षित होती है। इन विशिष्ट गुणों के अतिरिक्त दो साधारण गुण ऐसे हैं जो इन तीनों मार्गों में समानरूप से निवास करते हैं। एक है—औचित्य और दूसरा है—सौभाग्य। औचित्य के द्वारा वक्ता या वाच्य के अतिशय स्वरूप का उन्मीलन होता है। 'सौभाग्य' गुण को कुन्तक अलौकिक चमत्कारी तथा 'काव्यैकजीवितम्' मानते हैं[1]। उनकी दृष्टि में इस महनीय गुण की सत्ता काव्य में शोभा का मुख्य प्रतीक है।

कुन्तक का यह रीति-निरूपण नितान्त प्रौढ़ि तथा मौलिक विश्लेषण का द्योतक है। उन्होंने कविस्वभाव के ऊपर रीति का आश्रय मान कर सुकुमारमार्ग तथा विचित्रमार्ग के स्वरूप का जो विवेचन किया है वह उनकी मौलिक कल्पनाशक्ति का घनिष्ठ परिचायक है। सुकुमारमार्ग में सौन्दर्य अपने स्वाभाविक रूप में विद्यमान रहता है (सहजशोभा), तो विचित्रमार्ग में बाहरी विच्छित्ति की प्रधानता रहती है (आहार्यशोभा)। पहले में सभावोक्ति तथा रस-उक्ति का विलास रहता है, तो दूसरे में वक्र उक्ति का चमत्कार। पहले में कवि की शक्ति लक्षित होती है; तो दूसरे में व्युत्पत्ति और अभ्यास। पहली रीति अलौकिक देन है, तो दूसरे मे सफलता पाना नितान्त कठिन है; क्योंकि वस्तु के अलंकरण तथा सजावट मे भी गिरने के लिए अनेक गड्ढे होते हैं। उनसे बचने पर ही अलकरण चमत्कारजनक होता है, नही तो वह कृत्रिमता तथा भोंड़ापन पैदा करने लगता है इसीलिए कुन्तक ने विचित्रमार्ग को तलवार के धार का मार्ग 'खड्गधारापथ'—'तलवार के धार पर धावनो' कहा है। निःसन्देह विचित्रमार्ग का सफल अनुगमन विदग्धता का प्रधान लक्षण है—

सोऽतिदुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः।
खड्गधारापथेनैव सुभटानां मनोरथाः ॥

—व० जी० १।४३

---

१ इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः।
सम्यक् सरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ॥
सर्वसम्पत्-परिस्पन्दसम्पाद्य सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ॥

—व० जी० १।५४,५५

(ग) रीति की समीक्षा

यह रीति का ऐतिहासिक विवरण है। एक सामान्य कल्पना से किस प्रकार विज्ञ आलोचकों ने इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया, इस क्रमिक विकास का यह संक्षिप्त विवेचन है। अब आवश्यकता इस बात की है कि रीति के सामान्य स्वरूप तथा विशिष्ट विभेदों का वर्णन प्रस्तुत किया जाय। इस परिच्छेद के आरम्भ में हमने काव्य संसार में 'रीति' के गौरव की कुछ सूचना दी है। उसे यहाँ फिर से दुहराने की जरूरत नही है।

विशिष्ट लेखनप्रकार के लिए 'रीति' शब्द का प्रयोग साहित्य शास्त्र में अष्टम शतक से प्राचीन नही है। वामन ने ही इसका सर्व-प्रथम अभिधान अपने 'काव्यालकार सूत्र' में दिया है। उनसे प्राचीन आलंकारिक इस काव्यतत्त्व को 'मार्ग' के नाम से पुकारते थे। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में 'मार्ग' शब्द का ही प्रयोग किया है, परन्तु लोकप्रसिद्ध न होने के कारण उन्होंने इसका लक्षण नहीं किया। उनसे प्राचीन तथा साहित्य शास्त्रके आद्य आचार्य भामह ने न तो 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है और न उसका लक्षण ही दिया है, परन्तु मार्ग के उभय भेद—वैदर्भ तथा गौडीय—के स्वरूप की पर्याप्तरूप से विभिन्नता माननेवाले अलंकारिकों की उन्होंने खूब खबर ली है। अतः काव्य के विशिष्ट तथ्य के रूप में 'मार्ग' 'रीति' की अपेक्षा प्राचीनतर है, परन्तु 'मार्ग' की अपेक्षा 'रीति' शब्द अधिकतर लोकप्रिय है। पिछले युग के आलकारिक 'रीति' शब्द का ही विशेष प्रयोग करते आये हैं[१]।

---

१ हिन्दी मे आजकल व्यवहृत 'शैली' शब्द का प्रयोग किसी भी अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ मे नही मिलता। शैली 'शील' से व्युत्पन्न है और उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'स्वभाव' ही है, परन्तु शास्त्र में इसका अर्थ होता है किसी सूत्र के व्याख्यान की पद्धति। द्रष्टव्य—

प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति

—कुल्लूकभट्ट की टीका, मनुस्मृति १।४

अंग्रेजी में प्रयुक्त 'स्टाइल' शब्द लैटिन भाषा के 'स्टाइलस' शब्द (लोहे की कलम) से निकला है। इस व्युत्पत्ति से गम्य अर्थ के लिए आगे देखिए।

रीति का लक्षण

मार्ग या रीति का लक्षण न तो भामह ने ही दिया है और न दण्डी ने। वामन इसके प्रथम लक्षणनिर्माता हैं। उनके अनुसार रीति का लक्षण है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः' (काव्या० १।२।७)। रीति पदों की रचना का नाम है जो विशिष्टता से युक्त होती है। विशेष क्या ? वामन का उत्तर है—'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् ओजप्रसाद आदि गुण जिसका स्वभाव है वही विशेष होता है। इस प्रकार वामन का परिनिष्ठित लक्षण यह हुआ—पदो की वह रचना जिसमें ओज, प्रसादादि गुण विशिष्टता उत्पन्न करता है अर्थात् गुणों से मण्डित पदरचना। आनन्दवर्धन इसे **'संघटना'** की संज्ञा से सूचित करते हैं। सघटना है सम्यक् घटना = पदों की सम्यक् या शोभन, घटना अर्थात् रचना। घटना का सम्यक्त्व गुणों के कारण ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार आनन्दवर्धन का 'संघटना' शब्द नितान्त सारगर्भित है और यह वामन के 'विशिष्टा पदरचना' का ही पिण्डीकृत रूप है। विश्वनाथ कविराज ने आनन्द वर्धन की रीतिविषयक कल्पना को ही मान्य मानकर इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

> **पदसंघटना रीतिः अङ्गसंस्थाविशेषवत् ।**
> **उपकर्त्री रसादीनाम्··· ··· ··· ··· ॥**

जिसप्रकार कामिनी के शरीर मे अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन होता है—सब अग एक नियत प्रकार से निबद्ध किये जाने पर ही शोभाधायक होते हैं, ठीक उसीप्रकार पदों की संघटना रीति कही जाती है और वह रस आदि काव्यसौन्दर्य के उन्मीलन के लिए उपकार करनेवाली होती है। रीति का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इस तथ्य का विवेचन आनन्दवर्धन ने ही सबसे पहिले किया। रीतिसम्प्रदाय के ग्रन्थकारो ने इस तत्त्व की स्फूर्ति थोड़ी ही मात्रा मे की थी, वे इन दोनों के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध का किञ्चिन्मात्र ही उन्मीलन करने में समर्थ हो पाये थे[१]। समग्र तत्त्व का उन्मीलन तथा स्पष्टीकरण आनन्दवर्धन ने किया। तथ्य

---

१ अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः संवर्तिताः। ध्वन्या० ३। ५२

बात तो यह है कि ध्वनिसम्प्रदाय ने ही काव्य के विभिन्न तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध की यथार्थ निरूपणा की है। रीति सम्प्रदाय के बहिर्भूत होने पर भी आनन्दवर्धन का रीतिनिरूपण नितान्त तलस्पर्शी तथा उपादेय है। रीति के विषय में वे रहते हैं—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् ... ... ॥ ३।६।

अर्थात् संघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर खड़ी रहती है और रसों की अभिव्यक्ति करती है। सघटना तथा गुणों के परस्पर सम्बन्ध का भी विशिष्ट विवेचन आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया है। इस विषय में तीन पक्ष हो सकते हैं— (१) संघटनाऔर गुण की एकता, (२) संघटना पर आश्रित गुण, (३) गुणों पर आश्रित संघटना। प्रथम दोनों पक्षों के मानने पर सिद्धान्त मे हानि होने लगती है। इन दोनों पक्षों के मानने पर संघटना के समान ही गुणो का भी विषय अनियत होने लगेगा, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। गुणों का विषय सर्वदा निश्चित रहता है[१]। माधुर्य तथा प्रसाद का प्रकर्ष करुणरस तथा विप्रलम्भश्रृंगार में ही होता है; ओज का प्रकर्ष रौद्र तथा अद्भुतरस में, माधुर्य तथा प्रसाद के विषय रस, भाव तथा तदाभास ही होते हैं—इस प्रकार गुणों में विशेष नियम की व्यवस्था है, परन्तु संघटना की स्थिति पृथक् ही है। संघटना के विपय का नियमन नही होता। इसीलिए श्रृंगार मे भी दीर्घसमासवाली तथा रौद्र आदि रसों में समासरहित सघटना का भी प्रयोग न्यायसंगत माना जाता है। श्रृंगार में दीर्घसमास का प्रयोग देखिए—

---

१ यदि गुणाः संघटना चेत्येकं तत्त्व संघटनाश्रया वा गुणास्तदा संघटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः। गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भ श्रृङ्गारविपय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसाभावतदाभास-विषयावेवेति विषयनियमो व्यवस्थितः संघटनायास्तु स विघटते। तथा हि श्रृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यन्ते रौद्रादिष्वसमासाश्चेति।

ध्वन्यालोक पृ० १३४

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखान्तम् ।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ॥

इस पद्य में शृंगाररस की छटा है । पद्य का आशय है कि हे अबले, नेत्रों से लगातार जलविन्दुओं के गिरने से जिसपर रचित पत्रलेखा धुल गई है, ऐसा हथेली पर रखा गया तुम्हारा यह मुख किसको सन्तप्त नहीं करता ? ़ंगार से ओतप्रोत इस पद्य का प्रथमार्ध एक ही लम्बायमान दीर्घसमास में रचा गया ।

रौद्र रस में असमास रचना का उदाहरण—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

वेणीसंहार ३।३२

[पाण्डवों की सेना में—जिसे अपने बाहुबल का घमण्ड है, जो शस्त्र धारण करनेवाले योद्धा हैं, तथा पाञ्चाल सेना में जो वीर और योद्धा हैं तथा जो बड़े या छोटे या गर्भस्थ-बालक हैं, और जिस जिसने इस गुरुवधरूपी पातक को देखा है, एवं जो युद्ध में मेरे सामने विरोधी बनकर आवेगा —उन सब के लिये क्रोधान्ध मैं अश्वत्थामा—काल का भी काल—महाकाल हूँ। अर्थात् शत्रुओं के गर्भस्थ बालकों तक को मैं नही छोड़ूंगा । बड़ों की तो बात ही क्या है ।]

वेणीसहार के इस प्रसिद्ध पद्य मे रौद्ररस की प्रधानता है, परन्तु यहाँ समास से विरहित रचना रस के सर्वथा अनुकूल है। इस विवेचन का निष्कर्ष यही है कि गुण न तो संघटनात्मक ही होते हैं और न संघटनाश्रय ही होते हैं, प्रत्युत सघटना ही गुणाश्रय होती है अर्थात् रीति गुणों के ऊपर आश्रित रहती है । रीति की रसव्यञ्जकता का वर्णन आगे किया जायगा ।

रीति और प्रसादगुण

संघटनामात्र का एक सामान्य गुण भी होता है जो सब संघटनाओं मे विद्यमान रहता है। इस गुण का नाम है—प्रसाद। किसी भी संघटना का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए जिससे वाच्य अर्थ की प्रतीति झटिति हो जाय। रचना मे प्रसाद की महिमा का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? साहित्यशास्त्र का तो यह नियम है कि असमासा संघटना करुणरस तथा विप्रलम्भशृंगार की व्यञ्जिका होती है, परन्तु इसकी पूर्ति तभी होती है, जब अर्थ की प्रतीति शीघ्र हो जाय। यदि ऐसा न हो, तो समासरहिता संघटना अभीष्ट सिद्धि नही कर सकती। प्रसादगुण की सत्ता होने पर ही मध्यमसमासा भी संघटना करुण तथा विप्रलम्भ रस के उन्मीलन में समर्थ होती है। इसीलिए प्रसादगुण का प्रयोग प्रत्येक प्रकार की संघटना में उचित ही है[२]। मम्मट ने भी रीति के इस सामान्य गुण को स्पष्टतः स्वीकार किया है। मम्मट का कथन है—**प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः** अर्थात् प्रसादगुण सर्वत्र—सब रसों में और सब रचनाओं में—विद्यमान रहता है[३]। इस प्रकार विभिन्न गुणो का आश्रय लेकर विभिन्न रीतियों की स्थिति साहित्यशास्त्र में मानी गई है, पर प्रसाद गुण रीति का सामान्यरूप से एकमात्र अवलम्बन है। इस सिद्धान्त मे भारतीय तथा पश्चिमी आलंकारिकों का ऐकमत्य है[१]। किसी भी रचना का उद्देश्य यही होता है कि

---

१ पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के विधाता अरस्तू ने भी रीति के दो साधारण गुणों में Perspicuity (प्रसाद) को ही पहिला गुण माना है।

२ सर्वासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरससाधारणः सर्वसंघटनासाधारणश्चेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि सघटना करुणविप्रलम्भशृंगारौ न व्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि प्रकाशयति। तस्मात् सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः॥

—ध्वन्या० पृ० १४०

३ शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

—का० प्र० अष्टम उ०, ७० का०

किसी विशिष्ट अर्थ का बोध शब्दों के द्वारा कराया जाय। इसके निमित्त शब्दों का चुनाव इतना सुन्दर होना चाहिए कि वाक्य के श्रवणमात्र से उसका अभीष्ट अर्थ हृदयगम हो जाय। तभी तो रचना की सफलता है। उस रचना का उद्देश्य क्या कभी सिद्ध हो सकता है ? जिसके अर्थ को लेखक ही खुद समझता है या खुदा समझता है (खुद समझे या खुदा समझे)। इस प्रारम्भिक उद्देश्य की सिद्धि रचना में प्रसादगुण के अस्तित्व पर ही निर्भर है। इसीलिए आनन्दवर्धन सब प्रकार की रचनाओं मे, रीतियो में, सघटनाओं में, प्रसाद गुण को इतना महत्त्वशाली मानते हैं।

रीति के नियामक

किस प्रकार रीति का प्रयोग कहाँ होना चाहिए ? इस सिद्धान्त का निरूपण भी आनन्दवर्धन ने बड़े विस्तार तथा मार्मिकता के साथ किया है। रीति का चुनाव एक विशिष्ट व्यापार है जिसके लिए रचनागत अनेक काव्यसाधनों का परीक्षण अनिवार्य होता है। इन साधनो को हम रीति-नियामक तत्त्व कह सकते हैं। आनन्द के विश्लेषण के अनुसार निम्नलिखित नियामक काव्यसंसार में महत्त्व रखते हैं[१] :—

(१) वक्तृ औचित्य—रीति का निर्धारण वक्ता के स्वभाव के अनुसार किया जाता है। वक्ता या लेखक जो कुछ बोलता है या लिखता है उसे वह तन्मय होकर करता है। बाह्य जगत् या अन्तर्जगत् के समग्र अनुभवों को आत्मसात् करके ही वह उनका वर्णन दूसरो की प्रतीति के लिए करता है। कवि का स्वभाव उसकी काव्यरीति में सदा ही झलकता रहता है। इसका मुख्य कारण यही है कि कवि तथा उसकी रचना मे तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। इसीलिए रीति कविस्वभाव की प्रतीक होती है। विकटबन्ध मे निबद्ध ओजोमयी वाणी शाक्तकवि की उग्रता का परिचय स्वय देती है तथा सुकुमारबन्ध में रचित माधुर्यमयी पदावली वैष्णवकवि की सरलता को स्वतः अभिव्यक्त करती है।

---

१ तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥

—ध्वन्या० ३ । ६

या पूर्वं हरिणा प्रयाणसमये संरोपिताऽऽशालता
साभूत् पल्लविता चिरात् कुसुमिता नेत्राम्बुसेकैः सदा ॥
विज्ञातं फलितेति हन्त भवता तन्मूलमुन्मूलितं
रेरे ! माधवदूत ! जीवविहगः क्षीणः किमालम्बते ॥

[गोपियों की उद्धवप्रति उक्ति । प्रयाण के समय श्रीकृष्ण ने जिस आशा की लता स्वयं रोपी थी, वह हमारे नेत्र के आँसुओं से सींचने से पल्लवित हुई और देर से कुसुमित हुई—उसमें पल्लव लगे और फूल भी आये । हम जानती थीं कि अब फलसम्पन्न होगी, परन्तु ओह !!! आपने तो उसके मूल को ही उखाड़ दिया—श्रीकृष्ण के सगुणरूप का खण्डन कर आशालता का मूल ही जाता रहा, फल की आशा कैसे हो ? हे माधव (कृष्ण तथा चैत्र) के दूत यह दुबला जीवविहंगम किसका आश्रय अब ग्रहण करे ?] ।

इस पद्य की कोमल पदावली तथा सुभग रीति स्पष्ट ही बतला रही है कि इसका रचयिता कोई मृदुलस्वभाव वैष्णवभक्त होगा । इसके विपरीत इस पद्य की रचना पर दृष्टिपात कीजिए—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे ।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी ।
(चण्डीशतक ६६)

जब रुद्र के समूह डर से भाग खड़े हुए, सूर्य चंचल हो गये, इन्द्र का वज्र ध्वस्त हो गया, शशाक के हृदय में आशंका उत्पन्न हो गई, वायुदेव विराम को प्राप्त हो गये, कुबेर ने वैर छोड़ दिया, विष्णु का अस्त्र कुण्ठित हो गया, तब अत्यन्त क्रोधी तथा पौरुष से मण्डित महिषासुर को बिना किसी विघ्न के मार डालनेवाली प्रभावशालिनी भवानी चण्डी आपके पाप को दूर करे !

इस पद्य का विकटबन्ध कवि की शाक्तता तथा उग्रता का पर्याप्त परिचायक है । शब्दों का नोक झोंक—विद्राण रुद्र, वैकुण्ठ कुण्ठित, जाताशङ्क शशाङ्क—स्पष्ट सूचित कर रहा है कि कवि का हृदय उग्ररूपा चण्डी की आसक्ति

से स्वयं उग्र तथा चण्ड है। काली का भक्त शाक्तकवि इसी प्रकार के उग्रपदावली के प्रयोग में अपनी काव्यकला का परिचय देता है।

आनन्दवर्धन का कहना है कि यदि कवि अथवा कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता (पात्र) रसभाव समन्वित हो तथा रस प्रधानभूत होने से ध्वनिरूप हो, तो नियमतः असमास या मध्यमसमासवाली ही संघटनायें रखी जाती हैं। प्रधानभूत रस के उन्मीलन का यही प्रकार है कि[1] रस की प्रतीति में व्यवधान (रुकावट) उत्पन्न करनेवालों और विरोधियों का सर्वात्मना परिहार करना चाहिए। उदाहरण के लिए करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार की अभिव्यक्ति पर विचार कीजिए। दीर्घसमासवाली संघटना समासों के अनेक प्रकार होने के कारण कभी कभी रसप्रतीति में व्यवधान उत्पन्न कर सकती है, इसीलिए ऐसी संघटना के प्रयोग के लिए कभी आग्रह न करना चाहिए। यहाँ तो असमासा या मध्यमसमासा संघटना ही रस की अभिव्यक्ति में समर्थ होती है। अतः उसी का प्रयोग न्यायोचित है। इसी प्रकार रौद्ररस की अभिव्यक्ति मे मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा रचना का प्रयोग समर्थ होता है। अतः ऐसे स्थलों मे उसीका उपयोग उचित है[2]।

(२) वाच्यौचित्य—वाच्य का औचित्य भी रीति का द्वितीय नियामक माना जाता है। वाच्य का अर्थ है कथनीय वस्तु, अर्थ। वाच्य अनेक प्रकार के होते हैं—कोई ध्वनिभूत रस का अग होता है और कोई रसाभास का अंग होता है। कोई वाच्य अभिनय के योग्य होता है और कोई अभिनय के उपयुक्त नही होता। कोई वाच्य उत्तमप्रकृति (पात्र) के आश्रय पर अधिष्ठित रहता है, तो कोई अधमप्रकृति के ऊपर। इस प्रकार वाच्य नाना प्रकार के होते हैं[3] और

---

१ रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। एवं च दीर्घसमासा संघटना समासानामनेकप्रकार-सम्भावनया कदाचिद् रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नाभिनिवेशः शोभते
—ध्वन्यालोक पृ० १३६

२ ध्वन्या० ३ उद्योत, पृ० १४०

३ वाच्य च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थम् अनभिनेयार्थं, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्।
ध्वन्या० पृ० १३८ - ३९

संघटना के विन्यास में वाच्य के स्वरूप का निरीक्षण भलीभाँति करना चाहिए। निम्नलिखित पद्य में कुम्भकर्ण के मस्तक के आकाश से गिरने का विकट वर्णन है। कुम्भकर्ण जैसे भयङ्कर प्राणी के उत्तमाग के वर्णन में वाच्य के औचित्य से गाढबन्ध का प्रयोग नितरां उचित है:—

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत् —सैंहिकेयोपघात—
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम्।
कुर्वत् काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजां
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥

[दृढ़ प्रहार के अनुकूल उछलने के वेग से राहु की चढ़ाई के भय से जिसे देखतेही अरुण ने सूर्य के रथ के घोड़ो को तिरछे फेर लिया और जिसके छिद्रों में प्रविष्ट वायु के भॉय-भॉय शब्दों (भन्नाने के शब्दों) द्वारा मानों श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम की प्रशंसा की जा रही है, वह कुम्भकर्ण का भयानक शिर आकाश से (पृथ्वीतल पर) पतित हो रहा है।]

यहाँ वक्ता वैतालिक है। अभिनय के उपयुक्त इसका प्रवन्ध है। अतः अभिनेयार्थ होने से दीर्घसमासा रचना की यहाँ आवश्यकता बिल्कुल नहीं है, परन्तु वाच्य के औचित्य से ही इस गाढबन्धका प्रयोग यहाँ किया गया है। वाच्य है कुम्भकर्ण का भयङ्कर मस्तक। इसीलिए औद्धत्यपूर्ण रचना यहाँ नितरां उपयुक्त है।

(३) विषयौचित्य। तीसरा नियामक होता है विषय। विषय का अर्थ यहाँ व्यापकरूप से ग्रहण किया जाता है। विषय से तात्पर्य है प्रबन्ध से अथवा काव्य के विशिष्ट प्रकार से जिसमें किसी संघटना का विधान प्रयुक्त होता है[1]। गद्य-पद्य, श्रव्य-दृश्य आदि भेदों के अतिरिक्त काव्य के नाना प्रकार होते हैं —पर्यायबन्ध, खण्डकथा, परिकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध (महाकाव्य), आख्यायिका, कथा, रूपक आदि। रीति का विधान काव्य के विशिष्ट स्वरूप

---

१ विषयाश्रयमप्यन्यद् औचित्यं तां नियच्छति
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥
ध्वन्या० ३।७

की भी अपेक्षा रखता है[1]। उदाहरण के लिए कतिपय काव्यप्रभेदो पर दृष्टि डालिए[2]। आख्यायिका[3] में शृंगाररस की प्रधानता होने तथा सुकुमार वक्ता की सत्ता होने पर भी मसृण वर्णों का प्रयोग कथमपि न्याय्य नही होता, क्योंकि गद्य मे निबद्ध होने से उसमे गाढ़बन्ध होना ही उपयुक्त होता है। कथा मृदु वर्णों के विन्यास से सजित रहती है। अतः रौद्ररस होने पर भी कथा में अत्यन्त उद्धत रचना का प्रयोग कभी न करना चाहिए। रूपक की दशा इनसे विलक्षण है। रूपक प्रधानतया रसात्मक होता है और अभिनय के द्वारा उसे दर्शकों के हृदय तक पहुँचना होता है। अतः उसमें ऐसी रचना का प्रयोग होना चाहिए जो बिना परिश्रम के बोधगम्य हो जाय और इसी अभिप्राय से ध्वनि के आचार्य रूपक में रौद्ररस होने पर भी दीर्घसमासो से युक्त रचना का व्यवहार नहीं करते। महाकाव्य की भी अपनी विशिष्टता होती है। तात्पर्य की दृष्टि से सर्गबन्ध दो प्रकार का होता[4] है—(क) 'कथातात्पर्य' जिसकी कथा के वर्णन में ही कवि का तात्पर्य रहता है=वृत्तप्रधान काव्य जैसे जयन्तभट्ट

---

१ आख्यायिकायां शृगारेऽपि न मसृणवर्णादयः। कथाया रौद्रेऽप नात्यन्तमुद्धताः। नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः।

—काव्यप्रकाश.पृ० ३०४

२ ध्वन्या ० पृ० १४१ तथा वही लोचन।

३ आख्यायिकाया तु भूम्ना मध्यमसमासा-दीर्घसमासे एव संघटने। गद्यस्य विकटनिबन्धाश्रयेण छायावत्त्वात्। तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात्। कथाया तु विकटबन्धप्राचुर्येणापि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यम् अनुसर्तव्यम्।

ध्वन्या० पृ० १४३

४ सर्गबन्धे तु रसतात्पर्येण यथारसमौचित्यम्, अन्यथा तु कामचारः —ध्वन्या० पृ० १४२। कथामात्रतात्पर्ये वृत्तिष्वपि कामचारः कथातात्पर्ये सर्गबन्धो यथा भट्टजयन्तकस्य कादम्बरीकथासारम्। रसतात्पर्ये तु यथा रघुवशादि। लोचन पृ० १४२

रचित 'कादम्बरीकथासार' नामक काव्य। (ख) **रसतात्पर्य** जिसमें रसोन्मीलन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है = रसप्रधान काव्य; जैसे रघुवंश आदि। इनमें 'रसतात्पर्य' काव्य में रसानुकूल ही रचना प्रयुक्त होती है, परन्तु कथातात्पर्य अर्थात् वृत्तप्रधान काव्य में कवि को स्वतन्त्रता दी गई रहती है—वह अपनी इच्छा के अनुसार रीतियों का विधान किया करता है।

(४) **रसौचित्य**—रीति का विन्यास रस के औचित्य पर भी निर्भर रहता है। जिस रस का उन्मीलन कवि को अभीष्ट होता है, उसकी रीति भी उसके नितान्त अनुरूप होनी चाहिए। हमने आनन्दवर्धन की सम्मति इस विषय में स्पष्टरूप से प्रथमतः ही दी है कि वे *असमासा रीति* को करुणरस तथा विप्रलम्भश्रृङ्गार के नितान्त उपयुक्त स्वीकार करते हैं तथा दीर्घसमासा रीति को वीर, रौद्र आदि रसों के अनुकूल। रस की ही काव्य में प्रधानता होती है। अतः ध्वनिकार ने काव्य के समग्र तत्त्वों को रसौचित्य पर आश्रित मानकर साहित्य के नितान्त मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना की है।

रीति के प्रकार

अलंकारशास्त्र के आद्य आचार्य भामह वैदर्भ तथा गौडीय मार्ग के स्वरूप से सर्वथा परिचित हैं। उन्होंने इनका स्पष्ट लक्षण विशिष्ट शब्दों मे पृथक् रूप से नहीं दिया है। परन्तु उनके वर्णन से प्रतीत होता है कि उस युग के आलंकारिक वैदर्भमार्ग को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे, परन्तु गौडीयमार्ग उनके निरादर का विषय था। भामह ही इन दोनों मार्गों के प्रथम निर्देशकर्ता आलकारिक हैं। परन्तु इनके वे प्रवर्तक नही हैं। इन दोनो के अभिधानो की उत्पत्ति भामह से पूर्वयुग में कभी हुई होगी। दण्डी ने इन दोनों प्रकार के काव्यमार्गों का विस्तृत अथच विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया है। उनका **वैदर्भमार्ग** समग्र शोभन गुणों का आगार है, परन्तु अक्षराडम्बर से मण्डित **गौडमार्ग** निकृष्ट मार्ग का ही प्रतिनिधि है। दण्डी के युग (सप्तम शतक) में इन मार्गों का रूप सर्वथा निश्चित हो गया था—एक रीति सौन्दर्य तथा सुकुमारता की व्यञ्जिका होने

से कवियों की आदरपात्री तो दूसरी औद्धत्य तथा उग्रता व्यञ्जित करने के कारण नितान्त निकृष्ट मानी जाती थी। दण्डी के समय तक इन नामों का भौगोलिक तात्पर्य लुप्तप्राय नही हो गया था। आलोचक जानते थे कि वैदर्भमार्ग विदर्भ देश के कवियो के द्वारा प्रयुक्त काव्यव्यवहार से सम्बन्ध रखता है और गौडीयमार्ग गौड देश (आधुनिक बंगाल) के कविजनों के लेखन व्यवहार से।

भामह तथा दण्डी दोनों मे से किसी आलंकारिक ने इन अभिधानो की समस्या नहीं सुलझाई। वामन ने इस रहस्य का उद्घाटन भलीभाँति किया। देश की विशेषता से द्रव्यों में विशिष्ट गुण अवश्य उत्पन्न होते हैं। तो काव्यों पर भी इसी प्रकार देश का प्रभाव जमा है जिससे वैदर्भ तथा गौडीयमार्गों का नामकरण विशिष्ट देशों के नाम पर हैं। वामन का कहना है कि ऐसी बात नही है। इस नामकरण का कारण यह है कि उन देशों के कवियों के काव्यों में इन रीतियों का विशुद्ध रूप उपलब्ध होता है। देश काव्यों का किसी प्रकार का उपकार नही करता[१]। वामन ने ही प्रथम बार 'रीति' शब्द का प्रयोग किया। इन्होंने ही 'पाञ्चाली' नाम नया जोड़कर रीतियों की संख्या तीन नियत की। रुद्रट ने रीतियों की संख्या ४ कर दी तथा 'लाटीया' नामक नई रीति की कल्पना की। रीतियों को उन्होंने दो वर्गों में निश्चित किया—वैदर्भी तथा लाटीया, गौडी और पाञ्चाली। आनन्दवर्धन ने रीति के रूप, नियामक तथा वृत्ति के साथ परस्पर सम्बन्ध की बड़ी विशद समीक्षा की। राजशेखर ने भी तीन ही रीतियाँ मानी हैं, यद्यपि उन्होंने 'मागधी' का उल्लेख कर्पूरमञ्जरी की नान्दी में किया है। भोजराज राजशेखर के ही अनुयायी हैं, परन्तु उन्होने आवन्तिका और मागधी दो नई रीतियों की कल्पना की है। परन्तु यह कल्पना नितान्त निराधार, अप्रामाणिक तथा अनुपयोगी है। भोजराज का प्रभाव अग्निपुराण पर भी है, परन्तु रीतियों की संख्या तीन ही है।

---

१ विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या। विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या। न पुनर्देशैः किञ्चिद् उपक्रियते काव्यानाम्।

—वामन १।२।१०

इस प्रकार रीतियाँ तीन ही हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौडी, (३) पाञ्चाली। इनमें वैदर्भी रीति माधुर्यगुण पर अवलम्बित रहती है तथा गौडी रीति ओज-गुण पर। दोनो के अन्तरालवर्तिनी रीति 'पाञ्चाली' कही जाती है। वैदर्भी रीति[1] में माधुर्यगुण, सुकुमारवर्ण, असमास या मध्यमसमास, सौकुमार्यवती रचना का एकत्र योग होता है। काव्यप्रकाश मे इसका लक्षण स्पष्टाक्षर में उल्लिखित किया गया है—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥[2]

माधुर्यगुण मे ट, ठ, ड, ढ, से रहित ककार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पञ्चमवर्ण पहिले आता है और स्पर्शवर्ण पीछे। रेफ और णकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित होते हैं। समास का नियम यह है कि या तो समास बिल्कुल होता ही नहीं। यदि होता भी है, तो थोड़ा ही होता है। वाक्य के दूसरे पदों के योग से उत्पन्न होने-वाली रचना माधुर्य से युक्त रहती है। इन सब अंगों के एकत्र सहयोग से वैदर्भी रीति की उत्पत्ति होती है। उदाहरण—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तितानि ॥

[उस नम्र अंगवाली सुन्दरी का अंग कामदेव के रंगस्थल के समान है। मनोहर रचनाओ से वह इस प्रकार सुशोभित है कि ये रचनायें युवकों के हृदय से दूसरे विषयों की चिन्ता को सहसा शान्त कर देती हैं] इस पद्य के पूर्वार्ध मे 'ङ्ग' का बहुल प्रयोग है तथा उत्तरार्ध में 'न्त' का। कतिपय पदों में ही लघुसमास है। परस्परपदों के संयोग से सुकुमार रचना है। वैदर्भी रीति का यह पद्य सुभग दृष्टान्त है।

---

१ अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥
—वामन पृ० १७

२ काव्यप्रकाश ८। ७४

गौडीरीति में ओजगुण, कठोरवर्ण, दीर्घसमास तथा विकट रचना—इन समग्र काव्यसाधनों का एकत्र समावेश होता है[1]।

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोः रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥

ओज गुण मे होता है—वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्णों का क्रम से ही द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण के साथ संयोग जैसे प्रच्छ, बद्ध आदि। रेफके साथ किसी वर्ण का आगे या पीछे योग, (जैसे वक्त्र, अर्क, निर्ह्राद) किसी वर्ण का उसी वर्ण के साथ योग जैसे वित्त,चित्त आदि। ट, ठ, ड, ढ तथा श, ष का प्रयोग, दीर्घसमास तथा विकट रचना— इन समस्त साधनों की सत्ता होने पर गाढ़-बन्ध से सज्जित गौडी रीति होती है। उदाहरण—

मूर्ध्नाम् उद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा—
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत् प्रयासः ॥

(रावण कहता है—अरे औद्धत्यपूर्वक काटे गये कण्ठों से निरन्तर बहती हुई रक्तधाराओं के द्वारा महादेवजी के चरणों का क्षालन कर उनके अनुग्रह से समस्त ससार को जीत कर मेरी जिन भुजाओं ने झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त की है और कैलास पर्वत के उठाने के आवेगसूचक कठोर गर्व के कारण जो अत्यन्त बलिष्ठ हैं, उन मेरी भुजाओं से लाभ क्या ? क्योंकि उन्हे इस लकापुरी की

---

१ समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ।
वामन पृ० २०

रक्षा करने में श्रम करना ही पड़ा] रावण अपने विजयी बाहुओं की निन्दा कर रहा है कि उनके विश्वविजयी बाहुओं के द्वारा लङ्कापुरी की रक्षा करने मे प्रयत्न किया जा रहा है। ऊपर वर्णित वर्णों के संयोग, उद्धत रचना तथा दीर्घ समास के सन्निवेश से गौडी रीति की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है।

पाञ्चाली रीति दोनों की अन्तरालवर्तिनी रीति होती है वामन के मत में इसमें माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणो का निवास रहता है। ओज तथा कान्ति गुणों के अभाव में इसके पद उल्बण नहीं होते। इसीलिए प्राचीनों का यह अभीष्ट लक्षण है—

आश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छायया श्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥

उदाहरण के लिए यह पद्य दिया जा सकता है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

[उर्वशी के सम्बन्ध में राजा पुरुरवा कह रहा है—इस सुन्दरी के शरीर की रचना का विधाता क्या अद्भुत कान्ति दान करनेवाला चन्द्रमा तो नहीं है? अथवा स्वयं कामदेव ही, जिसका शृङ्गार से नितान्त प्रेम है, इस रूप का सिरजनहार है अथवा वसन्तऋतु के मुख्य मास चैत्र ही ने इसका निर्माण किया होगा? भला वेदों के अभ्यास से जिसकी बुद्धि कुण्ठित हो गई है, संसारी विषयों की उत्कण्ठा से अनभिज्ञ ऐसा पुराना बुड्ढा ब्रह्मा ऐसे मनोहर रूप की रचना कैसे कर सकता है?]

वैदर्भ रीति का सौन्दर्य

इन तीनों रीतियो मे वैदर्भी का सौन्दर्य तथा सरसता कविजनों की प्रशसा का पात्र सदा से होता आया है। जिस मनोहर रीति का आश्रय लेकर कविकुलगुरु कालिदास ने विमल कीर्ति अर्जित की है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है। आलकारिकों ने इसकी उतनी प्रशंसा नही की है जितनी काव्यकला के कुशल कोविद कविजनों ने की है। नैषध चरित के रचयिता श्री हर्ष ने इस रीति की धन्यता का कितना सुन्दर वर्णन किया है—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति

३।११६

हे वैदर्भी रीति (तथा विदर्भराजकुमारी दमयन्ती) तू सचमुच धन्य है जिसने अपने उदार गुणों से नैषध(काव्य तथा नरपति नल) को आकृष्ट कर लिया है। चन्द्रिका की इससे बढ़कर स्तुति क्या हो सकती है कि वह समुद्र को भी अधिक तरल (चंचल) बना डालती है।

गुणानामास्थानी नृपतिलकनारीति विदितां
रसस्फीतामन्तः तव च तव वृत्ते च कवितुः ।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीरम्भक्रीडा — चरणशरणामन्वहमयम् ॥

—नैषध १४।६१

इस पद्य में श्रीहर्ष ने वैदर्भी रीति को गुणों का निकेतन तथा भीतर से -रस के द्वारा स्फीत—प्रफुल्लित बतलाया है।

'नवसाहसांककाव्य' के रचयिता पद्मगुप्त परिमल की दृष्टि में वैदर्भमार्ग पर चलना जरा टेढ़ी खीर है—वे इस मार्ग की उपमा 'निस्त्रिंशधारा'—

तलवार की धार से देते हैं। "तलवार के धार पै धावनो है" की लोकोक्ति उन कवियों के साहस पर चरितार्थ होती है जो कालिदास तथा भर्तृमेण्ठ के द्वारा प्रदर्शित इस कठिन मार्ग के ऊपर अनायास पदन्यास रखने का उद्योग करते हैं:—

तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः
श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति ।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां
वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥ ११५

महाकवि बिल्हण भी वैदर्भी की प्रचुर प्रशंसा करने से विरत नहीं हुए। वे इस वैदर्भी रीति को श्रवण के लिए अमृत की अनभ्रवृष्टि, सरस्वती के विलासों की जन्मभूमि तथा पदों के सौभाग्य प्राप्त करने की प्रतिनिधि बतलाते हैं—यह किन्हीं भाग्यशाली कवियों के काव्य में ही अपने रूप की झलक दिखलाती है—

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥

वि० दे० च० १ । ६

नीलकण्ठ दीक्षित विदर्भदेश के निवासियों की प्रशंसा करने में तथा उस देश की वैदर्भी रीति की स्तुति में अपनी वावदूकता का परिचय देते हैं। उनका कहना है[1] कि चाहे मूर्ख हो या पण्डित, पुरुष हो या स्त्री; विदर्भ देश में जो जो व्यक्ति उत्पन्न होता है वह रसिक ही होता है — देश की महिमा ही ऐसी है। विदर्भ की विदग्धभूमि में अरसिकों का जन्म ही नहीं होता। जिस देश के निवासियो मे इतनी रसिकता है उस देश की लेखनरीति को सुन्दर तथा सुचारु होना नितान्त अनिवार्य है। नीलकण्ठ के कमनीय शब्दों में वैदर्भी रीति का रुचिर रूप निरखिये:—

---

१ सन्त्वज्ञाः सन्तु बुधाः सन्तु पुमांसः स्त्रियश्च वा सन्तु ।
स स रसिकः कविरधुना जज्ञे यो यो जनो विदर्भेषु ॥

आदिः स्वादुषु या, परा कवयतां काष्ठा यदारोहणे
या ते निःश्वसितं, नवापि च रसा यत्र स्वदन्तेतराम्।
पाञ्चालीति परम्परापरिचितो वादः कवीनां परं
वैदर्भी यदि सैव वाचि किमितः स्वर्गेऽपवर्गेऽपिवा॥

नलचरित नाटक (३अं०)

जो स्वादु पदार्थों मे आदिम है, जिस पर आरोहण करना कविता करने वालो के लिए पराकाष्ठा है, जो सरस्वती का निःश्वास है, जिसमें एक दो नही, प्रत्युत नवो रस अधिक स्वादु बन जाते हैं, वही वस्तुतः वैदर्भी है। पाञ्चाली को कमनीय मानना कवियों की निरी परम्परा है, प्राचीनता की उपासना का फल है। वस्तुतः उसमें किसी प्रकार की सुन्दरता वैदर्भी की तुलना मे प्रतीत नही,होती। यदि यह रुचिर वैदर्भी काव्य में अपना विलास दिखाने लगती हैं, तो स्वर्ग भी नीरस प्रतीत होता है और मोक्ष भी निरानन्द लगता है। इससे बढ़कर वैदर्भी की प्रशसा ही क्या हो सकती है? जिस रीति के काव्य में साक्षात्कार से स्वर्ग की भी सुषमा फीकी जान पड़ती है और प्रपञ्चों से विराम देनेवाली आनन्दप्रचुरा मुक्ति भी आनन्दहीन, नीरस तथा अरुचिकर प्रतीत होती है, उस रीति के सौन्दर्य पर यदि सस्कृत भाषा के कविवृन्द अपने आप को निछावर किये बैठे हों, तो आश्चर्य ही क्या?

वैदर्भी तथा गौडी की तुलनाः—वैदर्भी की तुलना में कविहृदय न तो गौडी का उतना आदर करता है और न उतना उत्कर्ष मानता है। वह तो उन्ही कविजनों के हृदय को आकृष्ट कर सकती है जो बाहरी चाकचिक्य के ही प्रेमी होते हैं, जिनकी दृष्टि बाह्य भूषा तथा सज्जा को ही आन्तर कमनीयता तथा सुकुमारता से अधिक महत्त्व देती है। वैदर्भी से गौडी की तुलना ही क्या? वैदर्भी के भीतर जो रस का उत्स निवास करता है वह साधारण रसहीन कवि के अनुकरण का पात्र बन नही सकता। इसीलिए वैदर्भी का निर्वाह दुरूह कविव्यापार है—पद्मगुप्त के शब्दों मे 'निस्त्रिंशधारा' है जिस पर चलनेवाले कितने ही कलाविहीन कवियों ने अपने काव्यकलेवर को कुत्सित तथा दूषित बना डाला है। इसके विपरीत गौडी का अनुकरण अपेक्षाकृत सरल तथा सहज है। बन्ध की गाढता सम्पादन कीजिए और कतिपय शब्द चमत्कृति-

जनक अलङ्कारो की झङ्कार, बलपूर्वक ही सही, काव्य में ले आइये, तब देखिए गौडी का, या विचित्र मार्ग का, अलंकृत रूप स्वतः प्रकट हो जाता है। विशेष आयास करने की आवश्यकता नही। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि गौडी रीति के लिखने में कवि में प्रतिभा की आवश्यकता नही होती, शब्द-सम्पत्ति की बहुलता नही चाहिए और पदबन्धन की चातुरी का कोई काम नहीं है। इन आवश्यक साधनों की अवहेलना क्या कोई आलोचक कभी कर सकता है? परन्तु वैदर्भी की तुलना में गौडी का पल्ला जरूर हल्का है, यह हम निःसन्देह कहते हैं। कविता की कसौटी है श्रोता तथा पाठक के हृदय को रस से आप्लुत कर देना—रस की सरिता बहा देना, जिसकी मधुरता मे वह अपने जीवन को धन्य मानने लगे और उसमें इतना तन्मय हो जाय कि बाह्य जगत् की स्मृति जाती रहे और वह एक अलोकसामान्य लोक में निवास का आनन्द उठाने लगे। वह इस भूतल के प्रपञ्चमय जीवन से ऊपर उठकर किसी आनन्दमय लोक में विहार का सुख उठाने लगे। इस कसौटी की परीक्षा वैदर्भ या सुकुमारमार्ग में ही पूरी उतरती है। गौड मार्ग पाठकों के नेत्रों में चकाचौंध जरूर पैदा कर देता है, परन्तु हृदय को शीतल बनाने की क्षमता वह नहीं रखता। सहृदयों के हृदय को मुग्ध बना देने की योग्यता से भी वह पराङ्मुख रहता है। ऐसी स्थिति में यदि कविता के मर्मज्ञ कवितार्किक श्रीहर्ष ने कविहृदय को आकृष्ट करने के लिए वैदर्भी रीति की प्रचुर प्रशंसा की तो इसमें आलोचकों को चमत्कृत होने की क्या आवश्यकता? सचमुच वैदर्भी रीति धन्य है, वैदर्भी का रचयिता धन्य है और वैदर्भी का मर्म समझने वाला भी धन्य है!!! बिल्हणकी यह उक्ति सोलहो आने सत्य है :—

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्॥

(घ) पाश्चात्य आलोचना और रीति

अंग्रेजी भाषा में रीति (मार्ग) के लिए 'स्टाइल' (Sty le शब्द प्रयुक्त होता है। स्टाइल शब्द लैटिन भाषा के Stilus, Stylus शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है 'लौह लेखनी'—लोहे की कलम। प्राचीन रोमन काल में पट्टियों के ऊपर जिन पर मोम जमाया गया होता था लोहे की कलम से लिखने की प्रथा थी। इस शब्द का मुख्य अर्थ यही है—लिखने का विशिष्ट प्रकार। तदनन्तर इस शब्द का प्रयोग बोलने के विशिष्ट ढंग के लिए किया जाने लगा और आजकल 'स्टाइल' का प्रयोग शिल्पशास्त्र, मूर्तिविद्या, चित्रकला, सगीत, नृत्य, नाट्य तथा क्रिकेट जैसे खेल के असाधारण प्रकार के द्योतन के निमित्त ही नहीं किया जाता, बल्कि रात के समय सेंध मारनेवाले चोर तथा विष देनेवाले व्यक्ति के चातुर्यपूर्ण कार्य के लिए इस शब्द का प्रयोग करते हमें संकोच नहीं होता। इस शब्द का यह व्यापक प्रयोग साहित्यशास्त्र के प्रति अज्ञातरूप में किये गये हमारे आदर और सत्कार को प्रदर्शित कर रहा है। रीति पर महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखनेवाले वाल्टर रेले का यह कथन यथार्थ[1] है कि लेखनी, चाहे वह मोम पर या कागज पर कुरेदती है, मानव प्रवृत्ति मे जो कुछ भावाभिव्यञ्जक है या जो कुछ अत्यन्त तलस्पर्शी है उन सबकी प्रतीक है। केवल कलाओं ने ही उसके प्रति आत्मसमर्पण नहीं किया है, बल्कि मनुष्य ने भी लेखनी को अपना समर्पण कर दिया है। लेखक के व्यक्तित्व का परिचय हमे उसकी लेखनी से ही मिलता है, उसके आवाज मे ज़ोर हो सकता है, उसकी हस्तचेष्टाओं में भावों की अभिव्यञ्जना करने की पर्याप्त शक्ति हो सकती है, परन्तु ये दोनों साधन—शब्द और चेष्टा—परिवर्तनशील हैं। इनका स्वरूप आज जैसा है वैसा कल नहीं रहता परन्तु व्यक्तित्व का स्थायीरूप से अन्तिम उन्मीलन लेखनी ही है[2]।

---

1 The pen, scratching on wax or paper, has become the symbol of all that is expressive, all that is intimate, in human nature, not only arms and arts, but man himself has yielded to it. Walter Releigh : Style पृष्ठ २

2 Other gestures shift and change and flit, this is the ultimate and enduring revelation of personality. —वही

इसीलिए लेखनी के द्वारा उन्मीलित व्यक्तित्व में स्थायिता आती है। इस विषयमें एक लैटिन कहावत बड़ी ही सार्थक है—Stylus virum arguit अर्थात् रीति मनुष्य के स्वभाव की अभिव्यक्ति करती है; लेखक को इसका पता भी नही चलता, परन्तु लौह लेखनी के द्वारा निबद्ध रीति पाठकों को धीरे से बतला देती है कि उसका रचयिता स्वभाव से सौम्य तथा शान्त प्रकृति का है अथवा उग्र और ओजस्वी स्वभाव का। अन्य कलाकारों की कृतियों में उपकरण की स्थूलता होने पर भी उतनी व्यापकता, रोचकता तथा स्थायिता नही होती जितनी लौह लेखनी के द्वारा प्रस्तुत कवि की कृतियों में होती है। यह साहित्यशास्त्र का ही विजयघोष है कि जिस शब्द को उसने अपने विशिष्ट उपकरण के निमित्त प्रस्तुत किया, उसे ही अन्य कलाओं के विद्वानों ने भी अपनाकर उसे समधिक प्रतिष्ठा प्रदान की। इस प्रकार पाश्चात्य जगत् के साहित्य में 'स्टाइल' शब्द का व्युत्पत्तिजन्य चमत्कार क्या कम महत्त्व का है? हिन्दी में भी रीति के अर्थ में 'कलम' शब्द के प्रयोग करने की चाल है, विशेषतः चित्रकला के सम्बन्ध में जैसे काँगड़ा कलम (काँगडा की शैली) राजपूत कलम (राजपूत काल की चित्रशैली) आदि आदि। विश्व का विशाल वाङ्मय लौह लेखनी की ललित लीला का विलास है—सारा साहित्य कलम की करतूत है, तब लेखनी को महत्त्व प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। लेखनी के नाम पर ही यदि पाश्चात्य साहित्य में लेखन-प्रकार का भी नामकरण किया गया है, तो इसमें लेखनी के गौरव पर दृष्टिपात करने से आश्चर्य की कोई बात प्रतीत नही होती।

अरस्तू

पाश्चात्य जगत् के साहित्यक प्रजापति ग्रीस देश के महान् आलोचक और तत्त्वज्ञानी अरस्तू (एरिस्टाटल) हैं। इन्होंने अपने आलोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों के निरूपणार्थ दो महनीय ग्रन्थ लिखे हैं—रेटारिक्स तथा पोइटिक्स। और इन दोनों ही ग्रन्थों में 'रीति' के विषय में आप ने बहुत-सी उपादेय बातें लिखी हैं। रीति की विवेचना रेटारिक्स के तृतीयखण्ड में बड़े विस्तार के साथ दी गई है। पोईटिक्स में सामान्य सूचनाये ही इस विषय में निवद्ध की गई हैं। इन विवेचनाओं का ऐतिहासिक मूल्य

बहुत ही अधिक रहा है। इन समीक्षणों का प्रभाव परवर्ती पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र पर इतना अधिक पड़ा है कि पश्चिम के आलोचक अरस्तू के मत को वेदवाक्य के समान नितान्त प्रामाणिक, अपरिवर्तनीय तथा समादरणीय मानते हैं। अरस्तू ने रीति के विषय में जो निरूपण प्रस्तुत किया है उसमे तथा भारतीय आलोचकों के सिद्धान्त मे गहरी समता है— केवल बाहरी ही नहीं, प्रत्युत भीतरी भी।

अरस्तू का कहना है कि **क्या** कहना है यही जानना पर्याप्त नही है, प्रत्युत यह **कैसे** कहा जाय, इसका जानना भी बहुत ही आवश्यक है। साहित्यशास्त्र केवल अभिव्यञ्जनीय **पदार्थ** के ज्ञान से ही सन्तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत वह अभिव्यक्ति के **प्रकार** के ज्ञान को भी उतना ही आवश्यक स्वीकार करता है। और किसी वस्तु के प्रतिपादन की पद्धति या प्रकार का ही नाम है—शैली या रीति।

अरस्तू के सामने रीति का विषय अतीव महत्त्वशाली था, क्योंकि वे लिखित ग्रन्थों की रीति के अतिरिक्त भाषणों तथा व्याख्यानों की रीति के भी अध्ययन के निमित्त जागरूक थे। 'रेटारिक्स' ग्रन्थ का विषय ही भाषण तथा व्याख्यानों के रूपरंग, प्रकार तथा शैली का निरूपण है। इसीलिए अरस्तू की दृष्टि मे रीति के दो प्रधान भेद हैं—(१) साहित्यिक रीति[1], (२) वादात्मक रीति[2] जिनमे पहले का उपयोग साहित्य के ग्रन्थो की रचना में होता था, तो दूसरे का प्रयोग वादी के समक्ष अपने पक्ष की पुष्टि तथा परपक्ष के खण्डन में होता था। दोनों शैलियो की विशिष्टता भी नितान्त स्फुट है। साहित्यिक शैली का सौन्दर्य तब परिस्फुटित होता है जब उसका ध्यान से मनन तथा अनुशीलन किया जाय, परन्तु वादात्मक शैली का गौरव तभी तक है जब तक वह श्रवणगोचर की जाय। उसके सुनने में ही आनन्द आता है, श्रवण से हटते ही न उसमें किसी प्रकार का सौन्दर्य रहता है, न किसी प्रकार का आनन्द। पढ़ने तथा ध्यान से मनन करने पर तो वह किसी बासी चीज की तरह फीकी मालूम पड़ने लगती

---

१ Literary style, 2 Controversial style

है। इसीलिए दोनों के सौन्दर्य के उपकरण भी पृथक् ही हैं। वादात्मक शैली को प्रतिष्ठित तथा गौरवास्पद बनाने का एक मुख्य साधन है—पुनरुक्ति, परन्तु यही पुनरुक्ति साहित्यिक शैली को अरोचक बनाने का भी कारण है। उद्देश्य की भिन्नता के कारण दोनों के स्वरूप की भिन्नता भी स्पष्ट ही है। वादात्मक शैली के भी दो भेद हैं[1]—राजनीतिक शैली जो सुघटित नहीं होती और उग्रशैली (फीरेन्‌जिक) जो कचहरी में किसी मुकद्दमे की पैरवी करने के अवसर पर प्रदर्शित की जाती है। न्यायाधीश के ऊपर प्रभाव डालने के अभिप्राय से इसे सुघटित तथा रोचक होना ही चाहिए। अरस्तू ने दोनों का विशेष वर्णन किया है, परन्तु हमारे आलोचकों ने केवल साहित्यिक शैली के उपकरणों की मीमांसा तक अपने को सीमित रखा है। वादात्मक शैली का निजी क्षेत्र दार्शनिक जगत् है जहाँ शास्त्रार्थ के निमित्त उपयुक्त शैली का निरूपण न्यायशास्त्र के ग्रथों में मनोयोग से किया गया है।

अरस्तू ने शैली के लिए दो सामान्य गुणों की तथा चार दोषों की सत्ता बतलाई है। गुणो के नाम हैं[2]—(१) परसपीक्यूटी Perspicuity तथा (२) प्रोप्राइटी Propriety। पहला गुण भारतीय साहित्यशास्त्र का 'प्रसाद-गुण' तथा दूसरा 'औचित्य' है। कुन्तक ने सौभाग्य के साथ औचित्य को मार्गो का सामान्य गुण स्वीकार किया है। जो वस्तु कही जाय वह इस ढङ्ग से कही जाय कि श्रोताओं को उसे समझने में न तो कोई सन्देह हो, न तनिक विलम्ब। कथन का प्रकार 'औचित्य' पूर्ण होना चाहिए, अनौचित्य के आते ही रीति अपने मूलस्थान से च्युत हो जाती है—अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती। अरस्तू के अनुसार शैली के चार दोष हैं[3]—

(१) **समासों का प्रयोग**—समास व्याकरण की दृष्टि से उपादेय साधन हैं, परन्तु उनके प्रयोग के लिए भी उपयुक्त स्थान तथा

1 Political style and Forensic style.
2 रेटारिक्स Rhetorics Book III, chapter II.
3 वही, परिच्छेद तीन

उचित अवस्था होती है। इन पर ध्यान न देकर मनमाने ढङ्ग से मनचाहे स्थान पर समास का अनगढ़ प्रयोग रीति को दूषित करने का प्रथम साधन है।

(२) **अप्रचलित शब्दों का प्रयोग**—अरस्तू ने उदाहरण के साथ ऐसे शब्दों के प्रयोग की सीमा निर्धारित की है जिसके बाहर होते ही प्रयोग कथमपि न्याय्य नहीं माना जा सकता।

(३) **विशेषणों का प्रयोग**—विशेषण का उचित स्थान पर प्रयोग कविकौशल का चरम निदर्शन है। इस मर्यादा के उल्लङ्घन करने पर यह दोष उत्पन्न होता है। यदि विशेषण बहुत लम्बा हो जाय, या अरोचक हो या संख्या में अत्यधिक हो जाय, तो इसे दोष समझना चाहिए।

(४) **रूपक का प्रयोग**—शैली को गठीली तथा ओजस्विनी बनाने के लिए रूपक का प्रयोग अरस्तू ने बतलाया है, परन्तु यदि रूपक वर्ण्य वस्तु के साथ समता न रखे अथवा अस्फुट हो, तो ऐसे रूपक का प्रयोग कभी न करना चाहिए। अरस्तू ने इन दोषों को दिखलाने के लिए उदाहरण भी दिये हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट है कि इन दोषो का विवेचन भारतवर्ष के आलंकारिकों ने यथेष्ट प्रौढता के साथ अपने ग्रन्थों में किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मम्मट के द्वारा प्रदर्शित विधेयाविमर्श, अप्रयुक्त, अपुष्टार्थ तथा रूपकगत अनुचितार्थ दोषों के अन्तर्गत ऊपर विन्यस्त दोषों का अन्तर्भाव भलीभाँति दिखलाया जा सकता है।

अरस्तू ने रीति तथा वर्ण्यविषय के साथ वही घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित किया है जिसे भारतीय आलोचकों ने भी स्वीकृत किया है। उनका कहना है कि रीति मे अवस्थानुसार परिवर्तन होना चाहिए और इस प्रकार रीति का रसभाव के साथ सामञ्जस्य होना चाहिए। "प्रशसा के निमित्त उल्लासमयी शैली चाहिए, दयाप्रदर्शन के अवसर पर समर्पण-प्रतिपादक शैली का प्रयोग न्याय्य है, परन्तु क्रोध आदि उग्र भावों से प्रभावित व्यक्ति के भाषण मे समस्त-पद, विशेषण की बहुलता तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग सर्वथा सुसगत

है[१]।" अरस्तू ने क्रुद्ध व्यक्ति के भाषण में जो समस्तपदो के रखने की व्यवस्था की है वह दण्डी की ओजोविशिष्ट गौडी रीति है, जिसका सर्वस्व समासो की बहुलता है (ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्)। अरस्तू ने स्पष्ट ही लिखा है कि 'डिथरिम' नामक काव्यों में समस्तपदों का ही प्रयोग होना चाहिए। 'डिथरिम' मदिरा के देवता बेकस (Bacchus) के उल्लासप्रदर्शक गीतों का नाम है। 'बेकस' के उल्लास मे भी एक विचित्र उग्रता तथा मादकता रहती है और इस शैली को पुष्ट करने के लिए ओज गुण तथा समास का रहना उचित ही है[२]। अतः अरस्तू की सम्मति मे रसभाव तथा विषय के साथ शैली का पूर्ण सामञ्जस्य कविकौशल की कसौटी है।

इस मान्य आलोचक की दृष्टि मे रीति की पूर्णता इसीमें है कि वह एक साथ निर्मल हो, परन्तु क्षुद्र न हो। साधारण व्यवहार में प्रयुक्त शब्दो की विन्यासमयी रीति निर्मल तथा प्रसन्न कही जा सकती है, क्योंकि उसके पदो के अर्थ को समझने में साधारण पाठक को भी श्रम तथा भ्रम नहीं होता, परन्तु ऐसी रीति क्षुद्रता के दोष से उन्मुक्त नही हो सकती। रीति को ओजस्विनी तथा कलात्मिका बनाने के निमित्त उसमे अपरिचित शब्दों का प्रयोग नितान्त उचित है[३]। परिचित शब्दों में—सर्वसाधारण के उपयोग में

---

1 "A style of exultation for praise, a style with submission if in pity. But compound words and plurality of epithets and foreign idioms are appropriate chiefly to one who speaks under excitement of some passion" Aristotle.

2 Of all the kinds of words......compounds are most in place in the dithyramb. Poetics sec. 22

3 The Diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of unfamiliar terms i.e strange words, metaphors lengthened forms and every thing that deviates from the ordinary modes of speech. Poetics sec. 22

आनेवाले पदों मे—एक प्रकार की अभद्रता 'या तुच्छता दृष्टिगोचर होती है। अतः शैली को शिष्ट तथा विशिष्ट बनाने के लिए लेखक को आवश्यक है कि वह उसमे अपूर्व शब्द, रूपक, लम्बायमान शब्दरूप का प्रयोग करे अथवा सक्षेप में उसे ऐसी वस्तु का प्रयोग करना चाहिए जो साधारण बोलचाल के ढग को तिरस्कृत कर विचित्र प्रकार की हो। अरस्तू का उदात्तशैलीका यह स्वरूपनिर्देश बड़ा ही मार्मिक तथा गूढ़ है। अरस्तू की 'Dignified style' उदात्त रीति कुन्तक का 'विचित्रमार्ग' है। विचित्रमार्ग में वक्रोक्तिका साम्राज्य रहता है और यह वक्रोक्ति क्या है? साधारण बोलचाल के ढग से विलक्षण पदभङ्गी। अरस्तू का every thing that deviates from the ordinary modes of speech कुन्तक की वक्त्र उक्ति का ही अक्षरशः अनुवाद है। इस शैली मे अलकारों की, विशेषतः रूपक की, बहुलता दोनों स्वीकार करते हैं। अरस्तू इस विषय में यथार्थवादी हैं। वे जानते हैं कि अपूर्व शब्दों के प्रयोग से रचना मे एक प्रकार की उच्छृङ्खलता—बर्बरता या कर्कशता—आ जाती है और इसीलिए वे काव्य मे प्रचलित शब्दो के बिल्कुल बहिष्कार के पक्षपाती नहीं हैं। वे **मध्यममार्ग** के उपासक प्रतीत होते हैं। उनका कहना है कि अपूर्व शब्द, रूपक, अलकृत पर्याय आदि का प्रयोग भाषा को क्षुद्र तथा गद्यमयी बनाने से रक्षा करेगा और प्रचलित शब्दों का उपयोग उसमें आवश्यक प्रसादगुण का सम्पादन करेगा[1]। अरस्तू का ornamental eqvivalent 'अलकृत पर्याय' वामन के ओज नामक अर्थगुण के अन्तर्गत आता है। अर्थ-

---

1 The corresponding use of strange words results in a barbarism. A certain admixture, accordingly, of unfamiliar terms is necessary. These, the strange word, the metaphor, the ornamental equivalent etc. will save the language from seeming mean and prosaic, while the ordinary words in it will secure the requisite clearness. Poetics, sec. 22

गुण ओज जो प्रौढि का ही रूप है पाँच प्रकार का होता है। उसके पाँच प्रकारों में प्रथम भेद है—**पदार्थे वाक्यरचनं** अर्थात् पदार्थ के स्थान पर वाक्य की रचना। जैसे 'चन्द्रमा' के लिए कालिदास के द्वारा प्रयुक्त '**अत्रिनयनसमुत्थं ज्योतिः**' अलंकृत पर्याय है—अत्रि के नेत्र से उत्थित ज्योति ('अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः'—रघु० २।७५) कुन्तक इसे 'पर्याय-वक्रता' के नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के लिए कालिदास का यह पद्य देखिए जिसमें वाल्मीकि मुनि के अभिधान के लिए एक सरस तथा सार्थक पर्याय की कल्पना की गई है—

> तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी
> मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
> निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
> श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥
>
> रघुवंश, १४।७०

[जंगल में लक्ष्मण के द्वारा परित्यक्त होने पर सीता विलाप करती थी। उसके रोने के शब्द का अनुसरण कर कुश तथा इन्धन लाने के लिए गये हुए मुनि सीता के पास पहुँच गये। कौन मुनि? वे वही मुनि हैं जिनका निषाद के द्वारा विंधे गये पक्षी के दर्शनमात्र से उत्थित शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया था] वाल्मीकि का नाम स्पष्टतः न देकर कालिदास ने जो 'अलङ्कृत पर्याय' दिया है वह कितना रसाभिव्यञ्जक है तथा सन्दर्भोचित है उसे सहृदयों से बतलाने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार अरस्तू के द्वारा निर्दिष्ट 'रीति' का स्वरूप, वैशिष्ट्य, चमत्कार प्रकार आदि समग्र सिद्धान्त भारतीय सिद्धान्तों के अनेक अंश में अनुरूप है।

डिमेट्रियस

अरस्तू के अनन्तर 'डिमेट्रियस' नामक ग्रीक आलङ्कारिक ने 'रीति' का बड़ा ही प्रामाणिक, विस्तृत तथा मौलिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वह अरस्तू की मृत्यु के कुछ ही वर्ष बाद ३०० ईसवी पूर्व में विद्यमान था। वह अरस्तू के पट्टशिष्य थिओफ्रेटस का भी नामोल्लेख करता है। इस प्रकार वह है तो अरस्तू की ही परम्परा के अन्तर्भुक्त, परन्तु उसके ग्रन्थ में प्राचीन परम्परा के निर्देश और अनुगमन होने पर भी अनेक नवीन काव्यतथ्यों की सूचना मिलती है। उसके ग्रन्थ का नाम ही है—ऑन स्टाइल = रीति[१]। वह शास्त्रीय कल्पना तथा सिद्धान्त के उधेड़बुन में अपने को नहीं डालता है बल्कि व्यवहार की पट्टशिला को अपने ग्रन्थ का आधार बनाता है। इससे उसके ग्रन्थ का महत्त्व बहुत ही अधिक है। वह प्राचीन ग्रीसदेशीय आलोचकों के सिद्धान्तो की जानकारी के ही लिए उपादेय नहीं है, बल्कि वर्तमान लेखको को भी उस ग्रन्थ के गूढ विश्लेषण तथा मार्मिक समीक्षण से समधिक लाभ होने की सम्भावना है। हमारे आलङ्कारिकों से तुलना करने पर वह कविता के गुण-दोष के विवेचन मे दूसरा मम्मट ही प्रतीत हो रहा है। संस्कृत में 'दोषदर्शने मम्मटः' की जो लोकोक्ति है वह अनेक अंश में डेमेट्रियस पर चरितार्थ होती है। रीतिविषयक सिद्धान्त तथा व्यवहार, काव्यतत्त्व तथा कविव्यवहार, थ्योरी तथा प्रैक्टिस—दोनों के प्रदर्शन में यह ग्रन्थ प्राचीन अलङ्कार-ग्रन्थों में अप्रतिम है।

डेमेट्रियस ने चार प्रकार की रीतियाँ मानी हैं—

(१) प्रसन्न मार्ग Plain style, (२) उदात्त मार्ग Stately style, (३) मसृण मार्ग Polished style, (४) ऊर्जस्वी मार्ग Powerful

---

१ डेमेट्रियस Demetrius का ग्रन्थ On style अनेक सस्करणों में प्रकाशित हुआ है। छात्रोपयोगी संस्करण Everyman's Library (नं० ९०१) वाला है जिसमें Aristotle का Poetics, Rhetorics, तथा Horace का Ars Poetica भी एक ही जिल्द में प्रकाशित हैं।

style। इनके गुण विशिष्ट रूप से पृथक् पृथक् हैं। इनके पूर्ण निर्वाह न होने पर इनके विपर्ययरूप में चार दुष्ट रीतियाँ उत्पन्न होती हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं—(i) Frigid शिथिल, (ii) Affected, कृत्रिम, (iii) Arid नीरस, (iv) Disagreeable अननुकूल मार्ग।

इन चारों रीतियों की विभिन्नता तथा विशिष्टता के लिए डेमेट्रियस का बड़ा आग्रह है, परन्तु सादृश्य की दृष्टि से हम दो रीतियों को एक साथ संयुक्त कर सकते हैं। इस प्रकार मसृणमार्ग प्रसन्नमार्ग के साथ संयुक्त किया जा सकता है, तथा उदात्तमार्ग ऊर्जस्वीमार्ग के साथ संयुक्त किया जा सकता है। इन रीतियों की जिन विशिष्टताओं का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है वे भारतीय कल्पना के ही नितान्त अनुरूप सिद्ध होती हैं। रीतियों की व्यवस्था विषय के अनुसार ही रखी जाती है यथा अप्सराओं के उपवन, वैवाहिक गीति, प्रेमकथा आदि विषय के लिए मसृणमार्ग ही उपयुक्त होता है[1], तथा युद्ध आदि भयानक वस्तुओं के वर्णन के अवसर पर उदात्तमार्ग का प्रयोग न्यायोचित होता है। डेमेट्रियस का स्पष्ट कथन है[2] कि "विषय के कारण उदात्तता की उत्पत्ति होती है, यदि विषय कोई महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध समुद्रयुद्ध या भूमियुद्ध हो या स्वर्ग अथवा भूमि हो, तो रीति में ओजस्विता का उदय स्वतः हो जाता है। यदि महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन साधारण रीति में किया जाता है, तो

---

1 The ornaments of the polished style are derived from the subject matter, for example, the gardens of the Nymphs wedding lays, love stories, in fact, the whole of Sappho's poetry.

On style, p. 231

2 Stateliness is also derived from the subject matter, should the theme be eminent and famous land or sea-battle, or deal into heaven or earth. We should not take into account the subject of the narrative so much as its character. It is possible, by describing eminent themes in an unimpressive way, to rob the subject of its dignity.

वही, पृ० २१६

विषय अपने महत्त्व से गिर जाता है।" इस प्रकार डेमेट्रियस की दृष्टि में रीति के निर्धारण मे वर्ण्यविषय की भूयसी महत्ता है।

भाषा तथा अलंकारों का उपयोग विभिन्न रीतियों मे भी विशिष्ट प्रकार से होता है। समास के विधान को ही उदाहरण के लिए हम ले सकते हैं। रचना में समास का प्रयोग भाषा को ही उदात्त नहीं बनाता, प्रत्युत बन्ध मे विलक्षण गाढ़ता अथवा सघनता के उदय का भी वह कारण बनता है। इसलिए उर्जस्वीमार्ग में समास की व्यवस्था मानी गई है[1], परन्तु प्रसन्नमार्ग मे समासों का अभाव ही न्यायसङ्गत बतलाया गया है। इस प्रकार डेमेट्रियस के प्रसन्न तथा मसृणमार्ग को हम वैदर्भमार्ग कह सकते हैं तथा उदात्त और ऊर्जस्वीमार्ग को गौडीयमार्ग। दोनों की समानता बहुत ही अधिक है। डेमेट्रियस आनन्दवर्धन की 'वर्णध्वनि' से पूर्वपरिचित हैं। आनन्द वर्धन का कहना है कि श्रुतिदुष्ट वर्ण जैसे श, ष, र आदि—की अवहेलना शृङ्गारादि रस में करनी चाहिए परन्तु रौद्र रस के उन्मीलन के लिए इन श्रुतिदुष्ट-कर्णकटु (दुःश्रव) वर्णों का प्रयोग सर्वथा उपादेय तथा न्याय्य है। डेमेट्रियस का भी यही कहना है। वे कहते हैं कि कर्णकटुता रचना का दोष है, परन्तु यही ऊर्जस्वीमार्ग का आवश्यक लक्षण है[2]। जिस प्रकार विषममार्ग—ऊँचे नीचे सड़क—पर चलना बल का द्योतक होता है, उसी प्रकार उच्चारण करने मे कठिन वर्णों का प्रयोग रचना मे जोर पैदा करता है। इस मार्ग मे मसृणपदों का प्रयोग सर्वदा हेय है। कोमल शब्दों से शान्ति का उदय होता है[3], उनसे उदात्तता या ओजस्विता की

---

1 Compound words are out of place in the plain style. These, too, belong to the opposite style (the stately)

डेमेट्रियस पृ० २४४

2 Vehemence (श्रुतिकटुता) creates a kind of power in composition Roughness of sound also in many cases indicates power, like the effects of uneven roads. पृ० २५५

3 Smoothness of composition is not very suitable to powerful language...the very noise of clashing vowels will increase power. पृ० २६६

उत्पत्ति नही होती। कभी कभी भारतीय आलकारिकों और डेमेट्रियस में आश्चर्य-जनक समानता दृष्टिगोचर होती है। वे कहते हैं कि कभी कभी भाषा में प्रौढ़ता की सिद्धि के लिए एक शब्द के लिए एक वाक्यांश का प्रयोग उचित होता है। यह तो वामन का अर्थगुण ओज हुआ, जिस मे एक पद के स्थान पर वाक्य का प्रयोग (पदार्थे वाक्यरचन) अर्थगत प्रौढ़ि के अन्तर्गत माना गया है। जैसे 'चन्द्रमा' को 'चन्द्र' शब्द से व्यवहृत न कर 'अत्रि मुनि के नेत्रसे समुद्भूत ज्योति' बतलाना (अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः)।

रीति का विषय से सम्बन्ध अर्वाचीन पाश्चात्य आलोचकों को भी मान्य है। विषय के औचित्य पर ही रीति का विधान उन्हे स्वीकृत है। मरे ने अपने रीतिविषयक ग्रन्थ में इसका विशिष्ट वर्णन किया है। उनका मत है कि उदात्त-रीति के दो नियामकों में एक साधन है—पदावली और दूसरा विषय। वर्ण्य विषय को वे समधिक महत्त्व देते हैं। यदि किसी कथावस्तु के पात्र अलौकिक हों तथा उदात्त हो, तो यह निश्चित सा प्रतीत हो रहा है कि उनके भाषण का प्रकार साधारण नाटकीय रीति से अवश्य भिन्न होगा[1]। ऐसे पात्रों के भाषण में उदात्तता विशेषरूप में रहती है। "कवि अलौकिक व्यक्तियों के भाषणों को समझ बूझकर ऊँचा उठा देता है जिससे उन पात्रों की अलौकिकता सचमुच सिद्ध हो जाय"[2]। इससे स्पष्ट है कि वर्ण्य विषय रीति का नियामक होता है—जैसा विषय, वैसी रीति। इस प्रकार भारतीय आलोचकों का रीति तथा विषय का परस्पर सम्बन्धवर्णन पाश्चात्य आलोचको को भी मान्य है।

रीति के विषय मे हमारे भारतीय आलोचकों ने जो मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत की है वह पाश्चात्य आलोचना के साथ अनेक अंशों मे आश्चर्यजनक

---

1 If the characters of the plot are superhuman and magestic it seems more or less necessary that their manner of speech should differ from that of ordinary dramatic poetry by being more dignified. Murry : Problem of style p. 140

2 The poet heightens the speech of his superhuman characters in order that they may appear truly superhuman. वही पृ० १४१

साम्य रखती है। प्रोफेसर मरी (Murry) के अनुसार रीति में दो काव्यगुणों का अस्तित्व होता है—(१) लय की सङ्गीतमयी अभिव्यक्ति (Musical suggestion of the rhythm), (२) वर्ण्य विषय की रूपमयी अभिव्यक्ति (visual suggestion of the imagery) । परन्तु इन्हे वे रीति मे गौण स्थान देते हैं। रीति का अत्यावश्यक गुण होता है—आनुरूप्य (precision), परन्तु यह आनुरूप्य बौद्धिक नहीं होता, क्योंकि यह लक्षण का आनुरूप्य नही है, प्रत्युत भावाभिव्यञ्जन का आनुरूप्य होता है (precision of emotional suggestion)[१]। मरी के द्वारा व्याख्यात रीतिगुणों का सुन्दर समर्पक वर्णन हमारे आलकारिकों ने किया है। लय की सङ्गीतमयी अभिव्यक्ति शब्दयोजना से सम्बन्ध रखती है और वह भारतीय आलोचना के शब्दगुण तथा शब्दालङ्कार के अन्तर्गत आती है। उसी प्रकार वर्ण्यविषय की रूपमयी अभिव्यक्ति अर्थगुण तथा अर्थालकार के अन्तर्भुक्त होती है। साधन होने से यह गौण ही रहते हैं। मरी जिसे रीति का सर्वमान्य गुण मानते हैं वह precision औचित्य का ही नामान्तर है तथा भावाभिव्यञ्जन का आनुरूप्य रसध्वनि के भीतर आ जाता है। इस प्रकार मरी की विवेचना भारतीय आलंकारिकों से विशेष समानता रखती है।

विख्यात दार्शनिक शोपेनहावेर ने एक मौलिक निबन्ध मे रीति का निर्णय बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से किया है। उनकी दृष्टि मे विचारों की अभिव्यक्ति विशदतम, सुन्दरतम तथा समर्थतम शब्दों मे होनी चाहिए। इसीसे वे रीति मे तीन गुण मानते हैं—वैशद्य तथा सौन्दर्य और इन दोनों का समूहालम्बनरूप सामर्थ्य अथवा शक्ति। रीति में वैशद्य के लिए शोपेनहावेर का कहना है कि वक्ता के भावों की अभिव्यक्ति के लिए उचित तद्रूप शब्दों की योजना काव्य मे होनी चाहिए जिनका अभिप्राय न तो कम हो या अधिक, विचारों को वे न तो अव्यक्तरूप से प्रकट करे और न आवश्यक विचारों से भिन्न वस्तु का ही प्रकटन करे। इसके लिए व्याकरणसम्बन्धी शुद्धि की भी आवश्यकता होती है। कभी कभी वक्ता अपने विचारों को कम शब्दों में

1 M. Murry —The Problem of style p. 95.

प्रकट करने का इच्छुक होता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि व्याकरण का तो गला घोंटा ही जाता है, साथ साथ बहुत ही जरूरी शब्दों के परिहार से वह उक्ति पहेली सी बन जाती है। शोपेनहावेर का यह वर्णन दण्डी के **अर्थव्यक्ति** गुण के विवरण से साम्य रखता है[१]। 'अर्थव्यक्ति' का अर्थ है अर्थ का स्पष्ट प्रतिपादन। व्याकरण तथा तर्कयुक्ति से आवश्यक शब्दों के प्रयोग न होने पर एक काव्यदोष उत्पन्न होता है जिनका नाम है—**नेयार्थत्व**। इसी दोष के नितान्त परिहार के अवसर पर अनेयार्थत्व का उदय होता है और यही है अर्थव्यक्ति[२]। पातालोक से पृथ्वी के उद्धार के वर्णन-प्रसङ्ग में कवि कहता है—विष्णु ने खुर से क्षुण्ण होनेवाले नागों के लोहू से लाल समुद्र से पृथ्वी को ऊपर उठाया। इस वाक्य में अर्थ के प्रकटनार्थ समस्त शब्दो का प्रयोग किया गया है। इसी वाक्य के स्थान पर यदि कहा जाय—'वराह ने लाल समुद्र से पृथ्वी को ऊपर उठाया', तो यह वाक्य सर्पों के रक्त की चर्चा से हीन होने से अपूर्ण ही है[३]। यह वाक्य होगा नेयार्थ का उदाहरण, तो पूर्ववाक्य है अर्थव्यक्ति का दृष्टान्त।

---

१ अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता
भूः खुरक्षुण्णनागासृग् लोहितादुदधेरिति।
—काव्यादर्श १।७३

२ उक्तेनैव शब्देन विवक्षितार्थसिद्धिः अर्थव्यक्तिः।
अनेयत्वं नाम वाक्ये शब्दान्तरस्य अध्याहारानाकाङ्क्षा।
—हृदयंगमा

अनेयत्वम् उपात्तेनैव शब्देन वाक्यार्थप्रतीतिः।
वही।

३ मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः
इतीयत्येव निर्दिष्टे नेयत्वमुरगासृजः।
नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि
न हि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी।
—वही १।७४,७५

महिमभट्ट के अनुसार यही **अवाच्यवचन** नामक दोष कहलावेगा। इनकी दृष्टि मे जिन पदों का प्रतिपादन अभीष्ट हो, उनका प्रतिपादन न होने पर **वाच्यावचन** दोष होता है। इसी प्रकार अनावश्यक पदों के प्रयोग से वैशद्य का सर्वथा नाश हो जाता है और यही है 'अवाच्यवचन' दोष अर्थात् न कहने योग्य पदो का कथन। यह कवि के शब्ददारिद्रय का द्योतक है। वक्ता के पास शब्दों की इतनी दरिद्रता है कि वह आवश्यक स्थान पर उचित शब्दों का प्रयोग ही नहीं करता। ऐसे अनावश्यक शब्द केवल भर्ती के लिए ही होते हैं। उनका एकमात्र उपयोग होता है—पादपूरण अर्थात् वृत्त की पूर्ति के निमित्त शब्दों का प्रयोग। शोपेनहावेर का कथन है कि अनावश्यक शब्दों का निरास कवि की विदग्धता का सूचक होता है[१]। कविता कवि के भावों का दर्पण है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण मे वस्तु का प्रतिबिम्ब स्वतः स्फुरित होता है, उसी प्रकार कविता मे कवि के अर्थ तथा तात्पर्य का विशद स्फुरण होना चाहिए। और यह वैशद्यगुण के कारण ही सम्पन्न हो सकता है। वामन के अर्थगुण **प्रसाद** की भी तो यही महिमा है कि जितने शब्द अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए उपयुक्त हों उतने ही शब्दो का प्रयोग किया जाय। वामन ने अर्थगुण प्रसाद का लक्षण दिया है—अर्थवैमल्यं प्रसादः अर्थात् अर्थ की विमलता। **'अर्थवैमल्य'** का तात्पर्य है प्रयोजक शब्दो का ही प्रयोग[२]। जिन पदों के अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए नितान्त आवश्यकता रहती है उन्हीं तथा उतने ही शब्दों को **प्रयोजक** रहते हैं। उन्ही का प्रयोग कवि के सच्चे अर्थ की स्फूर्ति के लिए उपयुक्त होता है। जैसे **'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी'**—किसी युवति के सौन्दर्य का वर्णन है कि वह सुन्दर वर्णवाली सुकुमार-कन्या रूप और यौवन के आरम्भ से शोभित हो रही है। इस वाक्य मे उतने ही पदों का निवेश है,

१ व्यक्तिविवेक २। ६६

२ अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः। यथा 'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी'। विपर्ययस्तु 'उपास्तां हस्तो मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम्'। काञ्चीपदमित्यनेनैव नितम्बस्य लक्षितत्वाद् विशेषणस्य अप्रयोजकत्व-

—वामनः काव्यालंकारसूत्र ३। २। ३

जितने कविगत अर्थ की व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं। इसके विपर्यय पर दृष्टिपात कीजिए—**'उपास्तां हस्तो मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम्'**='मेरा हाथ इस विमलमणिवाले नितम्ब की उपासना करे।' यहाँ काञ्चीपद से लक्षित होता है नितम्ब। तब 'विमलमणि' विशेषकर अनावश्यक होने से 'अपुष्टार्थ' दोष से दुष्ट माना जायगा। भारतीय आलोचकों ने इस प्रकार शब्ददारिद्रय तथा प्रतिभादारिद्रय को छिपाने के लिए किये गये अनावश्यक शब्दप्रयोग की बड़े बड़े शब्दों में आलोचना की है। महिमभट्ट इस पदप्रयोग को 'अप्रतिभोद्भव' तथा 'अवकर' के नाम से पुकारते हैं। उनकी दृष्टि मे ये उचित स्थान से च्युत शब्द वस्तुतः शब्द न होकर 'अपशब्द' ही होते हैं—**अस्मान् प्रति पुनः अविषये प्रयुज्यमानः शब्दोऽपशब्द एव**। इस प्रकार शोपेनहावेर का रीतिगुण भारतीय आलोचनाशास्त्र मे भी स्फुटतया निर्दिष्ट किया गया है।

शोपेनहावेर दो रीतियाँ मानते हैं—एक अच्छी, दूसरी बुरी; पहली रीति आर्जव, वैशद्य तथा औचित्य से सज्जित होती है, तो दूसरी रीति प्राचुर्य, अस्फुटत्व तथा शब्दाडम्बर के द्वारा मण्डित होती है। प्रतीत होता है कि वे दण्डी की वैदर्भी तथा गौडी की प्रकारान्तर से व्याख्या कर रहे हैं। शोपेनहावेर ने दूसरी रीति के उपासक कवियों की रचना का निर्देश किया है कि वह रचना नितान्त दीप्त, अस्वाभाविक, अतिशयोक्तिपूर्ण (दण्डी की 'अत्युक्ति', जो सौकुमार्य गुण का विपर्यय है) तथा नटबाजी की भाँति विचित्र रीति में निबद्ध की गई रहती है। नटबाजी (acrobatic) को भामह 'प्रहेलिकाप्राय' शब्द से लक्षित करते हैं। दण्डी इस अक्षराडम्बर के प्रेमी नहीं हैं। दण्डी ने उल्बण अनुप्रास, दुष्कर यमक (जो निश्चित रूप से मधुर नही होता) तथा अर्थालंकारडम्बर की भरपूर निन्दा की है। वे काव्य मे सौन्दर्य, सौकुमार्य तथा स्वाभाविकता के उपासक हैं जिनके बल से कविता में वह चमत्कार उत्पन्न हो जाता है जिसे अलंकारों का कितना भी भार पैदा करने में कथमपि समर्थ नहीं होता। दण्डी की मार्मिक उक्ति है—

इत्यनूर्जित एवार्थो नालङ्कारोऽपि तादृशः
सुकुमारतयैवैतद् आरोहति सतां मनः ॥

—काव्यादर्श

शोपेनहावेर ने काव्य में सुकुमारमार्ग के विषय में जो कुछ निबद्ध किया है वह दण्डी के इस मनोरम पद्य की विशद व्याख्या है[1]। वे रीति के सौकुमार्य के पक्षपाती हैं। रीति वैशद्य का उपासक लेखक अनावश्यक आलङ्कारिक झकार, समग्र अप्रयोजक विस्तार से अपने को बचाता रहता है। एक शब्द मे हम कह सकते हैं कि शिल्पशास्त्र के समान काव्य में भी लेखक को सजावट की अधिकता, सज्जा का आतिशय्य, पदप्रयोग की अनावश्यकता से सदा जागरूक रहना चाहिए। ललितकला में भव्यता का उदय होता है स्वाभाविकता से, निसर्गता से। बनावट या भड़कीलापन एक भोंड़ा अलंकार है जो विदग्ध के चित्त को कभी आकृष्ट नहीं करता, प्रत्युत बाहरी सजावट के प्रेमी अरसिको के हृदय को ही अपनी ओर खीचता है। महाकवि बिहारी इस दोहे में इसी स्वाभाविक सौन्दर्य की ओर सकेत कर रहे हैं—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू, जिहिं बस होत सुजान॥

—बिहारी बोधिनी, दोहा ८१

स्टिवेनसन ने अपने रीति विषयक मार्मिक निबन्ध मे रीति के उपादानों (Contents of style) का अध्ययन किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने व्यञ्जनों के विशिष्ट सयोग से उत्पन्न प्रभाव की चर्चा की है। इस प्रभाव को ही वे रीति का सर्वप्रधान चमत्कार मानते हैं। इस विषय का विशद प्रतिपादन दण्डी ने किया है। दण्डी ने व्यञ्जनों के समुच्चय से उत्पन्न प्रभाव का रहस्य

---

1 An author should guard against using all unnecessary rhetorical ornaments, all useless amplification and in general, as in architecture, he should guard against an excess of decoration, all superfluity of expression—in other words, he should aim at *chastity of style*. Every thing redundant has a harmful effect. The law of simplicity and naivete applies to all fine art, for it is compatible with what is most *sublime*.

Schopenhauer, —Some Concepts of Alamkarshastra में उद्धृत (पृ० १५६-१६०)।

भलीभाँति समझाया है। यदि लकार आदि कोमल व्यञ्जनों का ही समग्रतया एकत्र प्रयोग किया जाय तो बन्ध में शैथिल्य उत्पन्न हो जाता है—रचना में शिथिलता का उदय होता है तथा बन्ध में परुषता विराजने लगती है—

शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा।
अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात्॥
—काव्यादर्श १।४३

इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति।
अतो नैनमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते॥
—वही १।६०

इससे विपरीत जहाँ कोमल तथा निष्ठुर वर्णों का एकत्र मिश्रण होता है वहाँ दण्डी 'सुकुमार' गुण स्वीकार करते हैं। इसका निवेश सर्वदा श्लाघनीय माना जाता है। इसके विपर्यय का नाम है—दीप्त, जिसमें गौडीय लोग उन पदों को बाँधते हैं जिनका उच्चारण बड़ी कठिनता से किया जा सकता है जैसे क्षकार की बहुलता से मण्डित यह वाक्य—न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति (क्षत्रियों का समग्र पक्ष क्षणभर में काट गिराया गया)—

दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि बध्यते।
न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिव॥
—वही १।७२

दण्डी इस 'दीप्त' को काव्य में उद्वेजक दोष स्वीकार करते हैं। यह केवल गौडीय मार्ग में ही विशेष मूल्य रखता है, सुकुमारता का प्रेमी वैदर्भ कवि इसे काव्य में सर्वथा निन्द्य तथा अग्राह्य बतलाता है। दण्डी के इसी विवेचन की ध्वनि स्टिवेन्सन की विवेचना में स्पष्ट दीख पड़ती है। तुलना के लिए उनके इस सिद्धान्त पर दृष्टिपात कीजिए जहाँ उन्होंने अग्राह्य शैली में कष्ट से उच्चार्यमाण व्यञ्जनसमुदाय का अस्तित्व बतलाया है। सचमुच भला वह रीति कविजनों के आदर का पात्र बन सकती है जिसमें ऐसे कठोर व्यञ्जन एक साथ

जुटाये गये हैं जिन्हे अपनी पूरी शक्ति लगाने पर भी मनुष्य उच्चारण नही कर सकता[1]। इसी प्रसङ्ग मे उन्होंने रीति के जिन गुणों का वर्णन किया है वे समता अवैषम्य, प्रसाद आदि गुणों के रूप में हमारे आलोचकों के द्वारा पहिले से स्वीकृत किये गये हैं।

वाल्टर रेले

अंग्रेजीके प्रख्यात आलोचक वाल्टर रेले (Walter Releigh) ने रीतिविषयक प्रौढ़ निबन्ध में रीति की जो समीक्षा की है उसमें भारतीय आलोचना से विशेष समानता दृष्टिगोचर होती है। रेले रीति में विचित्र शब्द विन्यास के पक्षपाती हैं। जिस सन्दर्भ में जो शब्द या नाम अनुरूप जमता है उस सन्दर्भ में वही शब्द प्रयोगार्ह होता है। एक ही वस्तु के अनेक नाम या पर्याय होते हैं। उनका प्रकरण के अनुरूप विधान प्रथम कोटि के कविकौशल का निदर्शक होता है। इस प्रसङ्ग मे उन्होंने मिल्टन के द्वारा अपने विख्यात महाकाव्य 'पैरेडाइस लास्ट' मे ईश्वर से युद्ध छेड़ने वाले शैतान के विविध नामों के औचित्य का विचार किया है। विज्ञ पाठको से बतलाने की आवश्यकता नही कि यही क्षेमेन्द्र का नामौचित्य अथवा कुन्तक की पर्याय-वक्रता है। पुनरुक्ति सचमुच काव्यदोष है, क्योंकि इससे लेखक के शब्द-दारिद्रय का पता चलता है। लेखक के पास शब्दकोष की इतनी कमी है कि वह एक ही शब्द बारबार एक ही निबन्ध में पास ही पास प्रयोग कर रहा है। यह ठीक है, परन्तु रेले की सम्मति मे पुनरुक्ति भी साहित्यिक महत्त्व से खाली नही होती। किसी विषय पर ज़ोर देने के समय पुनरुक्ति से बढ़कर

---

1 To understand how constant is this pre-occupation of good writers, even where its results are least obstrusive, it is only necessary to turn to the bad There indeed you will find cacaphony supreme, the rattle of incongruous consonants only relieved by jaw-breaking hiatus and whole phrases not to be articulated by power of man. —Stevenson.

2 Walter Releigh—Style p. 54-55

कवि के पास कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है[1], विशेषतः भावो की अभिव्यक्ति के लिए। किसी विशिष्ट भाव की प्रकटता के लिए वक्ता के हाथ में पुनरुक्ति ही महान् अस्त्र होता है[2]। वह जानता है कि किसी विशिष्ट भाव का प्राकट्य एक विशिष्ट शब्द के द्वारा होगा और उसके लिए वह उस पद को अपने व्याख्यान के बीच बीच में उच्चारण करने से नही चूकता। सच तो यह है कि इसी पुनरुक्ति के कारण ही वक्ता का भाषण ओजस्विता तथा प्रभावशालिता से मण्डित होता है। हास्यमय गीति के साधारण टेकपदों की तथा विदूषक के सकुनतकिये की भी यही दशा है। वह शब्द स्वयं निरीह तथा निष्प्राण प्रतीत होता है, परन्तु उसकी पुनरुक्ति मे हास्यरस का समग्र कौशल उछलता रहता है। रेले का यह विवेचन भारतीय आलंकारिकों की पद्धति पर है। मम्मट ने भावों की अभिव्यक्ति के लिए—विशेषतः हर्ष, भय, शोक, आशङ्का आदि भावो के प्रकटन के निमित्त—पुनरुक्ति को दोष न मानकर गुण ही स्वीकार किया है।

रीति की शोभा तथा प्रभाव बढ़ाने के लिए रेले ने अलंकरण तथा सजावट को नितान्त उपकारक तथा उपादेय माना है। अलंकार तथा शोभा एक ही वस्तु नही है तथापि अलंकारो के द्वारा काव्य मे शोभा का आधान होता है; नवीन कल्पना तथा नई स्मृतियाँ अलंकार के विन्यास से जाग्रत की जा सकती हैं जो वर्ण्यविषय से सद्यः स्फुरित नहीं होती। परन्तु रेले की

---

1 Repetition is the strongest generator of emphasis known to language. Releigh : Style p 52

2 Rhetoric is content to borrow force from simpler methods; a good orator will often bring his hammer down, at the end of successive periods, or the same phrase and the mirthless refrain of a comic song, or the catchword of a buffoon, will raise laughter at least by its brazen importunity. Releigh : Style p. 53

सम्मति में अलंकार को सन्दर्भानुसार होना चाहिए[1] जिससे वर्ण्यविषय के द्वारा उत्पाद्य भाव-सरोवर में पाठक गोता लगाकर आनन्दविभोर हो उठे। अतः अलंकार को रस तथा सन्दर्भ से आनुरूप्य रखना नितान्त आवश्यक होता है। रेले का यह वर्णन भारतीय आलोचकों की सम्मति के साथ सर्वथा साम्य रखता है। आनन्दवर्धन ने रीति के समर्पक नियमों में रसौचित्य को भी प्रधान साधन स्वीकार किया है। हमने अनेक बार दिखलाया है कि अलंकार का निवेश तभी काव्य में शोभन होता है जब वह औचित्यमण्डित हो, सरस हो तथा स्वाभाविक हो। रेले की समीक्षा भी इसी तथ्य पर पहुँचती है।

क्विण्टिलियन—तीन रीतियाँ

रीतियों की संख्या के विषय मे पाश्चात्य तथा भारतीय आलोचकों में आश्चर्यजनक साम्य है। भारत में रीतियों का विभाजन भौगोलिक आधार पर किया गया है। बहुसम्मति से रीतियाँ तीन ही हैं और वे विदर्भ, गौड तथा पञ्चाल देश की काव्यपरम्परा से सम्बद्ध होने के कारण तत्तत् नामों से विख्यात हैं। यूरोप के प्राचीन आलोचक क्विण्टिलियन Quintilian (३५ ई० १-६६ ई० ?) के अनुसार यूनानी भाषा में निबद्ध काव्यों को तीन रीतियों के भीतर बाँट सकते हैं—(१) एटिक Attic (२) एशिएटिक Asiatic (३) रोडिअन Rhodian इनमें एटिक रीति यूनान के प्रसिद्ध प्रान्त, जिसका मुख्य नगर एथेन्स था, के नाम से प्रचलित थी। इसमें भावों की नैसर्गिक अभिव्यक्ति सुन्दर शब्दों के द्वारा अभीष्ट थी। यह हमारी वैदर्भी से साम्य

---

1 There is a decorative use of figure, whereby a theme is enriched with imaginations and memories that are foreign to the main purpose ... To keep the most elaborate comparison in harmony with its occasion, so that when it is completed it shall fall back easily into the emotional key of the narrative has been the study of the great epic poets.

रेले पृ० १००

रखती है। एशिएटिक रीति एशिया में स्थित यूनानी उपनिवेशों की काव्य-परम्परा के आधार पर है। एशिया के लोग अधिक गर्वीले होते हैं, लम्बे लम्बे वाक्यों के प्रयोग में तथा विचित्रता लाने में सदा उद्योगशील रहते हैं। अतः उनकी रीति में शब्दाडम्बर की प्रचुरता पाई जाती है। इस प्रकार यह भारतीय गौडी रीति की यूनानी प्रतिनिधि है। रोडियन इन दोनों के बीच की रीति है जो भाव की अभिव्यंजना में न तो नितान्त स्वल्पपदों का ही प्रयोग उचित मानती है और न शब्दबाहुल्य की उपासिका है, प्रत्युत दोनों के बीचोबीच खड़ी होती है और यह गुण रोड्स द्वीप के निवासी कविजनों के शील, स्वभाव तथा कविकौशल के ऊपर आश्रित माना गया है। स्पष्टतः यह वैदर्भी तथा गौड़ी की मध्यवर्तिनी पाञ्चाली रीति से साम्य रखती है। अतः हमारे रीतित्रय के समान यूरोप में भी तीन रीतियों का सिद्धान्त मान्य था।

---

1 From of old there has been the famous division of Attic and Asiatic writers—the former being reckoned succint and vigorous, the latter inflated and empty .....the different natures of the speakers and audiences produced the difference of style, in as much as the Attics, polished in form and clear of head, could not endure inanity and redundancy; the people of Asia, in other ways more given to boasting and bombast, were likewise puffed up with a vainer conceit in speeking,......The Rhodian which they would have a sort of mean and the blend of the two. Writers of this class are neither terse, like the Attics nor prolix after the Asian fashion, Quintilian.

विञ्चेस्टर—दो रीतियाँ

परन्तु कुन्तक के समान यूरोपीय आलोचकों ने भी रीतियों के नामकरण में भौगोलिक आधार का निराकरण किया है। पिछली शताब्दियों के आलोचकों ने स्वभावद्वैविध्य के आधार पर प्रधानतया दो प्रकार ही रीतियाँ मानी हैं[1]। उदाहरणार्थ विञ्चिस्टर ने अपने आलोचनाग्रन्थ में द्विविध रीतियों की मार्मिक समीक्षा इस प्रकार की है[2]। कवियों का शब्दप्रयोग दो प्रकार का देखा गया है—एक प्रकार वैशद्य तथा संक्षिप्तता की ओर जाता है, तो दूसरा प्रकार विस्तार तथा सजावट की ओर झुकता है। इन दोनों का अन्तर समझने के लिए अंग्रेजी साहित्य में मैथ्यू आर्नाल्ड की कविता की तुलना टेनिसन की कविता से की जा सकती है। प्रथम प्रकार के कवि या लोग विचारों की स्पष्टता, वर्ण्यवस्तु की विशदता, विशेषणों की अनुरूपता तथा समतुलन पर विशेष आग्रह दिखलाते हैं। द्वितीय प्रकार के कविजनों के विचारो की राशि एकत्र रहती है, परन्तु स्वच्छता से परिष्कृत नही रहती; अलकारों की सजावट विशेष रहती है; रगों में चटकीलापन अधिक रहता है, परन्तु भावों की स्फुटता नही रहती। वे अलंकृति तथा बहुलता उत्पन्न करते हैं। प्रभाव गहरा

---

1 Winchester—Some Principles of Literary Criticism. (Chapter IV)

2 There are two opposite tendencies in personal expression—on the one hand to clearness and precision—on the other to largeness and profusion. Minds of one class insist on sharply divided ideas, on clearness of image, on temperance and precision of epithet. The other class has a great volume of thought, but less wel—fined; more abundent and vivid imagery, more wealth of colour, but less sharpness of definition. —Winchester.

तथा विस्तृत होता है, परन्तु उसमें स्निग्धता तथा माधुर्य का अभाव रहता है। साहित्य के क्षेत्र में ही यह रीतिभेद स्फुटतया लक्षित नहीं होता, प्रत्युत ललितकला के क्षेत्र मे भी यह पार्थक्य जागरूक रहता है। एक अधिकतर सौकुमार्य, चमत्कार की भावना जाग्रत करता है और दूसरा अधिकतर वैषम्य तथा सामर्थ्य की धारणा प्रवृत्त करता है। दोनों में से कौन अधिक श्लाघनीय तथा ग्राह्य है? यह निश्चित सम्मति आलोचक झटिति नहीं दे सकता।"

विन्चेस्टर की यह मीमासा बड़ी सुन्दर, तथा प्रामाणिक है। इस वर्णन को पढ़कर स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक कालिदास तथा भवभूति, या दण्डी और बाणभट्ट की तुलना कर रहा है। प्रथम रीति वैदर्भी है, तो दूसरी गौडी—या कुन्तक की कल्पना से पहली 'सुकुमारमार्ग' की समीक्षा है, तो दूसरा विचित्र मार्ग का वर्णन है। सुकुमारमार्ग स्वभावोक्ति तथा रसोक्ति से स्निग्ध रहता है, तो विचित्रमार्ग वक्रोक्ति से चमत्कृत रहता है। दोनों में कौन श्लाघ्यतर है? इस विषय मे लेखक का मत भामह से मिलता है[1]। भामह गौडीयमार्ग को न तो गतानुगतिक रूप से काव्य में निन्दनीय मानते हैं और न वैदर्भमार्ग को स्पृहणीय, प्रत्युत काव्य के सच्चे गुण का निर्वाह—वक्रकथन, अतिशय प्रकाशन, रसमयता, आदि—जिस रीति में उपलब्ध होता है वही भामह की दृष्टि में ग्रहणीय रीति प्रतीत होती है।

विचित्रमार्ग का यथार्थ अनुसरण दुष्कर व्यापार होता है। इसीलिए कुन्तक ने इस मार्ग के अनुगमन की तुलना तलवार की धार के ऊपर चलने से दी है। दोनों मार्ग अत्यन्त तीक्ष्ण हैं। जरा सा चुका नहीं, कि पैर

---

1 The ultimate verdict of approval will be given to that style in which there is no overcolouring of phrase, no straining of sentiment, which knows how to be beautiful without being lavish, how to be exact without being bald; in which you will not find a thicket of vague epithet.

Winchester.

छिन्न भिन्न हो जाता है। इसीलिए विचित्रमार्ग से भ्रंश हो जाने पर दण्डी की गौडी रीति उत्पन्न होती है। विचित्रमार्ग का निर्वाह विदग्ध कविजनों के द्वारा ही यथार्थ रीति से शक्य होता है। साधारण कवियों के हाथ में पड़ कर तो यह रीति नितान्त हेय और निन्दनीय कोटि मे गिर पड़ती है। इसी भय से आलोचक वैदर्भमार्ग पर विशेष आस्था और श्रद्धा रखता है। इसीलिए विञ्चेस्टर का भी आग्रह नैसर्गिक प्रवाह, सुभग रस, तथा स्वतः सौन्दर्य से सम्पन्न प्रथम रीति पर ही है। यही रीति कुन्तक का 'सुकुमार मार्ग' है जिसकी प्रशंसा मे उनका कहना है—

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुम—काननेनेव षट्पदाः॥

—व० जी० १।२९

वैदर्भी की स्तुति श्लाघावचन न होकर तथ्य—कथन ही है—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥

आशय है कि वक्ता के होने से, अर्थ के रहने पर, शब्दशास्त्र के नियमों के पालन करने पर भी काव्य मे एक विशिष्ट वस्तु होती है जिसके विना वचनरूपी मधु नही चूता—कविता मे माधुर्य का उदय नहीं होता। यही है वैदर्भी रीति वामन भट्ट की, सुकुमारमार्ग कुन्तक का। इसकी श्लाघनीयता में यूरोपीय और भारतीय—उभय आलोचकों का ऐकमत्य है।

इस प्रकार रीतिविवेचन में भारतीय आलोचना से पाश्चात्य आलोचना में विशिष्ट तथा घनिष्ठ साम्य विद्यमान है। भारतीय आलंकारिकों का रीति-विचार उनकी उच्च कोटि की समीक्षाशक्ति का द्योनक है। रीति का विश्लेषण तथा विभाजन इतने वैज्ञानिक ढंग से हमारे आलोचकों ने किया है कि पाश्चात्य जगत् मे विपुल आलोचना होने पर भी उसका मूल्य और महत्त्व आज भी उसी प्रकार अक्षुण्ण है। हमारे आलोचक बहिरंग आलोचना के अनुगामी नही हैं, प्रत्युत विषयि-प्रधान आलोचना के सन्तत उपासक हैं। रीति काव्य के कतिपय शब्दगुणों पर आश्रित होनेवाला काव्यतत्त्व नही है, प्रत्युत वह कवि के स्वभाव तथा शील, रुचि तथा

वैशिष्ट्य पर रसौचित्य के सहारे खड़ा होने वाला सूक्ष्म तत्त्व है, यह सप्रमाण बिस्तार से दिखलाया गया है। इस विषय में नीलकण्ठ दीक्षित की यह उक्ति बिल्कुल सत्य है—

> वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
> वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
> अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
> सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्॥

वक्रोक्ति— बाँकपन—ही जहाँ विभूषण है, वाक्य के अर्थ का बाध—शब्दों के सीधे प्रसिद्ध अर्थ का तिरस्कार—ही जहाँ अत्यत आदरणीय प्रकर्ष है; अभिधा शक्ति से अर्थ का प्रकट करना ही जहाँ दोष है, कवियों का वह व्यञ्जनाप्रधान टेढ़ा मार्ग सबसे निराला है।

———

वृत्ति-विचार

"वृत्तयो नाट्यमातरः"

"सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः"

—भरत

(१)

अलंकारशास्त्र के उद्‍गम की चर्चा करते समय यह पहिले ही दिखलाया गया है कि यह शास्त्र नाट्यशास्त्र के एक सहायक शास्त्र के रूप में उत्पन्न हुआ। भरत के अनुसार नाटकीय **अभिनय** चार प्रकार का होता है—(१) आङ्गिक (२) सात्विक (३) वाचिक (४) आहार्य। इनमें अलंकार-शास्त्र का सम्बन्ध वाचिक अभिनय से है। नाटकीय कथनोपकथन में प्रयुक्त होनेवाले वाक्यों के सौन्दर्य तथा सन्निवेश के लिये ही अलंकारों का अध्ययन नाट्य मे होने लगा। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में स्पष्ट ही लिखा है कि उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक ये चारों अलकार नाटक के ही अङ्गभूत हैं[१]। उन्होंने नाट्यशास्त्र के १७ वे अध्याय मे **वाचिक** अभिनय के प्रसङ्ग में इन अलंकारों का निर्देश किया है। कई शताब्दियों के अनन्तर जब अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र से पृथक् होकर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे अध्ययन का विषय बना, तब नाट्य से साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाले अनेक साहित्यिक सिद्धान्त इस शास्त्र में भी गृहीत हो गये और ऐसा होना स्वाभाविक ही था। कोई भी शास्त्र अपने मूलभूत शास्त्र की विचारधारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अलकारशास्त्र आरम्भ में नाट्यशास्त्र का ही अविभाज्य अङ्ग था। कालान्तर में उसने स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण कर लिया, तथापि नाट्य में व्याख्यात काव्यतत्त्वों को ग्रहण कर उसने अपना कलेवर पुष्ट किया। इसमें सन्देह का कोई भी स्थान नहीं है कि अलंकार-शास्त्र के ऊपर नाट्यशास्त्र का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

---

१ उपमा रूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाः चत्वारो नाटकाश्रयाः॥

ना० शा० १७।४३

वृत्तियों का उदय

नाट्यशास्त्र में वृत्तियों का विचार अपनी एक अलग स्वतन्त्र सत्ता रखता है। भरत ने नाट्यशास्त्र के २२ वे अध्याय मे इस विषय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। प्रथमतः भरत मुनि ने वृत्तियों की उत्पत्ति की बड़ी रोचक कथा दी है। वे इन वृत्तियो के उद्गम का संबध भगवान् विष्णु के द्वारा मधुकैटभ के वध से दिखलाते हैं। प्रलयकाल मे जब जगतीतल पर केवल जल की ही सत्ता सर्वत्र विद्यमान थी—सर्वत्र समुद्र ही समुद्र था—तब भगवान् नारायण शेषनाग की सुखद शय्या पर योग-निद्रा में लीन थे। उनके नाभिकमल के ऊपर भूतभावन ब्रह्मा विद्यमान थे। उसी समय रणपिपासु, वीर्य के दर्प से उन्मत्त, मधुकैटभ नामक असुर युद्ध के लिये उन्हे चुनौती दे रहे थे। ब्रह्मा ने विष्णु को जगाया और विष्णु ने अपने उग्र पराक्रम से इन असुरो का संहार किया। इस भयंकर युद्ध के अवसर पर विष्णु ने जो जो चेष्टाये प्रदर्शित की उन्हीं से इन नाट्यवृत्तियों की उत्पत्ति हुई[1]। ये वृत्तियाँ सख्या में चार हैं—(१) भारती (२) सात्वती (३) कैशिकी (४) आरभटी। इस संग्राम के प्रसङ्ग मे विष्णु ने पृथ्वी पर जो जोर से पैर रक्खा तो पृथ्वी के ऊपर अत्यन्त भार पड़ा। इसी भार से भारती वृत्ति उत्पन्न हुई[2]। धनुषधारी भगवान् विष्णु ने तीव्र, दीप्तिकर, बलयुक्त तथा

---

१ ततो देवेषु निद्दितो द्रुहिणेन महात्मना।
पुनर्नाट्यप्रयोगे च, नानाभावरसान्विता ॥ २०
वृत्तिसंज्ञा कृता ह्येषा, नानाभावरसाश्रयाः।
चरितैस्तस्य देवस्य, द्रव्यं यत् यादृशं कृतम् ॥ २१
ऋषिभिः तादृशी वृत्तिः कृता वाक्याङ्गसंभवा।
नाट्यवेदसमुत्पन्ना वागङ्गाभिनयात्मिका ॥ २२
ना० शा० २२।२०-२२

२ भूमिसंस्थानसंयोगैः पदन्यासैस्तदा हरेः।
अतिभारोऽभवद् भूमेर्भारती तत्र निर्मिता ॥
—वहीं २२।११

भयरहित जो वीर रसोचित चेष्टाये (वल्गित) की, उन्हीसे सात्त्वती वृत्ति का निर्माण हुआ[१]। भगवान् विष्णु ने विचित्र, ललित, लीलासम्पन्न आङ्गिक अभिनयों के साथ जो अपनी शिखा बाँधी उसी से कैशिकी वृत्ति का उदय हुआ[२]। विष्णु ने सरम्भ तथा आवेग से युक्त नाना प्रकार की चारी (पैंतरा) बांधकर जो चित्र विचित्र युद्ध किया उससे **आरभटी** वृत्ति पैदा हुई[३]। भगवान् विष्णु की इन्ही चेष्टाओं का मुनियो ने ब्रह्मा की आज्ञा से नाट्य के प्रयोग में सन्निवेश किया। इन वृत्तियों का सम्बन्ध वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय से है।

भरत ने इन वृत्तियों का सम्बन्ध चारों वेदों से बतलाया है। उनकी सम्मति में भारती वृत्ति का उद्गम ऋग्वेद से है; सात्त्वती का यजुर्वेद से, कैशिकी का सामवेद से तथा आरभटी का अथर्ववेद से है[४]। भरतमुनि ने इन वृत्तियो का विभिन्न वेदों से जो सम्बन्ध बतलाया है वह नितान्त औचित्यपूर्ण है। ऋग्वेद स्तुतिप्रधान है। अतः उससे शब्दप्रधान भारती वृत्ति का उद्गम नितान्त उचित ही है। यजुर्वेद का सम्बन्ध अध्वर्यु नामक ऋत्विग् से है जिसका कार्य यज्ञ-याग का अनुष्ठान करना है। अध्वर्यु के काम में क्रियाशीलता मुख्यतया लक्षित होती है। अतः इससे सात्त्वती

---

१ वल्गितैः शार्ङ्गधनुषस्तीव्रैर्दीप्तिकरैरथ।
सत्त्वाधिकै रसभ्रान्तैस्सात्वती तत्र निर्मिता॥
—वहीं २२।१२

२ विचित्रैरङ्गहारैस्तु, देवो लीलासमुद्भवैः।
बबन्ध यच्छिखापाशं, कैशिकी तत्र निर्मिता॥
वहीं २२।१३

३ सरम्भावेगबहुलैर्नाना—चारीसमुत्थितैः।
नियुद्धकरणैश्चित्रैर्निर्मिताऽऽरभटी ततः॥
वहीं २२।१४

४ ऋग्वेदाद् भारतीवृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च, शेषा चाथर्वणात्तथा॥
वही २२।१४

वृत्ति का जन्म अनुरूप ही है। सामवेद में संगीत की प्रधानता है। अतः उससे सुकुमार शृङ्गारमयी कैशिकी की उत्पत्ति स्वाभाविक ही है। अथर्ववेद नाना अभिचार—मारण, मोहन, उच्चाटन आदि विविध कार्य—से युक्त है। अतः इस वेद से संरम्भमयी आरभटी वृत्ति का उदय नितान्त नैसर्गिक है।

भरतमुनि के द्वारा व्याख्यात वृत्तिसमुत्पत्ति वैष्णवधर्म से सम्बद्ध है। इसी की सूचना अन्य ग्रन्थों में भी मिलती है। 'शारदातनय' ने भावप्रकाशन (पृ० १२) में लिखा है कि मधुकैटभ राक्षसो के द्वारा विष्णु के साथ युद्ध के अवसर पर तीन वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं, परन्तु चौथी वृत्ति भारती भरतमुनि के द्वारा आविष्कृत या व्याख्यात होने के कारण इस नाम से पुकारी जाती है[१]।

शारदातनय ने इस प्रसङ्ग मे एक अन्य परम्परा का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि जब ब्रह्मा शिव पार्वती के नृत्य को देख रहे थे, तब उनके चारों मुख से चारो वृत्तियाँ तदनुकूल चारों रसों के साथ आविर्भूत हुईं[२]। ब्रह्मा के पूर्व मुख से कैशिकी वृत्ति और शृंगाररस उत्पन्न हुए, दक्षिण मुख से सात्त्वती और वीररस; पश्चिम मुख से आरभटी वृत्ति और रौद्ररस; उत्तर मुख से भारती वृत्ति और बीभत्सरस उत्पन्न हुए[३]। शारदातनय को वृत्तियो के उदय की यह कहानी कहाँ से मिली? इसका पता नहीं चलता। सम्भवतः किसी अब तक अप्रकाशित नाट्यग्रन्थ के आधार पर यह कल्पना खड़ी की गई है।

---

१ मधुकैटभासुराभ्या नियुद्धमार्गेण युध्यतो विष्णोः।
वृत्तित्रयं प्रसूत भरतप्रोक्ता च भारतीत्यपरे।
—भावप्रकाशन पृ० १२

२ अपरे तु नाट्यदर्शनसमये कमलोद्भवस्य वदनेभ्यः।
शृंगारादिचतुष्टयसहिता वृत्तीः समाचख्युः।
—वहीं, पृ० १२

३ भावप्रकाशन, तृतीय अधिकार, पृ० ५६-५७

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में वृत्तियों का उत्थान भगवान् शङ्कर के साथ प्रदर्शित किया गया है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि नाटक में आरम्भतः केवल तीन ही वृत्तियाँ—भारती, सात्त्वती तथा आरभटी—थीं, परन्तु सुरगुरु की ब्रह्मा को आज्ञा हुई कि इतना होने पर भी नाटक में सौन्दर्य नही है। अतः कैशिकी वृत्ति की भी योजना कीजिए। कैशिकी वृत्ति मे वेशरचना बड़ी ही स्निग्ध होती है, वह शृंगाररस से उत्पन्न होती है। इसी वृत्ति की योजना इन्द्र को अभीष्ट थी। ब्रह्मा ने कहा कि भगवान् नीलकण्ठ के नृत्य के अवसर पर मैंने कैशिकी वृत्ति का साक्षात्कार किया है, परन्तु यह पुरुषों के द्वारा प्रयोज्य नहीं हो सकती—इसका अभिनय स्त्रियों के ही द्वारा निष्पन्न होता है:—

> मृदङ्गहार - सम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका ।
> दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः ॥
> कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृङ्गाररससम्भवा ।
> अशक्या पुरुषैः साधु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते ॥
>
> —नाट्यशास्त्र १।४५, ४६

नाटक मे कैशिकी वृत्ति के अभिधान के निमित्त ही ब्रह्मा ने अप्सराओं की सृष्टि की। ऊपर उद्धृत पद्य मे 'दृष्टा मया' के स्थान पर 'दृष्टोमया' पाठ की कल्पना अभिनवगुप्त से किसी प्राचीन टीकाकार की है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति का साक्षात्कार शिव के नृत्य के साथ साथ पार्वती के नृत्य के प्रसङ्ग पर किया था। कैशिकी मे स्त्री की प्रधानता रहती है; इसलिए उसका प्रत्यक्षीकरण पार्वती के लास्य के अवसर पर ही न्याय्य हो सकता है। यही प्राचीन टीकाकार का अभीष्ट मत है। इसे अभिनवगुप्त स्वीकार नही करते[1]। उनका कहना है कि मधुकैटभ के युद्धप्रसङ्ग मे भरत ने ही स्वयं भगवान् विष्णु की चेष्टाओं से कैशिकी के प्रादुर्भाव की बात लिखी है। इससे स्पष्ट है कि शङ्कर की नृत्यलीला से कैशिकी की उत्पत्ति में किसी प्रकार की आशङ्का नहीं हो सकती।

---

१ अभिनवभारती, पृष्ठ १२

इस प्रकार वृत्तियों की उत्पत्ति के विषय में दो परम्परा प्राचीनकाल से चली आती है—एक है वैष्णवमत, तो दूसरा है शैवमत। भरतमुनि ने दोनों ही का उल्लेख स्वयं किया है। वैष्णवमत का उल्लेख २२ वे अध्याय में विस्तार के साथ है, तो शैवमत का निर्देश प्रथम अध्याय में है। इन्हीके अनुकरण पर नाट्य के अवान्तरकालीन लेखकों ने इन दोनों का समुल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। शारदातनय ने इन दोनों परम्पराओं का वर्णन अपने 'भावप्रकाशन' में किया है। उनका कथन है कि वृत्तियों की शैव उत्पत्ति व्यास के मतानुसार है[१]। पता नही ये व्यास कौन थे? और इनके मत का प्रतिपादक मूल ग्रन्थ कौन सा है?

वृत्ति का स्वरूप

वृत्ति शब्द वृत् वर्तने धातु से क्तिन् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। वर्तन का अर्थ है जीवन और वृत्ति है उस जीवन की सहायक जीविका। वृत्ति का सामान्य अर्थ है—पुरुषार्थ का साधक व्यापार अर्थात् वह व्यापार जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में हमें सहायता प्रदान करता है। काव्य तथा नाटक में ही वृत्ति का राज्य है, यह कथन तो नितान्त एकपक्षीय है। अभिनवगुप्त का कहना है कि वृत्ति पुरुषार्थसाधक व्यापार है। काव्य में कोई भी वर्णन व्यापारशून्य नहीं होता, इसलिए वृत्ति का साम्राज्य काव्य-जगत् मे निर्बाधरूप से है। वृत्ति को काव्य की माता कहने का यही स्वारस्य है—

तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः। स च सर्वत्र वर्ण्यते इत्यतो वृत्तिः काव्यस्य मातृका इति। न किञ्चित् व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति।

—अभिनवभारती।

परन्तु वृत्ति को काव्यक्षेत्र में सीमित कर देना उनके यथार्थ स्वरूप को न पहचानना है। अभिनवगुप्त की उक्ति है कि समग्र संसार ही चारों वृत्तियों

---

१ व्यासप्रोक्तेन मार्गेण कथयामि यथार्थतः।

—भावप्रकाशन पृ० ५५

से व्याप्त है[१]। वृत्तियाँ समस्त जीवलोक में व्याप्त होती हैं। हम नहीं कह सकते कि कब से जगत् का यह प्रवाह वृत्तियों का आश्रय लेकर चल रहा है[२]। संसार की समग्र क्रिया वृत्तिचतुष्टय से व्याप्त हो रही है[३]। वृत्ति के इस व्यापक क्षेत्र के अनन्तर काव्य और नाटक को उनका क्षेत्र मानना पुनरुक्तिमात्र है। अभिनवगुप्त का वृत्ति का परिचायक वाक्य यह है—

कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः

अर्थात् नाटक के पात्र तथा काव्य के नायक के काय, वचन और मन की विचित्रता से संवलित चेष्टा ही वृत्ति कही जाती है। इसका तात्पर्य यही है कि किसी अवस्थाविशेष मे रहनेवाले मनुष्य की कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टा या तत्तत् व्यापार वृत्तियाँ कहलाती हैं। अभिनवगुप्त की इस उक्ति का आश्रय लेकर कल्लिनाथ ने 'वृत्ति' का सुन्दर लक्षण संगीतरत्नाकर को व्याख्या में प्रस्तुत किया है—

वृत्तिर्नाम वाङ्मनःकायजा चेष्टा पुमर्थोपयोगिनीति सामान्यलक्षणम्।

भोजराज का वृत्ति-लक्षण भी व्यापक तथा रमणीय है—

या विकाशेऽथ विक्षेपे संकोचे विस्तरे तथा।
चेतसो वर्तयित्री स्यात् सा वृत्तिः········· ॥

—सर० कण्ठा० २। ३४

अवस्थाविशेषों मे मानव हृदय की चार प्रकार की दशा हुआ करती है। कभी वह सूर्यरश्मि के पड़ने पर कमल के समान विकसित होता है, कभी वह विक्षिप्त होकर एकाग्रता धारण नहीं कर सकता, कभी वह संकुचित हो जाता है, तो कभी वह विस्तार का अनुभव करता है। इन विभिन्न दशाओं

---

१ आस्तां काव्यार्थः, सर्वो हि संसारः वृत्तिचतुष्केन व्याप्तः।
—अभि० भारती

२ ताः समग्रलोकजीविन्यः। अनिदं प्रथमता प्रवृत्ताः प्रवाहेण वहन्ति। —वहीं

३ सर्वैव क्रिया वृत्तिचतुष्कव्याप्ता।
—वही

में चित्त के अनुकूल जो पात्रों का व्यवहार या वर्तन हुआ करता है वही वृत्ति कहलाता है। काव्य या नाटक 'त्रैलोक्यानुकरण' होता है। संसार के प्राणियों की जो दशा, जो अवस्था, जो वर्तन हुआ करता है उन्हींका अनुकरण तो नाट्य या काव्य है। संसार में हमारा यह प्रतिदिन का अनुभव है कि बाहरी दशा के परिवर्तन के साथ ही मानसिक दशा का भी परिवर्तन हो जाता है। अवस्था की भिन्नता के सग ही संग हमारे शरीर तथा मन दोनों में परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। किसी सबल के द्वारा निर्बल के ऊपर आघात होते देखकर हमारे चित्त मे क्रोध का भाव उदय लेता है और तदनुसार ही हमारा मुखमण्डल लाल हो उठता है; हमारी भृकुटि तन जाती है, नेत्रों मे लालिमा दौड़ जाती है, अधरपुट फड़कने लगते हैं। हमारी चेष्टा भी हमारे मानस भावों के अनुरूप होने लगती है। इस प्रकार इस विशिष्ट मानसिक दशा का वायुमण्डल ही विचित्र हो उठता है। यही वृत्ति हुई। इस लोकवृत्त का अनुकरण होता है नाट्य में, काव्य में तथा अन्य कलाओं में। इसी कारण प्रत्येक प्रकार का कथानक, प्रत्येक रस, प्रत्येक नायक और नायिका अपनी विशिष्ट वृत्तियाँ रखती हैं। उनकी अपनी खास वृत्ति होती है। इसीलिए आनन्दवर्धन वृत्ति को व्यापाररूप मानते हैं।

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते—ध्वन्या० ३। ३३।

दशरूपक के कर्त्ता धनञ्जय कहते हैं—तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः जिसकी धनिक की व्याख्या है 'प्रवृत्तिरूपः नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः'। तात्पर्य यह है कि नेता के व्यापार के अनुरूप ही वृत्ति का विधान होता है अर्थात् नाटक का प्रधान-पात्र जिस प्रकार की चेष्टाओं के द्वारा नाटक के नाना कार्यों में प्रवृत्त होता है उन्हीं चेष्टाओं को वृत्ति के नाम से पुकारते हैं। किसी नाटक का नायक शृङ्गारिक चेष्टाओं मे संलग्न दीख पड़ता है, तो अन्य नाटक का नेता शौर्य तथा वीर्य का प्रतीक बना हुआ सामरिक चेष्टितों से उद्दीप्त बना रहता है। इस प्रकार नायक के स्वभाव की भिन्नता के कारण वृत्तियों का विभेद होना भी स्वाभाविक है।

नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र का कहना है कि भरत ने वृत्तियों का जो निरूपण नाटक के प्रसङ्ग में किया है वह उपलक्षणमात्र है। वृत्ति

अभिनययोग्य काव्य के समान अभिनयहीन काव्य में भी हो सकती है। ऐसा कोई व्यापार नहीं है जो वृत्ति के आधार से शून्य हो। वृत्ति स्वयं चेष्टा-रूप ठहरी। अतः दृश्य काव्य में वर्णित पात्रों की चेष्टाओं के समान श्रव्य काव्य में निर्दिष्ट वर्णन या चेष्टायें भी उसी प्रकार वृत्तिरूप है। अतः वृत्ति का क्षेत्र व्यापक तथा विस्तृत है—

नाट्य इति प्रस्तावापेक्षम्। तेन अनभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद् वर्णनीयमस्ति।

—नाट्यदर्पण पृ० १५२

काव्य या नाटक का निर्माता कवि अपने हृदय को वृत्तियो से अभिभूत कर लेता है, तभी उसकी लेखनी काव्यरत्न को प्रसव करती है। जबतक लेखक रस की अवस्था-विशेषमयी वृत्तियों के द्वारा आक्रान्त नही हो जाता, वह कमनीय निर्माण नही कर सकता। इसी कारण भरतमुनि ने वृत्तियों को काव्य की तथा नाट्य की माता कहा है—

सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः।

—ना० शा० २०। ४

एवमेते बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः।

—वहीं २२। ६४

माता का अर्थ है जननी, उत्पन्न करने का मूल स्रोत। रामचन्द्र का कहना है कि वृत्तियाँ अभिनेयकाव्य की उत्पादिका होने से ही—माता के समान होने के कारण—मातायें कही जाती हैं। हृदय मे इनकी व्यवस्था होने पर ही काव्यकुमार का जन्म होता है।

नाट्यमातरः—नाट्यस्य अभिनेयकाव्यस्य मातर इव मातरः। आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन हृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते।

—नाट्यदर्पण पृ० १५२

रामचन्द्र की यह उक्ति अभिनवगुप्त की व्याख्या का अनुगमन करती है। इस प्रकार नाट्य या काव्य में वृत्ति का वैशिष्ट्य बहुत ही अधिक होता है।

वृत्तियों के भेद

वृत्तियाँ चार मानी गई हैं—(१) भारती (२) सात्त्वती (३) कैशिकी तथा (४) आरभटी। इन वृत्तियों में पहली अर्थात् भारती वृत्ति शब्दप्रधान है तथा शेष तीनो वृत्तियाँ अर्थप्रधान हैं। इसीलिए भारती 'शब्दवृत्ति' के नाम से तथा इतर तीनों वृत्तियाँ 'अर्थवृत्ति' के अभिधान से साहित्यशास्त्र में प्रसिद्ध हैं।

भारती वृत्ति—'भारती' शब्द की व्युत्पत्ति नाट्यग्रन्थो में विभिन्न प्रकार से की गई है। नाट्यशास्त्र में ही इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से उपलब्ध होती है (१) मधुकैटभ युद्ध के अवसर पर इन दोनों असुरो ने जिस वाक्-बहुला वाणी का प्रयोग किया उसीसे भारती वृत्ति का जन्म हुआ। इस प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि भारती अर्थात् वाणी (सरस्वती) से संबद्ध होने के कारण इस वृत्ति का यह नामकरण हुआ[1]। (२) मधुकैटभ के साथ संग्राम के अवसर पर भगवान् विष्णु ने पृथ्वी के ऊपर जोर से जो अपना पैर रक्खा उससे पृथ्वी के ऊपर अत्यन्त भार पड़ा और इसी **भार** से भारती वृत्ति का जन्म हुआ[2] (३) इस नामकरण की तीसरी व्युत्पत्ति धनञ्जय ने इस प्रकार की है:—भरत कहते हैं नट को। अतः नाटक मे भाग लेनेवाले इन्हीं नटों (भरतों) के वाग्विन्यास के ऊपर अवलम्बित होने के कारण इस वृत्ति का नाम भारती पड़ा[3]। (४) विश्वनाथ कविराज ने साहित्य-दर्पण में इसकी व्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए इसे "वाग् व्यापारो नराश्रयः" कहा है। वे इसे "नटाश्रयः" न कहकर "नराश्रयः" कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि

---

१ भाषतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति।
—ना० शा० २२।६

२ भूमिसंस्थानसंयोगैः पदन्यासैस्तदा हरेः।
अतिभारोऽभवद्भूमेः भारती तत्र निर्मिता॥
—वहीं २२।११

३ भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
—दशरूपक ३।५

उनकी सम्मति में पुरुष पात्रों के द्वारा जिस संस्कृतमयी वाणी का प्रयोग किया जाता है, उसीको भारतीवृत्ति कहते हैं[१]।

भारती वृत्ति की इन विभिन्न व्युत्पत्तियों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह वृत्ति सस्कृतमयी तथा वाग्प्रधाना है। भरतमुनि के अनुसार जिस वृत्ति में संस्कृत वाणी की बहुलता हो, जो पुरुषों के द्वारा प्रयोग में लाई गई हो, जो स्त्रियों से सर्वथा वर्जित हो, जो भरतों (नटों) के द्वारा सदा प्रयोज्य हो उसे भारती वृत्ति कहते हैं।

> या वाग्प्रधाना पुरुष-प्रयोज्या,
> स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
> स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता,
> सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥
>
> ना० शा० २२।२५

इस भारती वृत्ति के चार भेद होते हैं—(१) प्ररोचना (२) आमुख (३) वीथी (४) प्रहसन। इन भेदो के विशेष विवरण के लिये नाट्यशास्त्र का २२ वाँ अध्याय देखना चाहिए।

सात्वती वृत्ति—इस वृत्ति का नामकरण सत्त्व-शब्द के योग से हुआ है। सत्वशाली पुरुषों के द्वारा प्रयोज्य होने के कारण यह वृत्ति सात्त्वती नाम से अभिहित की जाती है। भरत के अनुसार इस वृत्ति मे सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, न्यायसम्पन्न वृत्त का विधान रहता है, हर्ष से यह उद्भट रहती है तथा इसमे शोक का सर्वथा अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि सच्चे बलशाली पुरुष की जो वीरभावात्मिका चेष्टायें होती हैं उन्हींका अवलम्बन कर इस सात्त्वती वृत्ति की स्थिति रहती है।

> या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता,
> न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।

---

१ भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।
—साहित्यदर्पण, ६ परि०

हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा,
सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

—ना० शा० २२।३८

इस वृत्ति में वीर, अद्भुत और रौद्ररसों की प्रचुरता रहती है और करुण तथा शृङ्गार की अल्पता पाई जाती है। उद्धत पुरुषों की इसमें प्रधानता होती है जो आपस में सङ्घर्ष द्वारा अपना कार्य अग्रसर करते हैं[1]। इस वृत्ति के भी चार अंग पाये जाते हैं (१) उत्थापक (२) परिवर्तक (३) संलापक (४) संघातक।

कैशिकी वृत्ति—कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति केश शब्द से स्पष्ट ही जान पड़ती है। इसीलिये भरतमुनि ने इस वृत्ति का संबंध भगवान् विष्णु के द्वारा केशपाश बाँधने से दिखलाया है। मधुकैटभ-युद्ध में भगवान् विष्णु ने इन दोनों असुरों से युद्ध करने के लिये जो अपना केशपाश बाँधा उसी से कैशिक वृत्ति आविर्भूत हुई। भरत ने इसका लक्षण बतलाते हुए लिखा है कि जो वृत्ति सुन्दर नेपथ्य के विधान से चित्रित हो, सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित हो, स्त्रियों से युक्त हो, जिसमें नाचने और गाने की बहुलता हो, जो काम के उपभोग से उत्पन्न उपचारों से सम्पन्न हो उसे ही कैशिकी नाम से पुकारा जाता है।

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा,
स्त्रीसंयुता या बहु-नृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा,
तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥

—ना० शा० २२।४७

इसके भी चार भेद माने गये हैं—(१) नर्म (२) नर्मस्फूर्ज (३) नर्म-स्फोट (४) नर्मगर्भ।

---

[1] वीराद्भुतरौद्ररसा, विज्ञेया ह्यल्पकरुणशृङ्गारा।
उद्धतपुरुषप्राया, परस्पराधर्षणकृता च ॥

—ना० शा० २२।४०

आरभटी वृत्ति—आरभटी वृत्ति की व्युत्पत्ति 'आरभट' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है साहसी तथा उद्धत पुरुष। इस नामकरण से ही इस वृत्ति के स्वरूप का निर्देश भली भाँति हो जाता है। इस की परिभाषा के सम्बध में नाट्यशास्त्र में लिखा है कि जिस वृत्ति में मायाजनित इन्द्रजाल का वर्णन हो, गिरने, कूदने, उछलने तथा लाँघने आदि की विचित्र योजना हो, उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं।

प्रस्तावपातप्लुतलङ्घितानि,
चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं,
तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥

—ना० शा० २२।५७

इसके भी चार भेद हैं[१]—(१) संक्षिप्तक (२) अवघातक (३) वस्तुस्थापन (४) संफेट

वृत्ति और रस

नाटक में वृत्तियों की योजना का प्रधान अभिप्राय दर्शकों के हृदय में रस तथा भाव का सचार करना होता है। नाट्य का प्रधान लक्ष्य रस का आविर्भाव है। नाटक में अन्य जितने कार्य हैं वे सब आनुषङ्गिक हैं। प्रधान फल की ओर सफल कवि की दृष्टि सदैव जागरूक रहती है। रसोन्मेषरूपी फल यदि सिद्ध नहीं होता, तो चित्रविचित्र सामग्रियों से सुसज्जित होने पर भी तथा अभिनय के आकर्षक होने पर भी वह नाटक दर्शकों के मन का न तो अनुरञ्जन कर सकता है और न अपने उद्देश्य की पूर्ति में ही सफलता लाभ कर सकता है। इसीलिये भरतमुनि ने वृत्तियों का संबंध विभिन्न रसों के साथ स्थापित कर दिया है।

कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृङ्गार तथा हास्यरस के प्रसङ्ग में किया जाता है। सात्त्वती का वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसोंमें, आरभटी का भयानक,

---

१ द्रष्टव्य दशरूपक २।५७

वीभत्स तथा रौद्ररसों में और भारती का करुण तथा अद्भुतरसो में प्रयोग किया जाता है। पिछले नाट्यकारों ने भी वृत्ति और रस के इस सामञ्जस्य को कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है:—

> शृङ्गारे चैव हास्ये च, वृत्तिः स्याद् कैशिकीति सा।
> सात्त्वती नाम सा ज्ञेया, वीररौद्राद्भुताश्रया ॥ ६५ ॥
> भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।
> भारती चापि विज्ञेया, करुणाद्भुतसंश्रया ॥ ६६
>
> ना० शा० २२।६५-६६

(२)

काव्य में वृत्तियाँ

अलंकारशास्त्र में हमें वृत्ति नामक अनेक प्रकार के काव्यतत्त्व मिलते हैं। वृत्ति का प्रयोग अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य तथा व्यञ्जना नामक शब्दवृत्तियों के लिए किया जाता है। इन वृत्तियों का क्षेत्र ही दूसरा है। अतः इनका विचार किसी अन्य परिच्छेद मे प्रसङ्गानुसार किया जायेगा। अलंकारशास्त्र मे शब्दवृत्ति को छोड़कर वृत्ति नाम से विख्यात तीन प्रकार के तत्त्व उपलब्ध होते हैं:—(१) अनुप्रास के प्रकार (अनुप्रास जाति) (२) समासयुक्त पदो का प्रकार (समास जाति) (३) भारती आदि पूर्वोक्त नाट्यवृत्ति। किसी समय में इन तीनों प्रकार की वृत्तियों की पृथक् सत्ता काव्य मे मानी जाती थी परन्तु धीरे धीरे अनुप्रासवृत्ति और समासवृत्ति तो भुला दी गई; शेप रही नाट्यवृत्ति। इसकी अलंकारशास्त्र मे अनेक शताब्दियों तक पृथक् सत्ता आचार्यों ने स्वीकृत की। परन्तु मम्मटाचार्य के समय (११ शतक) मे आकर इन वृत्तियों का प्रचलित रीतियो (वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली) के साथ समन्वय कर दिया गया। फलतः मम्मट के अनन्तर इन नाट्यवृत्तियों का वर्णन अलंकार के ग्रन्थों मे उपलब्ध नही होता।

अनुप्रास-जाति

भामह ने अपने काव्यालंकार के द्वितीय परिच्छेद मे (श्लोक ५-८) अनुप्रास के तीन प्रकारों का वर्णन किया है। उनके अनुसार **अनुप्रास** उसी वर्ण अथवा तत्सदृश वर्ण के आवर्तन या आवृत्ति को कहते हैं। इसके उदाहरण मे उन्होंने 'न्त' अक्षर के आवर्तनवाले पदो को उद्धृत किया है।

स्वरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते।
किन्तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम्।

—काव्यालंकार २।५

यहाँ 'किन्तया' तथा 'चिन्तया' मे 'न्त' की आवृत्ति है तथा 'कान्ते' और 'नितान्ते' मे 'न्ते' का आवर्तन है। स्वरवैषम्य पर ध्यान न देने से चारों पदों में 'न्त' की आवृत्ति नितान्त व्यक्त है। इसके अनन्तर उन्होंने **ग्राम्यानुप्रास** नामक अन्य आचार्यों के द्वारा स्वीकृत प्रभेद का वर्णन किया है तथा इसके उदाहरण मे लकार की पुनरावृत्तिवाले पदों को दिया है। यथा—**स लोलमाला नीलालिकुलाकुलगलो बलः**। इसके अनन्तर भामह ने एक तीसरे प्रकार का विवरण दिया है जिसका नाम उन्होने **लाटीय अनुप्रास** रक्खा है। इसका उदाहरण है—**दृष्टिं दृष्टिसुखां धेहि, चन्द्र-श्चन्द्रमुखोदितः** (२।८)। यहाँ दृष्टि तथा चन्द्र की दो बार आवृत्ति स्पष्टतः लक्षित होती है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि भामह ने तीन प्रकार के अनुप्रास माने हैं (१) अजातनाम अनुप्रास (२) ग्राम्य अनुप्रास (३) लाटानुप्रास। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज तथा तिलक ने इतने स्पष्ट भेद होने पर भी भामह के द्वारा स्वीकृत अनुप्रास भेद को दो प्रकार का ही माना है[१]:—(१) ग्राम्य अनुप्रास और (२) उपना गरिका अनुप्रास।

---

१ भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेव अनुप्रास व्याख्यातवान्।

—प्रतिहारेन्दुराज

भामहो हि द्विविध रूपकं अनुप्रासञ्च अवादीत्।

—तिलक—काव्यालकारसारटीका

उद्भट

उद्भट ने अनुप्रास के तीन प्रकार बतलाये है। (१) छेकानुप्रास (२) वृत्त्यनुप्रास (३) लाटानुप्रास। इन तीनों मे अन्तिम प्रभेद भामह में पूर्णतः उपलब्ध होता है। द्वितीय प्रभेद भामह मे अंशतः मिलता है और पहला भेद नितान्त नवीन है तथा अलंकारशास्त्र मे सर्वप्रथम उद्भट के द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है। द्वितीय प्रभेद के वर्णन करते समय उद्भट ने तीन प्रकार की वृत्तियों का वर्णन किया है:—(१) परुषा (२) उपनागरिका (३) ग्राम्या। इन तीनों वृत्तियो मे जो अनुप्रास होते हैं वे इन्हीके नाम पर 'परुषानुप्रास' उपनागरिकानुप्रास' तथा 'ग्राम्यानुप्रास' कहे जाते हैं।

(१) ग्राम्या

प्रथम दोनो प्रकारो के अनुप्रासो से भिन्न लकारआदि वर्णों की सत्तावाला अनुप्रास इस नाम से अभिहित किया जाता है। यथा—

केलिलोलालिमालानां कलैः कोलाहलैः क्वचित्।
कुर्वती काननारूढ—श्रीनूपुररवभ्रमम्॥

इस पद्य मे लकार, ककार तथा रेफ की आवृत्ति स्फुटतया विद्यमान है। यह अनुप्रासभेद भामह के द्वारा निर्दिष्ट भेद के समान ही है। उदाहरण में भी वही लकार की बहुलता है। इसी वृत्ति का दूसरा नाम है—कोमला। कोमलाक्षरों की सत्ता ही इस नामकरण का कारण है। इस वृत्तिवाले अनुप्रास की अन्वर्थक संज्ञा है—कोमलानुप्रास।

(२) उपनागरिकावृत्ति

इसमें वर्ग को छोड़कर प्रत्येक टवर्ग के पञ्चम अक्षर के साथ उसी वर्ग के अन्य वर्णो के संयोग का सन्निवेश रहता है[१] जैसे ङ्क, ञ्च, न्त, म्प आदि। उद्भट ने इसके उदाहरण में 'न्द' वर्ण की पुनरावृत्ति की है।

---

१ स्वरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः॥

—उद्भट १।५

सान्द्रारविन्द वृन्दोत्थ मकरन्दाम्बु विन्दुभिः ।
स्यन्दिभिः सुन्दरस्पन्दं नन्दितेन्दिर्न्दिरा क्वचित ॥

प्रतीत होता है कि भामह को भी यह भेद अभीष्ट था। भामह के द्वारा उल्लिखित अनुप्रास का प्रथम भेद जिसका नामोल्लेख उन्होंने नहीं किया है यही है। दोनों के उदाहरण बिल्कुल मिलते हैं। भामह ने 'न्त' की आवृत्ति दिखलाई है, उद्भट ने 'न्द' को। बात एक ही है। इसी प्रभेद को लक्ष्य करके प्रतिहारेन्दुराज का कहना है कि भामह ने ग्राम्या तथा उपनागरिका वृत्तियों मे दो प्रकार के अनुप्रास-भेद स्वीकार किये हैं। इस प्रकार से उपनागरिका तथा ग्राम्या—ये दोनों अनुप्रासवृत्तियाँ अलंकारशास्त्र मे सबसे प्रथम उद्भूत हुईं और इसका श्रेय आलकारिक-मूर्धन्य भामह को है। इन दोनों वृत्तियों का नामकरण भी एक दूसरे को लक्ष्य कर ही किया गया है। उपनागरिका वृत्ति नगर की चतुर, सयानी, तथा विदग्ध वनिता के सुकुमार वाक्यावली के समान होने से उपनागरिका कही जाती है[1], तो कोमल वर्णविन्यास से युक्त कोमला वृत्ति ग्रामीण नारियों की स्वाभाविक, श्रुति-मधुर पदावली के अनुरूप होने के कारण ग्राम्या कही जाती है। इस विचित्र नामकरण का यही रहस्य है।

(३) परुषा वृत्ति

परुषावृत्ति आचार्य उद्भट की नवीन उद्भावना है, इसमे रेफ, स, श, ष वर्णो की, टवर्ग का तथा रेफ के साथ मिश्रण होकर संयुक्त वर्णों की बहुलता पाई जाती है—

शषाभ्यां रेफसयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्ह्याद्यैश्च सयुता ॥

—उद्भट १।४

---

१ "एषा खलु नागरिकया वैदग्धीजुषा वनितया उपमीयते तत् उपनागरिका। नागरिकया उपमिता उपनागरिकेति।"

—प्रतिहारेन्दुराज काव्यालंकारसारसंग्रह की वृत्ति पृ० ५

उदाहरण के द्वारा इसका रूप परखा जा सकता है—

तत्र तोयाशयाशेषव्याकोशित—कुशेशया ।
चकाशे शालिकिशारु कपिशाशामुखा शरत् ॥

इन वृत्तियों का विधान रस को लक्ष्य करके ही किया जाता है। परुषावृत्ति मे कर्णकटु और कठोर वर्णो का विन्यास रहता है और वह वीर तथा रौद्ररसो के नितान्त अनुरूप रहती है। सुकुमार तथा कोमलवर्ण-विन्यास से सम्पन्न होने के कारण उपनागरिका तथा ग्राम्यावृत्ति शृङ्गार-रस के सर्वथा अनुकूल हैं। रसानुगुण वर्णों से लक्षित होने के कारण ही इन वृत्तियों का वृत्तित्व है। इस प्रसङ्ग मे प्रतिहारेन्दुराज का यह कथन नितान्त उपयुक्त है:—

"अतस्तावद् वृत्तयो रसाभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिकाः, प्रथममभिधीयन्ते। ताश्च तिस्रः, परुषोपनागरिका ग्राम्यत्वभेदात्"।

—उद्भटवृत्ति पृ० ४

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धनाचार्य और उनके टीकाकार अभिनवगुप्त ने वृत्तियो के सम्बन्ध में अत्यन्त मौलिक सिद्धान्तों की उद्भावना की है। आनन्दवर्धन दोनों प्रकार की वृत्तियों—अनुप्रासजाति तथा नाट्यवृत्ति—से परिचय रखते हैं। उद्भट के द्वारा वर्णित पूर्वोक्त तीनों वृत्तियो का निर्देश उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रथम उद्योत मे अभाववादियो के सिद्धान्तो को प्रदर्शित करते समय किया है। वे उपनागरिका आदि वृत्तियों को 'संघटना' के धर्मविशेष-रूप माधुर्यादि गुणो से भिन्न नही मानते। इसीलिए उन्होंने काव्य में इनकी पृथक् सत्ता स्वीकृत नही की है[१]।

(१) वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्त-वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवण-गोचरम्।

ध्वन्यालोक, पृ० ५।६

आनन्दवर्धन ने 'वृत्ति' के द्विविधरूप से अपना परिचय व्यक्त किया है। उनका कहना है कि काव्य मे दोनो प्रकार की वृत्तियो का उपयोग किया जाता है:—(१) कैशिकी आदि नाट्यवृत्तियों का (२) परुषा आदि अनुप्रास-जातियों का। इनमें से पहली रस के अनुगुण, औचित्ययुक्त अर्थरूप हैं तथा दूसरी रस के अनुगुण शब्दरूप हैं। शब्द तथा अर्थ के समान सन्निवेश को ही तो काव्य कहते हैं। इनमें रस के अनुकूल अर्थ का सन्निवेश कैशिकी आदि वृत्तियों से अभिहित किया जाता है तथा रस के अनुकूल शब्द का व्यवहार उपनागरिका आदि नामों से पुकारा जाता है[1]। रसानुकूल होने में ही वृत्तियों का वृत्तित्व है। इसी विषय के प्रसङ्ग में ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) ने स्पष्ट ही लिखा है कि उपनागरिका आदि वृत्तियाँ शब्दतत्त्व के ऊपर आश्रित रहती हैं तथा कैशिकी आदि वृत्तियाँ अर्थतत्त्व पर आश्रित रहती हैं।

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिद् अर्थतत्त्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे॥

—ध्वन्या० ३।४८

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने उभय प्रकार की वृत्तियों का काव्य में समुचित रीति से समावेश दिखलाया है। उनकी सम्मति में कैशिकी आदि वृत्तियाँ रसानुगुण अर्थव्यवहार रूप हैं तथा उपनागरिका अनुप्रासजातियाँ रसानुगुण शब्दव्यवहार रूप हैं। दोनों वृत्तियों का यह सामञ्जस्य काव्य में एक अनुपम वस्तु है[2]। आनन्दवर्धन भरतप्रतिपादित नाट्यवृत्तियों तथा

---

१ रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥

—ध्वन्यालोक ३।३३

२ व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो व्यवहारः, ता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्याः। वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिताः कामपि काव्यस्य नाट्यस्य च छायामावहन्ति।

उद्भटनिर्दिष्ट अनुप्रासजातियों से नितान्त परिचित हैं। वे नाट्यवृत्तियों को अर्थव्यवहाररूप मानते हैं क्योंकि इनका प्रादुर्भाव वर्णनीय अर्थ की विशिष्टता पर अवलम्बित रहता है। अनुप्रासजातियों को उद्भट ने **'रसानुगुण वर्णव्यवहार'** अर्थात् रस के अनुकूल वर्णों का व्यवहार माना है। ये ही जातियाँ आनन्दवर्धन की दृष्टि मे व्यापक रूप धारण कर **'रसानुगुण शब्द-व्यवहार'** बन जाती हैं। जो पहिले **'वर्णव्यवहार'** रूप थीं, अब वे ही **'शब्दव्यवहार'** रूप बन गईं।

अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक के पूर्वोक्त प्रसगो की व्याख्या के अवसर पर अभिनवगुप्त ने वृत्तियों के विषय मे अनेक ज्ञातव्य बातें दी हैं। उनका कथन है कि अनुप्रास भेदों के आश्रय होने के कारण ही वृत्तियों का यह नाम-करण हुआ है। वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति यह है—**वर्तन्ते अनुप्रासभेदाः आसु इति वृत्तयः**—अर्थात् जिनमे अनुप्रास के भेद वर्तमान हों उन्हें वृत्तियाँ कहते हैं। उद्भट के द्वारा वर्णित वृत्तियों के स्वरूप का विवेचन इन्होंने बड़े विस्तार के साथ किया है। वे रीति और वृत्ति को गुण से पृथक् नही मानते[१]।

अनुप्रास तीन प्रकार के होते हैं—(१) **परुष अनुप्रास**—जिसका प्रयोग दीप्त वस्तु के वर्णन के प्रसङ्ग मे किया जाता है। इस प्रकार परुषा वृत्ति वीर, रौद्र, तथा वीभत्स रसों के सर्वथा अनुकूल है तथा आरभटीवृत्ति के साथ इसका पूर्ण सामञ्जस्य है। (२) **मसृण अनुप्रास**—उपनागरिका-वृत्ति—इसका प्रयोग ललित विषय के वर्णन में किया जाता है। (३) **मध्यम अनुप्रास**—ग्राम्या या कोमलावृत्ति—इसका प्रयोग कोमल विषय के अवसर पर किया जाता है। इनमे उपनागरिकावृत्ति का प्रयोग श्रृङ्गाररस

---

१ नैव वृत्तिरीतीनां गुणव्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथाहि अनुप्रासानामेव दीप्त-मसृण-मध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः।

—लोचन पृ० ५-६

मे होता है तथा कोमला वृत्ति का हास्यरस में व्यवहार किया जाता है। वृत्तियाँ रसोचित व्यवहाररूप हैं।

उपनागरिका वृत्ति नागरिका अर्थात् नगर की निवासिनी चतुर रमणी के वाग्विलास के समान होने के कारण ही इस नाम से अभिहित की जाती है। यह शृङ्गार आदि रसों मे विश्राम करती है। **परुषा** वृत्ति दीप्ता भी कही जाती है। अतः उसका निवास है वह रस (रौद्र आदि) जिसमें चित्तवृत्ति दीप्त होकर स्फूर्ति धारण करती है। **कोमला** स्वभावतः कोमल होने के कारण हास्य आदि कोमल रसों के लिए उचित होती है। मुनि वृत्तियों को काव्य की माता मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि भरतमुनि रसोचित चेष्टा विशेष को ही वृत्ति स्वीकार करते हैः—

नागरिकया उपमिता अनुप्रासवृत्तिः शृङ्गारादौ विश्राम्यति। परुषा दीप्तेषु रौद्रादिषु। कोमले हास्यादौ। तथा 'वृत्तयः काव्यमातरः' इति यदुक्त मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः॥

—लोचन पृ० २३२, ३ उद्योत

इस प्रकार आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त दोनों आचार्यों ने दोनों प्रकार की वृत्तियों को काव्य का सौन्दर्यसाधन माना है। अन्तर इतना ही है कि वे इन वृत्तियों में सूक्ष्म भेद मानते हैं। वृत्तियाँ द्विविध होती हैं—

(१) अर्थवृत्ति और (२) शब्दवृत्ति। इनमें अर्थवृत्तियाँ वे ही चार हैं जिनका भरत ने विशेषरूप से वर्णन किया है तथा जो नाटकों मे कैशिकी आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। शब्द-वृत्तियाँ संख्या मे तीन हैं (१) उपनागरिका (२) परुषा तथा (३) कोमला।

मम्मट

अनुप्रासजातियो के साथ रीतियों का क्या सम्बन्ध है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। आनन्दवर्धन ने वृत्तियो के साथ साथ रीतियों को भी काव्य का आवश्यक अंग माना है। जिस प्रकार माधुर्य्यादि गुणों के ऊपर वृत्तियाँ अवलम्बित रहती हैं, उसी प्रकार उन्ही के ऊपर रीतियाँ भी आश्रित रहती हैं। परन्तु ये दोनो हैं भिन्न काव्याङ्ग। इनके स्वरूपों का पृथक् विवेचन ही इनकी विभिन्नता का पर्याप्त परिचायक है। परन्तु ध्वनिकार ने आगे चलकर ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत मे वृत्तियों को जो "रसानुगुण शब्दव्यवहार" रूप माना है उससे रीति का आधार ही छिन्नभिन्न हो जाता है। अर्थात् दोनो का स्वरूप एक समान ही सिद्ध हो जाता है। वृत्ति का जो रूप है रीति भी तद्रूप ही हो जाती है। अतः जब हम आचार्य मम्मट को वृत्तियों का रीतियों के साथ समीकरण करते हुए पाते हैं तब हमें विशेष आश्चर्य नही होता। मम्मट से पूर्व वृत्तियों की सत्ता रीतियों से पृथक् थी। अनुप्रासालंकार के भेद होने के कारण वृत्तियो का क्षेत्र आनन्दवर्धन से पूर्व अत्यन्त सकुचित था। अतः ऐसी स्थिति में ध्वनिकार ने वृत्तियों का 'रसानुगुण शब्दव्यवहार' रूप देकर इनके क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत कर दिया। फलतः वृत्तियों और रीतियों का परस्पर विभेद जाता रहा। ध्वनिशास्त्र के परम मर्मज्ञ मम्मटाचार्य ने आनन्दवर्धन के इस अभिप्राय को समझकर वृत्तियों को रीतियो के साथ अभिन्न मानकर उन दोनों को मिला दिया।

मम्मट के अनुसार अनुप्रास दो प्रकार के हैं (१) छेक और (२) वृत्ति। 'वृत्ति अनुप्रास' रस के अनुकूल वर्णों का मनोरम सन्निवेश ही है—

"वृत्तिर्नियत वर्णगतो रसविषयो व्यापारः।"

(का० प्र० उल्लास ६)

वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं[1] (१) उपनागरिका—जिसमें माधुर्य के अभिव्यञ्जक वर्णों की संघटना रहती है। (२) परुषा—जिसमें ओजगुण

---

१ माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकेष्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा, कोमला परैः।
—का० प्र० ९। ३

के प्रकाशक अक्षरों की रचना रहती है (३) कोमला—जिसमे पूर्व वर्णों से भिन्न वर्णों का निवेश रहता है। मम्मट की सम्मति मे ये ही वृत्तियाँ रीतियों के नाम से अभिहित की जाती हैं[१]। वृत्तियों का रीतियों मे अन्तर्भाव निम्नाकित रूप से है।

उपनागरिका वृत्ति = वैदर्भी रीति
परुषा „ = गौडी रीति
कोमला „ = पाञ्चाली रीति

भोज

वृत्तियो के विषय मे भोजराज का एक अलग ही तीसरा मार्ग है। भोज प्राचीन अलकारजातियों को स्वीकार करते हैं परन्तु वे परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या के नामों को तिरस्कृत कर नवीन नामो की उद्भावना करते हैं। इसके साथ ही उन्होंने तीन वृत्तियों के साथ नव और नवीन वृत्तियाँ जोडकर बारह वृत्तियों की कल्पना की है तथा उनका विस्तार के साथ वर्णन किया है। मुख्यरूप से वृत्तियाँ तो तीन है जिनके सौकुमार्य, प्रौढ़ि तथा मध्यमत्व गुण पाये जाते हैं। भोज की द्वादश वृत्तियों के नाम ये हैं—(१) गंभीरा (२) ओजस्विनी, (३) प्रौढ़ा (४) मधुरा (५) निष्ठुरा (६) श्लथा (७) कठोरा (८) कोमला (९) मिश्रा (१०) परुषा (११) ललिता और (१२) भिता। इनमे कोमला, परुषा, तथा ललिता तो सुप्रसिद्ध प्राचीन वृत्तियों के ही नामान्तर हैं जिन्हे भोज ने अपनाया है। भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण मे इनका उदाहरण के साथ वर्णन किया है। परन्तु अन्त में फिर उन्होने उसका खण्डन कर दिया है। वे इन वृत्तियो को

---

१ केषाञ्चिदेता वैदर्भी—प्रमुखा रीतियो मताः ।
एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीना मते वैदर्भी गौडीया पाञ्चाल्याख्या रीतय उच्यन्ते। का० प्र० ९। ४
एतेन रीतयो वृत्त्यात्मका इत्यर्थः—माणिक्यचन्द्र।

सौकुमार्यादि गुणो से अथवा कैशिकी आदि वृत्तियो से पृथक् नहीं मानते। इन्हींमें उनका अन्तर्भाव हो जाने के कारण भोज ने इन वृत्तियों की पृथक् सत्ता स्वीकृत नही की है। :—

इति द्वादशधा वृत्तिः कैश्चित् या कथितेह सा।
न गुणेभ्यः न वृत्तिभ्यः, पृथक्त्वेनावभासते॥
(सर० कण्ठा० २। ८७)

समता-सौकुमार्यादिगुणेषु भारती-प्रभृतिषु
वृत्तिषु यथायथमन्तर्भावो अवगन्तव्यः।

—रत्नेश्वर

इसके अतिरिक्त भोजराज ने बारह प्रकार की अनुप्रासवृत्तियाँ या जातियाँ और मानी हैं (१) कर्णाटी (२) कौन्तली (३) कङ्की (४) कोकणी (५) बाणवासिका (६) द्राविणी (७) माथुर (८) मात्सी (९) मागधी (१०) ताम्रलिप्तिका (११) औड्री (१२) पौण्ड्री। इन वृत्तियो का नाम-करण भौगोलिक आधार पर हुआ है। पीछे के आचार्यों ने इन वृत्तियों का उल्लेख तक नही किया है। भोजराज ने नाट्यवृत्तियों की संख्या में भी नवीन उद्भावना कर वृद्धि की है। प्राचीन चार नाट्यवृत्तियो मे उन्होंने दो वृत्तियाँ और जोड़ी हैं जिनके नाम 'मध्यमकैशिकी' और 'मध्यम आरभटी हैं'। रीतियों में भी नवीन कल्पना उन्होंने इनकी संख्या छः मानी है। इनकी इन नवीन रीति के नाम आवन्तिका तथा मागधी है। इन दोनों को वे दो प्रकार का शब्दालंकार स्वीकार करते हैं[1]।

१; सरस्वतीकण्ठाभरण अध्याय २। पृष्ठ १३५-१३६

रुद्रट

(१) रुद्रट के वृत्तिविषयक विचार अनेक अंशो मे नवीन हैं। इन्होंने वृत्ति की एक नवीन परिभाषा की है। उनकी सम्मति में समासयुक्त पदों की सघटना को **वृत्ति** कहते हैं। वृत्ति की इस नूतन कल्पना के लिये वे बाणभट्ट के ऋणी हैं। बाणभट्ट ने कादम्बरी में वृत्ति के इस नवीन अर्थ की ओर सकेत किया है:—**असमस्तपदवृत्तिमिव अद्वन्द्वाम्**। रुद्रट के अनुसार यह वृत्ति दो प्रकार की होती है[१]:—(१) **असमस्ता**—जिसमें समास से रहित पदों की सत्ता रहती है (२) **समस्ता**—जिसमें समासयुक्त पदों का प्रयोग रहता है। असमस्तवृत्ति एक ही प्रकार की होती है और इसीका प्रचलित नाम वैदर्भी रीति है[२]। समस्तावृत्ति तीन प्रकार की होती हैं[३] — (१) पाञ्चाली (२) लाटीया और (३) गौड़ीया। समासों की अधिकता या न्यूनता ही इस नामकरण का मूल आधार है। पाञ्चाली मे केवल दो, तीन समासयुक्त पद रहते हैं और लाटीया मे पाँच या सात। गौड़ीया वृत्ति में समासों की प्रचुरता रहती है। इसमे यथाशक्ति समासवाले पदों का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार रुद्रट ने वृत्ति को रीति का ही एक पर्यायमात्र माना है। प्राचीनों ने रीतियों के स्वरूप का विवेचन जिस प्रकार किया है, रुद्रट ने भी उसे स्वीकार किया है। केवल समास को आधार मानकर उन्होंने यह नवीन वर्गीकरण किया है।

---

१ नाम्ना वृत्तिर्द्वेधाभवति समासासमासभेदेन।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः॥
काव्यालंकार २।३

२ वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।
वही २।६

३ पाञ्चाली लाटीया गौड़ीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतिवरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥
द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया॥
वही २।४-५

(२) रुद्रट अनुप्रासजातियों से भी भलीभाँति परिचित हैं।[1] उन्होंने तीन अनुप्रासवृत्तियों के स्थान पर पाँच अनुप्रासजातियों की उद्भावना की है। उपनागरिका आदि प्राचीन नामों का सर्वथा तिरस्कार कर उन्होंने नवीन नामकरण किया है। उनकी पाँच वृत्तियों के नाम ये हैं[1]—(१) मधुरा (२) प्रौढ़ा (३) परुषा (४) ललिता (५) भद्रा।

> मधुरा प्रौढ़ा परुषा, ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
> वर्णानां नानात्वात्, अस्येति यथार्थनामफलाः॥

काव्यालंकार २।१६

इस श्लोक की टीका में टीकाकार नमिसाधु ने हरि नामक किसी विद्वान् के द्वारा उल्लिखित आठ वृत्तियों का उल्लेख इस प्राकृत गाथा में किया है।

> महुरं फरुसं कोमलमोजस्सिं निठ्ठुरं च ललियं च।
> गभीरं सामण्णं च अट्ठभणिति उनायव्वा॥

वही २।१६ की टीका

ये आचार्य हरि कौन थे? इसका पता नहीं चलता। ये आलंकारिक थे या कवि? इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। परन्तु इस वर्गीकरण की महत्ता इसलिये अत्यधिक है कि भोजराज ने इन्हीं आठ वृत्तियों को पल्लवित कर इनके ऊपर निर्दिष्ट बारह भेद कर दिये हैं। ये आठ भेद तो वर्तमान ही हैं। इनमें भोजराज ने अपना चार प्रकार का वृत्तियों का नवीन भेद और जोड़ दिया है। इस प्रकार हरि की यह गाथा रुद्रट और भोजराज के वृत्तिसंबंधी सिद्धान्तों को जोड़नेवाली शृङ्खला के समान है।

(३) वृत्तियों के प्रयोग के विषय में भी रुद्रट एक विज्ञ आलोचक की तरह विवेचन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनका कहना है कि इन वृत्तियों का प्रयोग अर्थ के औचित्य का पूरा विचार कर ही करना चाहिए। विषय तथा पात्र के अनुरूप कभी दीर्घ अक्षर एवं कभी अल्प अक्षर का

---

१ लक्षण और उदाहरण के लिए द्रष्टव्य रुद्रट—काव्यालंकार २।२०-३१

प्रयोग करना चाहिए। एक ही वृत्ति का प्रयोग किसी रचना में सदा ही नहीं करना चाहिए। स्थानविशेष पर उसे ग्रहण करना चाहिए तथा अन्य स्थान पर उसे छोड़ देना चाहिए। इससे बढ़कर विवेकपूर्ण आलोचना दूसरी नहीं हो सकती।

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥

—काव्यालंकार २। ३२

विद्यानाथ

विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' मे नाट्यवृत्तियों का विशद विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कैशिकी और आरभटी ही दो परस्परविरुद्ध वृत्तियाँ हैं। कैशिकी मे अर्थ की मृदुता रहती है और आरभटी मे अर्थ की प्रौढि। भारती वृत्ति कैशिकी वृत्ति के साथ साम्य रखती है क्योंकि वह स्वभावतः ईषत् मृदु (कुछ मधुर) अर्थों का प्रतिपादन करती है। ईषत् प्रौढ़ अर्थ के प्रतिपादक होने से सात्त्वती वृत्ति का झुकाव आरभटी वृत्ति की ओर है। विद्यानाथ ने इन वृत्तियों का विश्लेषण रस की दृष्टि से इस प्रकार किया है।:—

कैशिकी = शृङ्गार और करुणरस
आरभटी = रौद्र और बीभत्स
भारती = हास्य, शान्त और अद्भुत
सात्त्वती = वीर और भयानक

विद्यानाथ ने भोज की नवीन दोनों वृत्तियों—मध्यम कैशिकी और मध्यम आरभटी—को स्वीकार किया है और इन दोनो को वे सब रसों के अनुकूल मानते हैं[1]।

---

1 प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ४३—४५
(बालमनोरमा संस्करण)

जगन्नाथ

मम्मट के अनन्तर वृत्तियों और रीतियो मे भेद दूर हो गया और काव्य-जगत् में अलंकार-जाति के रूप मे वृत्तियाँ सदा के लिये विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गईं। यह विस्मृति का आवरण इतना घना हो गया कि पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आलोचक वैदर्भी को रीति के साथ ही वृत्ति के नाम से भी पुकारने लगे। इन्होंने अपने रसगङ्गाधर के प्रथम आनन में वैदर्भी को वृत्ति नाम से अभिहित किया है[1] :—

> एभिर्विशेषविषयैः सामान्यैरपि च दूषणै रहिता।
> माधुर्यभारभङ्गुरसुन्दरपदवर्णविन्यासा ॥
> व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातुर्या प्रसादयुता।
> तां विबुधा वैदर्भी वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥
> अस्याश्च रीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन
> भाव्यम्। अन्यथा तु परिपाक—भङ्गः स्यात्।

जगन्नाथ जैसा आलोचक एक ही प्रसङ्ग मे वैदर्भी को वृत्ति बतलाता है और साथ ही साथ उसे रीति कहने से भी वह विरत नहीं होता। इसका निष्कर्ष यही है कि ध्वनिकार की आलोचना इतनी मार्मिक तथा व्यापक हुई कि वृत्ति की रीति से पृथक् सत्ता ही लुप्त हो गई। ये दोनों काव्यतत्त्व एक साथ घुल मिल कर काव्य के समान रूपेण एकाकार सौन्दर्य साधन बन गये।

उपसंहार

वृत्तियों के इस ऐतिहासिक विवरण से अनेक महत्त्वपूर्ण बाते सिद्ध होती हैं। वृत्ति नाम के तीन काव्यसिद्धान्त भिन्न भिन्न समयों में आलोचकों के द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। कैशिकी, भारती, सात्त्वती तथा आरभटी—ये चार वृत्तियाँ नाटक के प्रसंग मे प्रथम बार स्पष्टरूप से प्रतिपादित की गई हैं। उपयोगी समझ कर आलकारिकों ने काव्य में भी इन वृत्तियों का प्रयोग किञ्चित् विशेषता के साथ स्वीकार किया। अनुप्रास के रसानुकूल वर्ण सन्निवेश को भी वृत्ति नाम से अभिहित किया जाता था। भामह में केवल

१ रसगगाधर पृ० ७३ (निर्णयसागर संस्करण)

इसका गूढ सकेतमात्र है। परन्तु उनके टीकाकार भट्ट उद्भट ने इन अनुप्रास-जातियों का पहली बार समुचित विवरण प्रस्तुत किया है। रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त,—इन तीनो आलकारिको के ग्रन्थो मे रीति के साथ इस वृत्ति की भी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत की गई है। मम्मट ने दोनो का समीकरण नियत कर वृत्तियों को रीतियों के तद्रूप माना है। हेमचन्द्र के अनन्तर किसी भी आलकारिक ने इन वृत्तियों का उल्लेख नही किया है। पण्डित-राज जगन्नाथ ने तो वैदर्भी रीति को वैदर्भी वृत्ति के नाम से पुकारा है।

नाट्यवृत्ति और रीति—इन दोनो काव्यतत्त्वो को आलकारिकों ने काव्य में समानभाव से उपादेय तथा ग्राह्य माना है। कैशिकी आदि वृत्तियाँ काव्य मे रसानुगुण **अर्थ-सन्दर्भ** रूप हैं, तो वैदर्भी आदि रीतियाँ रसानुगुण **शब्द-सन्दर्भ** रूप हैं। पहली मे रस को उत्कर्ष पहुँचानेवाले अर्थो की द्योतना की जाती है, तो दूसरी मे रस के अनुकूल शब्दो का विन्यास कवि का प्रधान लक्ष्य होता है। नाट्य मे भारती वृत्ति शब्दप्रधान मानी गई है। परन्तु काव्य मे अवतीर्ण होने पर यह भी अन्य तीनों वृत्तियों के समान ही अर्थवृत्तिरूप ही मानी गई है। इस प्रकार रीतियो तथा वृत्तियों का परस्पर सादृश्य तथा सौहार्द है। कोमलता तथा माधुर्य से समन्वित होने के कारण कैशिकी वृत्ति का वैदर्भी रीति की ओर स्वाभाविक आकर्षण है। उद्धत होने के कारण आरभटी वृत्त गौड़ी रीति के साथ नैसर्गिक मैत्री रखती है। इस प्रकार काव्य में रीतियों तथा वृत्तियों के मञ्जुल सामञ्जस्य होने से वह चमत्कार तथा आकर्षण उत्पन्न होता है जिससे वह काव्य सहृदयों के मनोजरन करने में सर्वथा समर्थ होता है।

(३)

नाट्य में वृत्तियाँ

वृत्तियों का उदय नाटक के ही प्रसङ्ग मे प्रथमतः हुआ था। इसक सामान्य परिचय इस परिच्छेद के आरम्भ मे दिया गया है। अब विशिष्ट विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। वृत्तियों के स्वरूपनिर्देश से स्पष्ट है कि उनकी सख्या अनन्त होनी चाहिए। वृत्तियाँ नाटक के वस्तु, रस तथा पात्र से सम्बद्ध होने के कारण अवश्य ही संख्यातीत होती हैं और इसलिए

उनका विभाजन असंभव ही है, तथापि व्यवहारदृष्ट्या उनका विभाजन किया गया है और यह विभाजन उचित ही है। रीतियों और प्रवृत्तियो की भी तो यही दशा है। कवि के स्वभाव पर आश्रित होने के कारण रीतियाँ अनन्त हैं और इसी प्रकार देश के वेश, भूषा तथा सज्जा के ऊपर अवलम्बित होनेवाली प्रवृत्तियाँ भी अनन्त हैं। इस बात को भरत[1] तथा राजशेखर[2] ने स्पष्टतः स्वीकार किया है, तथापि उनका भी विभाजन साध्य है और किया ही गया है। इसी प्रकार वृत्तियों की भी वस्तुतः संख्या नहीं है, तथापि नाट्याचार्य भरत ने उनकी संख्या चार ही नियत कर दी है। नाट्य-वृत्तियाँ चार हैं—(१) भारती, (२) कैशिकी, (३) सात्त्वती, (४) आरभटी। इनके स्वभाव पर दृष्टिपात करने से नाट्य में इस वृत्तिचतुष्टय की व्यापकता की सूचना भलीभाँति मिल सकती है।

विचार करने पर हम यही कह सकते हैं कि नाट्य मे चार ही वृत्तियाँ हो सकती हैं। नाट्य है क्या? वचन तथा चेष्टा का सम्मिलन। रंगमंच के ऊपर उपस्थित होकर नट वचनों के द्वारा अपने मनोगत अभिप्राय का प्रकाशन करता है और नानाप्रकार की चेष्टायें दिखला कर अपने भाव-प्रकाशन को स्पष्ट तथा पुष्ट करता है। वचन से सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति को **भारती** कहते हैं। भारती का एक अर्थ होता है—सरस्वती। अतः वाग्-चेष्टा की आश्रित वृत्ति का नाम भारती उचित ही है। चेष्टा भी दो प्रकार की हुई—सात्त्विक अभिनय और आङ्गिक अभिनय। एक चेष्टा होगी मन की तथा दूसरी होगी अंगों की। सात्त्विक अभिनय नट के हृदयगत भावों की पर्याप्तरूपेण अभिव्यक्ति करता है। यह अभिनय सूक्ष्म तथा गूढ भावों

---

१ यथा पृथिव्या बहवो देशाः सन्ति.........
नानादेशवेषभाषाचारो लोक इति कृत्वा लोकानुमतेऽनुवृत्ति-संश्रितस्य नाट्यस्य मया चतुर्विधत्वमभिहितम्।
—ना० शा० पृ० १६५

२ चतुष्टयी गतिः प्रवृत्तीनां च। देशाना पुनरानन्त्यम्। तत् कथमिव कार्त्स्न्येन परिग्रह इत्याचार्याः? अनन्तानपि देशान् चतुर्धैव आकल्प्य कल्पयन्ति। काव्यमीमांसा

के प्रकाशन मे समर्थ होता है। यह हुई सात्त्वती वृत्ति। इसके अतिरिक्त नट अपने अंगो के संचालन तथा चेष्टा की अपना अभिप्राय प्रकाशन मे सहायता लेता है— यह हुआ आंगिक अभिनय। अवस्थाविशेष मे यह अभिनय भी मुख्यतया दो प्रकार का होता है। जब क्रोध, भय आदि उग्र भावो का प्रदर्शन अभीष्ट होता है, तब चेष्टा भी तदनुरूप ही उग्र होती है। यह उग्र व्यापार या उग्र आंगिक अभिनय **आरभटी** वृत्ति हुआ। इसके विपरीत सौम्य आंगिक अभिनय के द्वारा नट सौम्य भावों—जैसे प्रेम, रति, हास्य आदि—को दिखलाता है। मृदु सभाषण, संगीत तथा नृत्य के द्वारा नाटकीय पात्र नाटक मे सौकुमार्य का प्रदर्शन करता है। यह मृदुल आंगिक अभिनय होता है **कौशिकी** वृत्ति। इस प्रकार चार वृत्तियाँ नाट्य तथा लोक के क्षेत्र को व्याप्त करती हैं। अभिनव गुप्त की शब्दावली मे भारती **वाक्-चेष्टा**, वाचिकाभिनय या पाठ्य है, सात्त्वती **मनश्चेष्टा** या सात्त्विकाभिनय है। **कायचेष्टा** दो प्रकार की है—उग्र तथा सौम्य—आरभटी तथा कैशिकी। इस प्रकार वृत्तिचतुष्टय की कल्पना सर्वथा न्याय्य तथा प्रमाणिक है।

इन नाटकीय वृत्तियो मे दो भेद स्वीकार किया गया है। भारती तो **शब्दप्रधान** मानी ही गई है और उससे भेद दिखलाने के लिए अन्य वृत्तियाँ **अर्थ-प्रधान** मानी गई हैं। इसमे भी परस्पर भेद है। अभिनवगुप्त की उक्ति है – भारती पाठ्यप्रधाना होती है, सात्त्वती अभिनयप्रधाना, आरभटी अनुभावादि आवेश समय मे होनेवाले रस की प्रधानता रखती है, कैशिकी वाद्य के द्वारा रञ्जक होती हैं—पाठ्यप्रधाना भारती, अभिनय-प्रधाना सात्त्वती, अनुभावाद्यावेश-समयरसप्रधाना आरभटी, तत-वाद्योपरञ्जकप्रधाना कैशिकीति। इससे अधिक विवेचन अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती (प्रथम अ०, पृ० २०—२१) में किया है— भारती वाग्वृत्ति है, क्योंकि उसमे वचन या पाठ्य की प्रधानता रहती है, सात्त्वती मनोव्यापार-रूपा है। सात्त्वती को सात्त्विकी मानना चाहिए। 'सत्त्व' कहते हैं मन को और मन के द्वारा निष्पन्न किये जाने के कारण ही

सात्त्वती मनोव्यापाररूप है । भारती का सम्बन्ध वाचिक अभिनय से है और सात्त्वती का सात्त्विक अभिनय से। आरभटी कायवृत्ति है अर्थात् इसका सम्बन्ध आंगिक अभिनय से है। कैशिकी वृत्ति का क्षेत्र इनसे पृथक् है। नाटक में जो कुछ भी लालित्य होता है वह सब कैशिकी का विजृम्भण है। कैशिकी इस प्रकार किसी विशिष्ट अभिनय से सम्बद्ध न होकर सब की उपकारिका होती है। किसी भी अभिनय मे लालित्य का उदय कैशिकी के कारण होता है।

भारती वाग्वृत्तिः। मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी सात्त्वती। सदिति प्रख्यारूपं संवेदनं, तद् यत्रास्ति तत् सत्त्वं मनः। तस्येयमिति। 'इयर्ति' इति अराः भटाः सोत्साहा अनलसाः; तेषाम् आरभटी कायवृत्तिः। यत् किञ्चित् लालित्यं तत् सर्वं कैशिकी-विजृम्भितम् ॥

—अभिनवभारती पृ० २०-२१

अभिनवगुप्त की यह व्याख्या बड़ी मार्मिक है। नाटक में कैशिकी लालित्य तथा सौकुमार्य का प्रतीक है। इसलिए वाचिक अभिनय मे सौकुमार्य रहने पर उसे **कैशिकी-भारती** कहते है। मानसिक चेष्टा का प्रदर्शन भी दो प्रकार से हो सकता है—उग्र या सौम्य। इनमे सौम्य मानसिक अभिनय **कैशिकी सात्त्वती** के नाम से अभिहित होता है। सौम्य कायिक चेष्टा **कैशिकी-आरभटी** मानी जा सकती है। तथ्य बात यह है कि कैशिकी अभिनय के विकाश मे पीछे जोड़ी गई है। पहिले तो तीन ही वृत्तियाँ थी। अतः जहाँ कही अभिनय मे लालित्य तथा सौकुमार्य की लीला है वह कैशिकी के क्षेत्र मे आता है—अभिनव के इस कथन से वृत्तियो का रूप स्पष्ट हो जाता है।

चेष्टा	वृत्ति
वाक्चेष्टा	भारती वृत्ति
मनश्चेष्टा	सात्त्वती वृत्ति
कायचेष्टा	
(क) उग्र	आरभटी वृत्ति
(ख) मृदु	कैशिकी वृत्ति

इन चारो वृत्तियों मे भारती को नाट्यकर्ता शब्दवृत्ति मानते हैं क्योंकि नाटक के पाठ्य से ही इसका सम्बन्ध होता है। अन्य वृत्तियाँ अर्थवृत्ति के नाम से प्रख्यात हैं, क्योंकि इनमे नाटक के अर्थ-रस, भाव, वस्तु, आदि-से साक्षात् सम्बन्ध रहता है।

भारती वृत्ति

इस वृत्ति के स्वरूप की परीक्षा इसके उदय तथा व्युत्पत्ति के द्वारा की जा सकती है। भरत का कहना है कि भारती का जन्म विष्णु और मधु-कैटभ के वादविवाद से हुआ। अतः शब्दप्रयोग से सम्बन्ध होने के कारण इसे शब्दवृत्ति होना उचित ही है। इसीलिए अभिनवगुप्त भी भारती को **'पाठ्यप्रधाना भारती'** तथा **'भारती वाग्वृत्तिः'** कहते हैं। 'भारती' शब्द का ही अर्थ होता है वाक् या वचन या भाषण। अतः वचनरूप होने से इनका सम्बन्ध किसी भी विशिष्टरस से नही होता। भरतमुनि ने भारती का क्षेत्र करुण तथा अद्भुत रस माना है, परन्तु विचार करने पर इसका क्षेत्र और भी व्यापक प्रतीत होता है। भरत की उक्ति है—

भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया

—ना० शा० २२।६६

इस उक्ति के लिए कारण खोजने की आवश्यकता नही। करुणरस में वाग्विलाप होना स्वाभाविक है। किसी प्रिय की मृत्यु के अवसर पर रोना-धोना, मृत व्यक्ति के गुणों का कथन नैसर्गिक होता है। अद्भुतरस मे भी यही बात है। आश्चर्यजनक घटना या वस्तु का निरीक्षण कर दर्शक आनन्द से चकित हो उठता है और अपने भावों को प्रकट करने के लिए निरर्गल वाक्यो का प्रयोग करता है। अतः भारती का इन रसों में सीमित होना महत्त्व रखता है। परन्तु इतना शब्दप्रयोग अन्य रसो की अभिव्यक्ति के लिए क्या नही किया जाता? क्या श्रृङ्गार के अवसर पर नायिका या नायक अपने प्रेम की अभिव्यञ्जना के लिए शब्दों का आश्रय नही लेते? ऐसी दशा मे भारती का सीमाबन्धन उचित नही। एक बात और है। करुण तथा अद्भुत में अधमप्रकृति ही शब्दों का बहुल प्रयोग करते हैं

उत्तम प्रकृति इन दोनो अवस्थाओ में मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर मानते हैं। ऐसी दशा में भी यह सीमा बाँधना ठीक नही जँचता। इसीलिए शारदातनय भारती का क्षेत्र नाटक मे सर्वत्र मानते हैं—

वृत्तिः सर्वत्र भारती (भावप्रकाशन पृ० १२)—यह उनकी उक्ति मार्मिक तथा तथ्यप्रकाशिनी है।

भारती की एक व्युत्पत्ति 'भारयुक्त' होने से है, परन्तु यह केवल वर्ण-साम्य पर आश्रित है। किसी तद्विषयक वैशिष्ट्य की सूचना इससे नही मिलती।

भारती का सम्बन्ध भरत से माना गया है। 'भरत' से अभिप्राय नाट्य के प्रयोग करनेवाले वृत्तिग्राही व्यक्तियों से है—

स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः

भरत के इसी कथन का आश्रय लेकर **शिङ्गभूपाल** ने अपने 'रसार्णव-सुधाकर' में लिखा है—

प्रयुक्तत्वेन भरतैः भारतीति निगद्यते

—रसार्णव १।१६१

अर्थात् 'भरतों' के द्वारा प्रयुज्यमान होने से यह शब्दप्रधान वृत्ति '**भारती**' नाम से अभिहित हुई है। यह व्युत्पत्ति नाटक के ऐतिहासिक विकाश की एक विस्मृत लड़ी को जोड़ती है। इसका स्वारस्य बड़ा ही गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण है। यह तो मानी हुई बात है कि **नृत्य** नाट्य से पुराचीन है। नृत्य में ही एक विशिष्टसाधन के योग से नाट्य की उत्पत्ति हुई है। अंगविक्षेप नृत्य की भी एक स्थूल भूमिका है जो **नृत्त** के नाम से पुकारी जाती है।

'नृत्त' तथा 'नृत्य' नृत् (गात्रविक्षेप, नाँचना) धातु से निष्पन्न होते हैं, परन्तु दोनों के स्वरूप मे विशेष अन्तर होता है। 'नृत्त' उस नाँच को कहते हैं जो ताल तथा लय के ऊपर आश्रित रहता है। '**नृत्तं ताल-लयाश्रयम्**'—(दशरूपक १।६)— धनञ्जय का यह लक्षण नृत्त के स्वरूप का सच्चा निदर्शक है। यह भी अङ्गविक्षेप है, परन्तु न तो इसमे किसी प्रकार

का अभिनय होता है, न किसी प्रकार के भाव की अभिव्यञ्जना ही होती है। बस, ताल तथा लय का आश्रय ही इसकी विशिष्टता होती है—**तन्मात्रापेक्षोऽभिनयशून्यो नृत्तम्** (धनिक)। इससे विलक्षण होता है **नृत्य** जो 'भावाश्रय' कहा गया है—**अन्यद् भावाश्रयं नृत्यम्**। नृत्य में अङ्गविक्षेप के साथ साथ किसी विशिष्ट भाव का प्रदर्शन भी अभीष्ट होता है[1]।

इन दोनों से विलक्षण होता है—**नाट्य**। 'नाट्य' शब्द नट् अवस्पन्दने धातु से निष्पन्न हुआ है। 'अवस्पन्दन' का अर्थ है किञ्चित् चलन अर्थात् थोड़ा चलना या हिलना। अतः इसमें आङ्गिक चेष्टा के ऊपर विशेष जोर न देकर सात्त्विक चेष्टा के ऊपर ही विशेष आग्रह रहता है। नृत्य यदि **भावाश्रय** होता है, तो नाट्य **रसाश्रय** होता है। किसी विशिष्ट रस को लक्ष्य कर अभिनय करना ही **नाट्य** कहलाता है[2]। नृत्य पदार्थ का अभिनय करता है और नाट्य वाक्यार्थ का। इस प्रकार नृत्त से नृत्य और तदनन्तर नाट्य की उत्पत्ति हुई— यही मान्य सिद्धान्त है।

इसी सिद्धान्त की पुष्टि 'भरतैः प्रयुक्तत्वात् भारती' इस व्युत्पत्ति से भी होती है। नृत्य में अङ्गविक्षेप विद्यमान था, परन्तु उसमें कमी थी वचन की, भाषण की। नृत्य के साथ 'वाक् संयोग' होते ही नाट्य फूट चलता है और नाट्य में इस 'वाक्' के अभिनय कर्ता हैं भरत लोग नाटक के अभियोक्ता पात्र। 'नट' तथा 'भरत' शब्दों का अन्तर भी ध्यान देने योग्य है। मूक अभिनय के प्रयोक्ता लोग तो 'नट' कहलाते थे और वाचिक अभिनय के प्रयोक्ता लोग 'भरत' कहलाते थे—यह अन्तर सम्भवतः दोनो में विद्यमान था।

---

१ तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदात्, नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेन आङ्गिकबाहुल्यात्, तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात्, लोके चात्र प्रेक्षणीयकमिति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन् नृत्यम्।

—दशरूपक पृ० ३

२ नाट्यमिति 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात् सात्त्विक-बाहुल्यम्।

—वहीं।

भारती वृत्ति शब्दप्रधाना होती है, इसका वर्णन किया गया है। अतः भारती वृत्ति के संयोग से नृत्य नाट्य के रूप में प्रवर्तित हुआ, यह हम सप्रमाण स्वीकार कर सकते हैं।

भरत मुनि ने भारती का लक्षण इस प्रकार किया है—

या वाक्-प्रधाना पुरुषप्रयोज्या
स्त्रीवर्जिता सस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।

ना० शा० २२।२५

इस लक्षण के उत्तरार्ध के महत्व का अध्ययन हमने अभी किया है। अब इसके पूर्वार्ध पर दृष्टिपात कीजिये। भारती का वाक्प्रधान होना निश्चित ही है, परन्तु उसे **'स्त्रीवर्जिता'** मानने में क्या स्वारस्य है? क्या स्त्रियो का प्राकृत कथन भारती वृत्ति के अन्तर्गत नही आता? इसके दो कारण कल्पित किये जा सकते हैं। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय से पता चलता है कि नाट्य में कैशिकी वृत्ति अन्य वृत्तियो की अपेक्षा पीछे जोड़ी गयी है। कैशिकी स्त्री-प्रधान वृत्ति है। अतः आरम्भकाल मे केवल पुरुषपात्र ही नाटक के अभिनेता थे और उनकी संस्कृतमयी वाणी ही नाटक में प्रयुक्त होती थी। इसी युग की स्मृति भारती के इस लक्षण मे विद्यमान है। यह लक्षण उस समय का प्रतिनिधित्व करता है जब नाटक के केवल पुरुषपात्रों का ही समावेश होता था जो अपनी संस्कृतमयी वाणी के द्वारा ही कथनोपकथन किया करते थे। एक अन्य कारण की भी कल्पना की जा सकती है। स्त्रियाँ स्वभावतः लज्जाशील होती हैं, अतः अपने भावो की अभिव्यक्ति के लिए वे शब्दों का आश्रय न लेकर आङ्गिक चेष्टा का ही सहारा लेती हैं। नायिका को देखकर नायक अपने प्रेमप्रदर्शन के लिए सूक्तियों की वर्षा करने लगता है, परन्तु नायिका मौन रहकर ही अपनी रतिव्यञ्जना करती है। स्त्रियों का अभिनय सात्त्विक-बहुल होता है, वाचिक नही। ऐसी दशा मे भारती को स्त्रीवर्जिता मानने मे कोई दोष नहीं है। परन्तु नाट्य की पूर्ण उन्नति होने पर भारती के लक्षण से यह विशेषण हटा दिया गया। अब तो पाठ्यमात्र (चाहे वह संस्कृत में

निबद्ध हो या प्राकृत में) भारती माना गया। इसकी पुष्टि वृत्तियो के वैदिक सम्बन्ध से होती है। भारती का उदय ऋग्वेद से हुआ[1] और, इसी ऋग्वेद से पाठ्य की उत्पत्ति हुई (जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् १।१७)। अतः नाट्य में पाठ्य के मूल स्रोत ऋग्वेद से भारती की उत्पत्ति स्वीकार कर भरतमुनि ने ही स्पष्टतः मान लिया है कि भारती का सम्बन्ध नाटक के पाठ्यमात्र से ही है, उसके एकदेश संस्कृत पाठ्य से ही नही। इस प्रकार भारती के शब्द-प्रधान स्वरूप का परिचय भली भाँति मिलता है।

कैशिकी

'कैशिकी' शब्द का स्पष्ट सम्बन्ध केश से है। इसीलिए वृत्तियों के उदय की चर्चा करते समय भरतमुनि ने कैशिकी के विषय मे लिखा है कि भगवान् विष्णु ने विचित्र अङ्गविक्षेपों के द्वारा जो अपने बालो को बाँधा, उसी से कैशिकी का जन्म हुआ।

विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमुद्भवैः
बबन्ध यत् शिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता

—ना० शा० २२। १३

अभिनवगुप्त ने भी इसका सम्बन्ध 'केश' से बतलाया है। केश का स्वभाव यह होता है कि वे किसी अर्थक्रिया के सम्पादक न होकर भी देह की शोभा, शरीर का सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार जो व्यापार नाट्य में सौन्दर्य तथा लालित्य उत्पन्न करने मे उपादेय होता है वह 'कैशिकी' वृत्ति के नाम से पुकारा जाता है[2]। नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र की सूझ तो बड़ी विलक्षण है। उनका कहना है—अत्यन्त केश रखनें के कारण 'केशिक' शब्द का अर्थ हुआ स्त्री। स्त्रियों के लक्षण मे स्तन

---

१ ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिः यजुर्वेदात्तु सात्त्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा॥

—ना० शा० २२।२४

२ केशाः किञ्चिदपि अर्थक्रिया जातम् अकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः। तद्वत् सौन्दर्योपयोगिव्यापारः कैशिकीवृत्तिरिति तावन्मुख्यः क्रमः।

के साथ केश की सत्ता प्रधानभूत मानी गई है। अतः केशिक (स्त्री) प्रधान होने के कारण 'कैशिकी' पद की उत्पत्ति सार्थक है[१]।

कल्लिनाथ का कहना है कि केश अत्यन्त चिक्कन और सुन्दर होते हैं। फूलों से सज्जित होने पर तो उनकी विचित्रता विशेषरूप से बढ जाती है। अतः मृदु तथा चित्र व्यापार से संवलित होनेवाली वृत्ति कैशिकी कही जाती है[२]। इस प्रकार कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति केश शब्द से ही स्वीकृत की गई है। डा० राघवन का कहना है कि रीतियो की देशव्यवस्था के अनुसार वृत्तियो का भी भारत के विशिष्ट प्रान्त तथा तन्निवासियों के अनुसार नामकरण मानना अनुचित नही होगा। कैशिकी वृत्ति का प्रादुर्भाव 'क्रथकैशिक' प्रान्त मे हुआ था। 'क्रथकैशिक' विदर्भ का ही प्राचीन अभिधान है। विदर्भ देश साहित्य-जगत् मे अपने सौन्दर्य, लालित्य तथा रमणीयता के लिए सदा से प्रख्यात रहा है। भरत के समय में भी वह ललित कलाओं का—नृत्य, वाद्य, सगीत का—लीलानिकेतन माना जाता था। अतः बहुत सम्भव है कि कैशिकी का उदय इस प्रान्त मे हुआ हो। कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति का सामञ्जस्य भी इस कारण आचार्यों ने स्वीकार किया है। यह मत भी विचारणीय है।

नाटक के विकाशक्रम की चर्चा करते हुए भरत ने कैशिकी वृत्ति को पीछे जोड़ी गई माना है। आरम्भ मे तीन ही वृत्तियाँ थी—भारती, सात्त्वती और आरभटी, क्योंकि अभिनेता पुरुष ही होते थे। पुरुषो के द्वारा कैशिकी का प्रयोग नही हो सकता। इसकी आवश्यकता प्रतीत होने पर अप्सराओ की सृष्टि की गई। स्त्रियो की सहायता के बिना केवल पुरुष कैशिकी का प्रयोग नही कर

---

१ 'अतिशायिनः केशाः सन्ति आसु, इति केशिकाः स्त्रियः। स्तनकेशवतीति स्त्रीणा लक्षणम्। तत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी'।
—नाट्यदर्पण पृ० १५७

२ केशानां समूहः कैशिकम्। कैशिकवत् मृदुत्वात् सुमनोभिः विचित्रत्वाच्च कैशिकीयोगोऽपि द्रष्टव्यः।
—संगीतरत्नाकर टीका

सकते। इसलिए अभिनय के लिए उचित स्त्रियों की सृष्टि आवश्यक थी। **अशक्या पुरुषैः साधु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते**। स्त्रियों की प्रत्येक चेष्टा—वाचिक तथा आङ्गिक—सौन्दर्य तथा लालित्य से मण्डित रहती है। अतः स्त्रीपात्र कैशिकी के लिए नितान्त आवश्यक होता है। इसीलिए कतिपय व्याख्याकारों की दृष्टि में कैशिकी की उत्पत्ति पार्वती से हुई, शिव से नहीं। पार्वती के ललित नृत्य का नाम है लास्य और शिव के उद्धत नृत्य की संज्ञा है ताण्डव। कैशिकी की उत्पत्ति लास्य से हुई है, ताण्डव से नहीं। परन्तु अभिनवगुप्त का यह मत नहीं है। उनका कहना है कि कैशिकी की उत्पत्ति भगवान् नटराज से ही हुई है। इसीलिए वृत्तिपरिच्छेद में भरत ने कैशिकी का जन्म भगवान् विष्णु की चेष्टाओं से माना है[1]। तथ्य बात यह है कि भारत के नाट्याचार्य उग्र चेष्टाओं के अभिनय करने मे जिस प्रकार प्रवीण थे उसी प्रकार सौम्य तथा ललित चेष्टाओ के प्रदर्शन मे भी वे निपुण थे। परन्तु कैशिकी है स्त्रीप्रयोज्य वृत्ति, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इसीलिए भरत ने इस वृत्तिके लक्षण मे स्त्रीसंयोग को आवश्यक माना है—

> या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा
> स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
> कामोपभोगप्रभवोपचारा
> तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥
>
> —ना० शा० २२। ४७

---

१ भरत ने प्रथम अध्याय मे कैशिकी का उल्लेख किया है—दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः (१। ४५)। इस पर ताण्डव के उपासक शिव से सुकुमार कैशिकी की उत्पत्ति असम्भव मानकर कोई आचार्य 'दृष्टा मया' के स्थान पर 'दृष्टोमया' पाठ कर पार्वती का सान्निध्य मानते हैं। अभिनव को यह मत मान्य नहीं है—

ये त्वाहुः 'न भगवतः कैशिकीप्रयोगसामर्थ्यं', तेन 'दृष्टोमया' इतिपाठः। 'उमया सह भगवतो नृत्यतो भगवन्तमप्यनादृत्य भगवत्या प्रयुज्यमाना मया दृष्टा' इति ते उक्तनीत्या परा कृताः। 'विचित्रैरङ्गहारैस्तु' (नाट्यशास्त्र २०। १२) इति भगवतो विष्णोः कैशिकीनिर्माणमनुचितं स्यात्।

—अभिनवभारती पृ० २२

सात्त्वती वृत्ति

'सात्त्वती' पद का सम्बन्ध 'सत्त्व' अर्थात् मन से है। अतः सात्त्वती वृत्ति में सात्त्विकाभिनय का अन्तर्भाव हो जाता है। अभिनवगुप्त मनवाची सत्त्वशब्द के साथ सात्त्वती का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से मानते हैं—**मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी सात्त्वती**। 'सत्त्व' के साथ सम्बन्ध करनेवाली वृत्ति 'सात्त्विकी' कही जानी चाहिए, 'सात्त्वती' नही। इसीलिए पीछे के आलंकारिकों (जैसे भोजराज) ने सुभीते से इसका नाम ही बदल कर सात्त्विकी ही बना दिया है। भरत के लक्षणानुसार इस वृत्ति के प्रधान रस हैं—वीर, अद्भुत और रौद्र। करुण और शृङ्गाररस बहुत ही कम रहते हैं। उद्धत पुरुषों की बहुलता रहती है और परस्पर घर्षण या सघात से यह उत्पन्न होती है—

> **वीराद्भुतरौद्ररसा विज्ञेया ह्यल्पकरुणशृङ्गारा।**
> **उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षण-कृता च॥**
>
> —ना० शा० २२।४०

इस वर्णन से स्पष्ट है कि सात्त्वती वृत्ति युद्ध तथा शौर्यसम्पन्न कार्यों की वृत्ति है। यह भी 'उद्धतपुरुषप्राया' है। तब इसकी आरभटी से विभिन्नता किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है? इसका उत्तर भरत के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है—**न्यायेन वृत्तेन समन्विता च**। अर्थात् यह न्याय, उचित वृत्त के साथ सम्पन्न रहती है। आरभटी के वर्णन मे माया, छल, छद्म की ही बहुलता रहती है और इनका उपयोग अन्यायोचित सग्राम के ही लिए होता है। सात्त्वती मे भी संग्राम की बहुलता रहती है, परन्तु यह संग्राम न्याय्य तथा उचित होता है। उधर आरभटी के संग्राम मे न तो न्याय का ध्यान दिया जाता है और न चरित्र का। किसी भी प्रकार से शत्रु का विनाश इस युद्ध का उद्देश्य रहता है। 'सात्त्वती' के इस वैशिष्ट्य का कारण यह है कि यह सत्त्वगुण से सम्बद्ध रखती है। सत्त्वगुण ज्ञान, न्याय तथा औचित्य का गुण है। फलतः सात्त्वती मे इसकी प्रधानता अनिवार्य है। इस वैशिष्ट्य का वर्णन भरतमुनि ने स्वयं किया है—हर्षोत्कटा

संहृतशोकभावा। हर्ष तथा शोकाभाव सत्त्वगुण से सम्बन्ध रखते ही हैं। इस प्रकार सात्त्वती वृत्ति धर्मवीर, सत्यपराक्रम धीरोदात्त नायक के व्यापार से सम्बन्ध रखती है:—

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यदयार्जवैः।

आरभटी

इससे ठीक विपरीत वृत्ति है—आरभटी। 'आरभटी' शब्द की व्युत्पत्ति अभिनवगुप्त ने बड़ी सुन्दर की है—

'इयर्ति' इति अराः भटाः सोत्साहा अनलसा। तेषामियं आरभटी।

'अर' शब्द का अर्थ है उत्साही आलस्यविहीन। 'अर' (उत्साही) भट (योद्धा) से सम्बन्ध रखने के कारण इस वृत्ति का आरभटी नामकरण उचित ही है। इस व्याख्या से इसके स्वभाव का स्पष्टीकरण हो जाता है। माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध से उद्भ्रान्त चेष्टाओं का प्रदर्शन इस वृत्ति में बहुलतया होता है। भरत का वर्णन नितान्त स्पष्ट है—

आरभटप्रायगुणा तथैव बहुवचनकपटा च।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटोनाम विज्ञेया॥
प्रस्तवापातप्लुतिलङ्घितानि
चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्यं
तां तादृशीमारभटी वदन्ति॥

—ना० शा० २२।५५, ५७

इससे प्रतीत होता है कि यह धीरोद्धत नायक की वृत्ति है। भरत ने इसे रौद्र, बीभत्स तथा भयानक रस की वृत्ति स्वीकार किया है—

भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्॥

यह राक्षसों तथा असुरों की वृत्ति है जो स्वभाव से ही उद्धत, मायिक तथा छल-कपट में दक्ष होते हैं। वे छलयुद्ध में—माया में—सदा आसक्त रहते हैं। न्याय ढङ्ग से युद्ध करना उनके स्वभाव से विपरीत पड़ता है।

इन्द्रजाल का प्रयोग आरभटी के अन्तर्गत आता है जैसे रत्नावली के अन्तिम अंक में इन्द्रजाल का प्रयोग।

इस स्वरूपनिर्देश से स्पष्ट है कि आरभटी कैशिकी की विपरीत वृत्ति है। कैशिकी सौन्दर्य और लालित्य की प्रतिनिधि है, तो आरभटी औद्धत्य तथा इन्द्रजाल की प्रतीक है। आरभटी को केवल कायवृत्ति मानना उतना समुचित नही है। क्या केवल आंगिक विक्षेपों में ही औद्धत्य की प्रधानता रहती है? वाचिक अभिनय मे नही? सच तो यह है कि नाटक में जहाँ कहीं उद्धतपना, अभिमान तथा अहङ्कार का राज्य है वहाँ आरभटी का क्षेत्र है। जहाँ सौम्य, सौकुमार्य का निवास है वहाँ कैशिकी का क्षेत्र है। इसीलिए कतिपय आलंकारिक आरभटी का सम्बन्ध ताण्डव से मानते हैं और कैशिकी का लास्य से। शारदातनय ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है[1]। आरभटी के स्वरूप का परिचय उसके उत्पत्तिस्थल से भी हो जाता है। आरभटी की उत्पत्ति हुई अथर्ववेद से और यह तो प्रसिद्ध बात है कि अथर्ववेद माया, अभिचार आदि का वर्णन करनेवाला मुख्य वेद है।

वृत्तियों की संख्या

भरतमुनि तथा उनके अनुयायी नाट्यकर्ताओं ने सर्वत्र चार वृत्तियो का ही नाट्यप्रयोग मे उल्लेख किया है; इस प्रकार वृत्तियों की संख्या आजकल तो निश्चित ही चार मानी जाती है। परन्तु कभी वृत्तियों की सख्या के विषय मे काफी मतभेद था। इसका परिचय हमे अभिनवभारती से मिलता है। अभिनवगुप्त ने एतद्विषयक प्राचीन मतों का उल्लेख किया है। षष्ठ अध्याय की टीका मे एक सारगर्भित वाक्य है—

द्वे, तिस्रः पञ्चेति निराकरणाय चतस्र इत्युक्तम् (पृ० २७१)

---

१ उद्धतैः करणैरङ्गहारैर्निर्वर्तितं यदा।
वृत्तिरारभटी गीतकाले तत् ताण्डवं त्रिधा।
ललितैरङ्गहारैश्च निर्वर्त्य ललितैर्लयैः
वृत्तिः स्यात् कैशिकी गीते यत्र तल्लास्यमुच्यते॥
—भावप्रकाशन पृ० ४५, ४६

अन्यत्र भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है—

तेन 'पञ्च वृत्तयः द्वे वृत्तो' इत्यादयोऽसंविदितभरताभिप्राय-पण्डितसहृदयम्मन्यपरिकल्पितसद्भावाः प्रवादा निरस्ता भवन्ति ।

वृत्तियों की संख्या के विषय में ये ही तीन मत हैं (क) दो वृत्तियाँ (ख) तीन वृत्तियाँ और (ग) पाँच वृत्तियाँ। कौन सी दो वृत्तियाँ किस आचार्य को मान्य थी ? इसका उत्तर अभिनवभारती से नही मिलता। आचार्य के नाम का पता नही, परन्तु वृत्तियो का अनुमान लगाया जा सकता है। बहुत सम्भव है कि वृत्तिद्वय के उपासक आचार्य की सम्मति में या तो भारती तथा सात्त्वती दो वृत्तियाँ थी क्योंकि भारती वाक्रूपिणी है और सात्त्वती चेष्टारूप। अथवा दो वृत्तियाँ थी आरभटी और कैशिकी, एक औद्धत्य की प्रतीक है और दूसरी लालित्य की।

वृत्तित्रयी के आचार्य को तीन ही वृत्तियाँ मान्य थी—वाक्, काय और मन—इन तीनों के व्यापार की निदर्शिका तीन वृत्तियाँ हो सकती हैं अथवा यह आचार्य उद्भट के मत की ओर संकेत है।

उद्भट—वृत्तित्रय

आचार्य उद्भट अलंकारसम्प्रदाय के मान्य अनुयायी हैं। उन्होंने नाट्यसूत्र पर भी टीका लिखी थी। इसके केवल निर्देश ही यत्रतत्र उपलब्ध होते हैं, समग्र टीका या उसके किसी अंश का भी पता नही चलता। अभिनव-भारती मे अभिनवगुप्त ने इनके वृत्तिविषयक मत का तथा भट्ट लोल्लट के द्वारा किये गये इसके खण्डन का उल्लेख किया है इसके अनुसार उद्भट तीन वृत्तियों के माननेवाले आचार्य हैं। प्रथमतः उन्होंने भरत के वृत्तिचतुष्टय का खण्डन किया है—

(क) 'उत्सृष्टिकाङ्क' नामक रूपकभेद भरत के अनुसार करुणरसप्रधान तथा सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी से हीन होता है (**करुणरसप्रायकृतः ·· सात्त्वत्यारभटी-कैशिकीहीनः**—ना० शा० २०।९८-१००)। अर्थात् उसमे केवल भारती वृत्ति ही रहती है। करुणरस तथा भारती वृत्ति का संयोग कैसा ? करुण है चेष्टारूप और भारती है केवल वाग्रूप। दोनों का एकत्र संयोग भरत के सिद्धान्त से विपरीत है। मरण, मूर्च्छा आदि दशा में

चेष्टा का सर्वथा विराम हो जाता है, तब वहाँ कौन सी वृत्ति होगी ? अतः उद्भट फलसंविति नामक नवीन वृत्ति की कल्पना करते हैं। इस वृत्ति में चेष्टा के फल का उदय माना जाता है।

(ख) दूसरी आलोचना यह है—चेष्टारूप होने से कैशिकी का अन्तर्भाव सात्त्वती में होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि कैशिकी शृङ्गाररस (काम) की वृत्ति है और अत्यन्त रमणीय है, तो पुरुषार्थों में 'काम' को वृत्ति का स्वतन्त्र आधार क्यों माना जाय ? कामवृत्ति के समान अर्थ और धर्म की भी दो अन्य वृत्तियाँ अवश्य माननी चाहिए। इसलिए वृत्तिचतुष्टय का सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं है।

उद्भट का नवीन सिद्धान्त—यह है कि वृत्तियाँ तीन ही हैं और ये भरतसम्मत वृत्तियों से नितान्त भिन्न हैं। अवस्था के दो भेद होते हैं—चेष्टा और चेष्टाराहित्य। चेष्टा में तो पात्रों के व्यापार स्वतः प्रस्तुत होते हैं, परन्तु दूसरे प्रकार में चेष्टा का सर्वथा अभाव रहता है। यहाँ पात्र अपनी चेष्टाओं के फल का लाभ या उपयोग करता है। अतः इस वृत्ति का नाम है—**फलसंवित्ति**—(या फल की प्राप्ति)। चेष्टा दो प्रकार की होती है—(क) न्यायवृत्ति और (ख) अन्यायवृत्ति। उचित व्यापार को न्याय-चेष्टा और अनुचित व्यापार को अन्यायचेष्टा कहना चाहिए। अतः चेष्टामूलक दो वृत्तियाँ हो गई। सीता के प्रति राम की रति है **न्यायवृत्ति** और सीता के प्रति रावण की प्रीति है **अन्यायवृत्ति**। उद्भट के अनुसार ये ही तीन मुख्य वृत्तियाँ हैं—(१) **न्यायवृत्ति**, (२) **अन्यायवृत्ति** और (३) **फलसंवित्ति**। इनके अनेक अवान्तर प्रभेद होते हैं। प्रथम दोनों वृत्तियों में वाक् और चेष्टा के द्वारा द्वैविध्य होता है और प्रत्येक में परुषार्थों से सम्बन्ध होने के कारण चार-चार भेद हो जाते हैं। फलवृत्ति फल की उपलब्धिमयी वृत्ति होती है। इसमें व्यापार नहीं होता; व्यापार के फल की उपलब्धि होती है। वह भी नाना रसों से सम्बन्ध होने से नानात्मिका होती है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादक उद्भटीय पद्य यह है—

> आद्ये वाक्-चेष्टाभ्यां पुरुषार्थचतुष्टयेनाष्टविधे।
> षोडशधा तद्द्वयतः, फलवृत्तिर्नैकधा तु रसभेदात् ॥

लोल्लट का खण्डन—भट्ट लोल्लट ने इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है। वे फलवृत्ति मानने के लिए उद्यत नही हैं। 'फलवृत्ति' की कल्पना वृत्ति के मूलरूप से ही विरुद्ध है। वृत्ति वही है जो व्यापाररूप हो। व्यापारहीनता की कल्पना वृत्ति मे मानना सर्वथा अन्याय्य है। मरण और मूर्च्छा मे व्यापार का अभाव नही रहता। मृतावस्था तो स्वयं मरण व्यापाररूप है। मूर्च्छा मे व्यापारो का सर्वथा अवसान नही हो जाता। मूर्च्छित दशा मे श्वास की गति धीमी पड़ती है। तब वहाँ व्यापार का विराम कहाँ? इसी प्रकार लोल्लट ने न्यायवृत्ति और अन्यायवृत्ति की कल्पना को भी अमान्य ठहराया है। यदि रूपक के किसी अश मे व्यापार विद्यमान न हो, तो भी उस रूपक को 'निवृ त्तिक' वृत्तिविहीन नही मान सकते। नाटक वृत्तिमय होता है, यह सिद्धान्त समुदाय की कल्पना पर आश्रित है। यदि नाटक का कोई अंश अवृत्तिक भी हो, तो भी पूरे नाटक के वृत्तिमय होने मे व्याक्षेप नहीं होता।

शकलीगर्भ—वृत्तिपञ्चक

शकलीगर्भ—नामक एक नवीन नाट्याचार्य का पता अभिनव-भारती से चलता है। वृत्ति की सख्या के विषय मे इनका स्वतन्त्र मत था। इन्होंने उद्भट के मत का खण्डन कर अपने मत की प्रतिष्ठा की है तथा इनके भी मत का खण्डन भट्ट लोल्लट ने किया है। अतः इनका समय उद्भट तथा लोल्लट के मध्य में कही होना चाहिए। अनुमानतः इनका समय नवम शताब्दी का मध्यभाग प्रतीत होता है।

शकलीगर्भ ने मरण तथा मूर्च्छा के विषय मे उद्भट के आक्षेप को माना है, परन्तु उनका उत्तर उद्भट की व्याख्या से बिल्कुल भिन्न है। एक अन्तर और भी है। उद्भट भरत की वृत्तिचतुष्टयी नही मानते, परन्तु शकलीगर्भ उसे मानते हैं, परन्तु मरण, मूर्च्छा आदि अवस्थाओ को ध्यान मे रखकर एक नवीन वृत्ति उसमें जोडते हैं। इस प्रकार वे वृत्तिपञ्चक के अनुयायी आचार्य हैं। इस नवीन वृत्ति का नाम है—आत्म-संवित्ति। अभिनवगुप्त ने ऊपर वृत्तिपञ्चक का उल्लेख कर इन्हींके मत की सूचना दी है।

उद्भट का कहना है कि मूर्च्छा या मृत अवस्था में अन्तिम कल्पनीय व्यापार है—प्राणपरिस्पन्द (=साँस लेना), परन्तु मृत्युदशा में तो यह व्यापार भी नही रहता। तब वहाँ कौन सी वृत्ति रहती है? शकलीगर्भ का कहना है कि उस समय भी ज्ञात्यात्मक व्यापार रहता ही है। इसी वृत्ति का नाम है—**आत्मसंविति** अर्थात् ज्ञानरूप व्यापार। आत्मसंविति है आत्मा के स्वरूप का स्वयं ज्ञान, आत्मा की स्वप्रतिष्ठा। बाह्य व्यापार के अभाव मे यही ज्ञानात्मक व्यापार शेष रहता है। मूर्च्छा की दशा मे यही वृत्ति विराजती है। शकलीगर्भ अद्वैत वेदान्ती प्रतीत होते हैं। वेदान्तियो का यह मान्य सिद्धान्त है कि सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर सुख की भावना होती है—सुखमहम् अस्वाप्सम्, न किञ्चिदपि अवेदिषम्=मैं सुखपूर्वक सोया, मैंने कुछ भी नही जाना। जागरण का यह अनुभव स्पष्ट प्रमाण है कि सुषुप्ति मे ज्ञान की सत्ता विद्यमान रहती है—सुषुप्ति व्यापार-शून्य अवस्था नही है। शकलीगर्भ इसी अनुभव के आधार पर मूर्च्छा की भी व्याख्या करते हैं। उस दशा में बाह्य ज्ञान का अभाव रहता है, परन्तु आन्तर ज्ञान का अस्तित्व रहता ही है। इस समय आत्मज्ञान विद्यमान रहता है। इसलिए शकलीगर्भ ऐसे स्थलो के निमित्त **आत्मसंविन्ति** नामक पञ्चम वृत्ति की कल्पना मानते हैं :—

यत् शकलीगर्भमतानुसारिणो मूर्च्छादौ आत्मसंवित्तिलक्षणां पञ्चमीं वृत्तिं सकलकार्यनिवृत्यनुमेयमूर्च्छादशा-कर्मणा अनुभवेन च फलेन अवि-च्छिन्न-आत्मव्यापाररूपां मन्यन्ते। न च परिस्पन्द एव एको व्यापारः।

—अभिनवभारती

लोल्लट की समीक्षा-शकलीगर्भ का यह सिद्धान्त न तो लोल्लट को मान्य है और न अभिनवगुप्त को। लोल्लट व्यापार को ज्ञानात्मक मानने के लिए उद्यत हैं, परन्तु आत्मसंविति की कल्पना उन्हे मान्य नही। नाटक में रस की सामग्री से हमारा मुख्य प्रयोजन होता है, दार्शनिक सिद्धान्त के ऊहा-पोह से नही। नाटक का मुख्य उद्देश्य है दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष तथा बाह्य इन्द्रिय के द्वारा अनुभवगम्य जगत् के मूर्त पदार्थों का प्रदर्शन। आत्मसंविति अन्तरिन्द्रियग्राह्य है जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान इन तीनों की

आत्मा के रूप मे एकाकार प्रतीति होती है। अतः ऐसी वृत्ति का सम्बन्ध दर्शन से हो सकता है, नाटक से नही। इस प्रकार लोल्लट न तो उद्भट की फल-वृत्ति ही मानते हैं और न शकलीगर्भ की आत्मसंवित्ति। लोल्लट के इस खण्डन प्रकार की सूचना अभिनवगुप्त ने इन शब्दों में दी है—

शकलीगर्भमतं भावानां बाह्यग्रहणस्वभावमुपपादयद्भिः भट्ट-लोल्लट-प्रभृतिभिः पराकृतिमिति न फलवृत्तिर्वा नात्मसंवित्तिर्वा काचि-दिति चतस्र एव वृत्तयः।

अभिनवगुप्त की समीक्षा

अभिनवगुप्त ने इन मतो की अपनी समीक्षा में कई नवीन बातों का निर्देश किया है। उद्भट ने नाटक के समग्र वस्तुओ मे कोई न कोई वृत्ति खोज निकालने का उद्योग किया है। अभिनव इसे 'अस्थानसत्रास' मानते हैं—निडर स्थान में भी भय की कल्पना करना। नाट्य में जो कुछ भी होता है वह यदि वृत्तियों के भीतर ही आता, तो उद्भट की बात में आस्था की जाती, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। नाट्य के अनेक अङ्ग ऐसे हैं, जैसे रंग, मृदग, पणव आदि वाद्य; जिनमे वृत्ति की कल्पना एक उपहास्यास्पद व्यापार है। पुरुषार्थ का साधक व्यापार ही तो वृत्ति के नाम से अभिहित होता है। मृदग आदि क्या वृत्ति के भीतर आते हैं? मद, मूर्च्छा आदि के वर्णन मे मनोव्यापाररूप सात्त्वती वृत्ति अवश्यमेव विद्यमान है[1]। 'उत्सृष्टिकाङ्क' नामक रूपक में करुणरस तथा भारती वृत्ति का संयोग कथमपि अनुचित नही है (जैसी उद्भट की आरम्भिक समीक्षा है)। करुणरस मे मन तथा देह के व्यापार की सम्भावना रहती है, परन्तु इसमे वाग्व्यापार की ही बहुलता दीख पड़ती है, क्योंकि शोक के कारण विशेषरूप से विलाप का यहाँ प्रसङ्ग रहता है। अतः भारती वृत्ति का अस्तित्व स्फुटतर है। हम अन्य वृत्तियों का निषेध इसीलिए करते हैं कि उनके अङ्ग यहाँ पूर्णरूप से प्रकट नहीं होते।

---

१ मदमूर्च्छादिवर्णनायामपि मनोव्यापारस्य सात्वत्याख्यस्थ संभवात्।
—अभिनवभारती

अतः विलाप की बहुलता के कारण करुणप्रधान रूपक में भारती वृत्ति का सद्भाव सर्वथा उचित है[१]।

मृत पदार्थ तो स्वयं पत्थर के समान ज्ञानशून्य होता है। अतः उसकी वृत्ति बतलाने से लाभ ही क्या? तिस पर भी वह काव्य का अङ्ग होता है। मृत प्राणी स्वयं क्रियाशून्य होने पर भी दूसरे प्राणियों मे शोक की विभावना प्रकट करता है—अर्थात् प्रियजनो के हृदय में शोक उत्पन्न करता है। इस प्रकार वह काव्य में उपादेय होने से काव्य का अङ्ग ही है[२]। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि समग्र नाट्य मे वृत्ति की कल्पना नहीं मानी जा सकती। मूर्च्छा आदि मे व्यापार के अभाव होने से वृत्ति का अभाव है ही, इसमें भी परम्परया वृत्ति खोज निकालना या तदर्थ नयी वृत्ति की कल्पना करना युक्तिहीन और प्रमाणरहित है[३]। अतः अभिनवगुप्त इन नवीन वृत्तियों की सत्ता नाट्य में नहीं मानते।

उद्भट प्रख्यात आलङ्कारिक थे। अतः उनकी वृत्तिकल्पना की ओर आलङ्कारिकों का ध्यान गया। ऊपर स्पष्ट है कि उन्होंने तीन वृत्तियाँ मानी थी—**न्यायचेष्टावृत्ति, अन्यायचेष्टावृत्ति,** तथा **फलवृत्ति** (या फलसंवित्ति)। कालान्तर मे प्रथम दोनों के नाम तो भूल गये, केवल फलवृत्ति नवीन वृत्ति के रूप मे साहित्य-जगत् मे जागती रही। इसे ही कई आलङ्कारिकों ने उद्भट

---

१ करुणादावपि मनोदेहव्यापारसंभवेऽपि बाहुल्येन वाग्व्यापारसंभवात् भारती वृत्तिरुच्यते। ...... तस्मात् करुणप्राधान्ये भारती वृत्तिः परिदेवित बाहुल्यात्।

—वही

२ मृतस्तु ताम्रपाषाणप्रख्यः। न तस्य वृत्तिकथनेन किञ्चित्। स परमन्यस्य शोकादिविभावनां प्रतिपद्यमानः काव्याङ्गतामेति।

—वही

३ मूर्च्छादौ तु व्यापाराभावे वृत्त्याभाव एव। न हि सर्वं नाट्यं वृत्तिब्रह्मतया समर्थनीयमिति अलम्।

की पञ्चमवृत्ति माना है जो वस्तुतः ठीक नही है[१]। उद्भट भरत के वृत्ति-चतुष्टय को नही मानते, यह हम कह आये हैं। अतः उनकी वृत्तियाँ एकदम नवीन हैं, भरत की वृत्तियों से उनकी मैत्री नही। शारदातनय ने भी उद्भट के मत का उपन्यास ठीक ढंग से नही किया है। वे भी धनञ्जय के आधार पर उद्भट को पञ्चमी वृत्ति का नियोजक मानते हैं:—

औद्भटाः पञ्चमीम् अर्थवृत्तिं च प्रतिजानते।
अर्थवृत्तेरभावात्तु विश्रान्तिं पञ्चमीं परे॥

—भावप्रकाशन पृ० १२

यहाँ उद्भट के मत का निर्देश तो ठीक नहीं। विश्रान्ति नामक पञ्चम वृत्ति से अभिप्राय शकलीगर्भ की 'आत्मसंवित्ति' से ही प्रतीत होता है। अतः यह निर्देश यथार्थ है। 'परे' से अभिप्राय शकलीगर्भ के ही अनुयायियो से है[२]।

इस प्रकार वृत्ति के स्वरूप तथा संख्या की विशेष समीक्षा हमारे मान्य आचार्यों ने की है। सचमुच वृत्ति नाट्य का तो प्रधान अङ्ग है ही। काव्य में भी वृत्ति का प्रयोग रमणीयता का सम्पादक होता है।

---

१ पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते।

—दशरूपक

२ वृत्तियों की संख्या के विषय मे उल्लिखित मतो का आधार है अभिनवभारती का विशिष्ट (अ० २२) अंश, परन्तु दुर्भाग्यवश यह अंश अब तक अप्रकाशित ही है। डा० राघवन् ने इसका विशेष अनुशीलन अपने विद्वत्तापूर्ण प्रौढ लेख मे किया है। इन उद्धरणों तथा विचारो के लिए हम उनका विशेष आभार मानते हैं।

द्रष्टव्य Journal of Oriental Research भाग ६ और ७ मे डा० राघवन् के वृत्तिविषयक निबन्ध।

वक्रोक्ति-विचार

"वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्"

"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते"

—कुन्तक

काव्य और शास्त्र दोनों का तात्पर्य स्वाभिलषित अर्थ के प्रतिपादन में है। शब्द के ही प्रसाद से लोकयात्रा प्रवर्तित होती है। जगत् के समग्र व्यवहार शब्द के मौलिक आधार पर ही अवलम्बित होते हैं। शब्द सचमुच ज्योतिःस्वरूप है। शब्दनामक ज्योति यदि ससारभर में दीप्त न होती, तो ये तीनों भुवन न जाने कब के गाढान्धकार बन गये रहते। संसार के प्राणी शब्द के ही सहारे अपना मनोगत भाव प्रकट करते हैं तथा दूसरों का तात्पर्य शब्द के ही द्वारा ग्रहण करते हैं। लोकव्यवहार का आधार शब्द है। भावप्रकाशन का माध्यम शब्द है। अज्ञान के अन्धकार मे प्रकाश की रश्मियाँ छिटकानेवाला दिवाकर शब्द है। इसीलिए शब्द की गरिमा की गीत सकल शास्त्र गाते हैं। आलंकारिकशिरोमणि दण्डी का यह कथन सर्वथा सत्य है :—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते।

—काव्यादर्श १।४

ऋग्वेद के दशममण्डल का एक सुविख्यात सूक्त (१२५ सूक्त) इसी वाग् की प्रशस्त स्तुति का उन्मीलन करता है। 'वाग्' ही इस सूक्त का देवता है। वह कहती है कि जगत् मेरी ही विभूतियों का प्रकाश है, मेरी लीला का ललित निकेतन है। जगत् मे शक्तिसम्पन्न देवताओ की मैं ही शक्ति हूँ। मैं रुद्रो के साथ, वसुओं, आदित्यों और विश्वदेवों के साथ विचरण करती हूँ। मैं मित्रावरुण, इन्द्राग्नी तथा दोनों अश्विनों का पालन करती हूँ। जिसके ऊपर मैं अनुग्रह करती हूँ उसे मैं शक्तियों से उग्र बना देती हूँ; उसे मैं तत्त्वों का साक्षात्कर्ता ऋषि बना देती हूँ; उसे नितान्त मेधावी बना देती हूँ:—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

ऋग् १० । १२५ । ५

वाग् की यह सारगर्भित उक्ति नितान्त तथ्यपूर्ण है। वाग् ही ब्रह्म है जो जगत् का परम अधिष्ठानरूप है । वाग् वै ब्रह्म। उपनिषद् भी इसी की प्रशस्त स्तुति गाते हैं—वाचारम्भणं विकारः। जगत् की उत्पत्ति में हम उस परा वाक् के ऐश्वर्य तथा क्षमता का दार्शनिक विवेचन करने इस समय नही बैठे हैं। यहाँ हम केवल उसके वैखरीरूप की व्यापकता, विशालता तथा प्रभविष्णुता का संकेतमात्र कर रहे हैं।

आलोचको ने वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दों को तीन भागों मे विभक्त किया है—वेदशब्द, शास्त्रशब्द तथा काव्यशब्द। श्रुति की महिमा है शब्दों की प्रधानता। मन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों का न तो हम स्थान-विपर्यय कर सकते हैं और न पर्याय शब्दों के द्वारा उनका रूपपरिवर्तन कर सकते हैं। जो शब्द जिस रूप मे, जिस स्थान पर, जिस प्रकार से प्रयुक्त उपलब्ध होता है उनका वैसा ही ग्रहण अभीष्ट होता है। यही है मन्त्र का मन्त्रत्व। जैसे 'अग्निमीडे पुरोहित' (ऋग्वेद १ । १ । १) में अग्नि के स्थान पर न तो समानार्थक 'वह्नि' का प्रयोग किया जा सकता है और न 'ईडे' के स्थान पर 'वन्दे' का। क्रम भी यही रहेगा, इसका परिवर्तन नहीं किया जा सकता। और इस शब्दप्रधानता के कारण वेद लोक में प्रभु, स्वामी के समकक्ष माना गया है। इतिहास, पुराण तथा अन्य शास्त्रों की विलक्षणता दूसरे प्रकार की होती है। इनके शब्दों की विशिष्टता उनके द्वारा अभिधीयमान तात्पर्य का माहात्म्य है। शास्त्र अपने वचनों के द्वारा स्वाभाविक रूप से किसी उपदेश का उपन्यास पाठकों के सामने करता है। वह किसी प्रकार का आग्रह नही दिखलाता—येनेष्टं तेन गम्यताम्। यहाँ शब्दों का प्रयोग अभिधेय अर्थ में ही होता है। इन दोनो से विलक्षण है काव्य जिसमे

शब्द तथा अर्थ दोनो की अप्रधानता स्वीकृत कर रस के अंगभूत व्यापार की ही प्रधानता रहती है[१]।

यदि वेद की समता प्रभु से है तथा शास्त्र की सुहृत् से, तो काव्य की समता कोकिलवैनी कान्ता से है। इन तीनों का पार्थक्य सुगमता से इस प्रकार दिखलाया जा सकता है—

वेद	=	प्रभु,	शब्दप्रधान,	रूपक,
शास्त्र	=	सुहृत्,	अर्थप्रधान,	स्वभावोक्ति
काव्य	=	कान्ता,	व्यापारप्रधान,	वक्रोक्ति

वेद अपने गूढ परोक्ष अर्थ का संकेत रूपकालङ्कार के द्वारा प्रतिपादित करता है। वेद में बहुशः उल्लिखित इन्द्रवृत्रयुद्ध साधारण धरातल पर सपन्न लौकिक युद्ध का निर्देशक नहीं है, प्रत्युत वह रूपक द्वारा इस प्रकृति में प्रतिवर्षाकाल मे सम्पद्यमान भौतिक युद्ध का संकेत है। वृत्र सर्वत्र वृष्टि के आवरणकारी, मनुष्यों के शत्रुभूत, दैत्य का प्रतीक है और इन्द्र सर्वत्र वृष्टि दानकर जगत् को आप्यायित करनेवाली ऐश्वर्यशालिनी (इदि ऐश्वर्ये इन्दतीति इन्द्रः) दैवी शक्ति का प्रतिनिधि है। इस प्रकार 'रूपक' का प्राधान्य विराजता है वैदिक साहित्य मे। **शास्त्र** का तात्पर्य सरलतया उपदेशदान है और इसके लिए शब्दो का लोकव्यवहार में प्रयुक्त अर्थ ही यहाँ ग्राह्य होता है। इसलिए स्वाभावोक्ति या स्वभावकथन की शास्त्र में प्रधानता है। **शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्**—दण्डी। परन्तु काव्य का साम्राज्य इन दोनों से विलक्षण है। काव्य का तात्पर्य शिक्षाप्रदान नही है, प्रत्युत चमत्कार उत्पन्न कर श्रोताओं या पाठको के हृदय मे आनन्द का उन्मीलन करना है। इसीलिए वह वक्रोक्ति का आश्रय लेकर कृतकार्य

[१] शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः
अर्थे तत्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ॥
—भट्ट नायकः हृदयदर्पण

द्रष्टव्य काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

बनता है। वक्र का अर्थ है टेढ़ा। वक्रोक्ति का अर्थ हुआ टेढ़ी उक्ति, लोक की सामान्य उक्ति से विलक्षण कथन। वक्रता—बाँकपन—का मूल्य कला मे अत्यधिक है। बिहारी ने वक्रतासम्पन्न वस्तुओं मे चितवन तथा तान की गणना कर 'कला' मे वक्रता की ओर ही संकेत किया है:—

> चितवनि भौंह कमान, गढ़रचना बरुनी अलक।
> तरुनि तुरङ्गम तान, आघु बँकाई ही बढ़ै॥
>
> —बिहारी बोधिनी ४७

(१)
वक्रोक्ति का स्वरूप

वक्रोक्ति भारतीय आलोचनाशास्त्र का नितान्त मौलिक सिद्धान्त है। वक्रोक्ति काव्य का प्राण है—सारतम अंश है। बिना वक्रोक्तिके काव्य में काव्यत्व ही विद्यमान नही रहता। उक्ति की वक्रता क्या है? अभिनवगुप्त के अनुसार शब्द की तथा अर्थ की वक्रता से अभिप्राय है इनका लोकोत्तररूप से अवस्थित होना!

शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणा वस्थानमिति अयमेवासौ अलंकारस्यालंकारान्तरभावः।

—लोचन पृ०२०८

साधारण व्यक्ति अपने भावों को प्रकट करने के लिए सीधे-सादे साधारण शब्दों का ही प्रयोग करता है, परन्तु प्रतिभाशाली कवि इनसे विलक्षण शब्दों का प्रयोग करता है तथा विलक्षण अर्थों की कल्पना करता है। सन्ध्याकाल आने पर रथ्यापुरुष कहता है—सूर्य अस्त हो रहा है, परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष कहता है—दिनभर आकाश मे चलने से थककर सूर्य प्रतीची दिशा के प्रासाद मे विश्राम करने के लिए जा रहा है। साधारण व्यक्ति की उक्ति है—आप कहाँ से आ रहे हैं? परन्तु शकुन्तला की अनन्य सखी अनुसूया राजा दुष्यन्त से पूछती है—किस देश की प्रजा को आपने अपने विरह से उत्सुक बनाया है? यहाँ साधारण जनो के वाक्यों से विलक्षण होने के कारण दूसरे वाक्यों में चमत्कार है। यही है उनकी लोकोत्तररूप से स्थिति, उनकी वक्रता। स्पष्टतः वक्रोक्ति अलंकारशास्त्र का मौलिक सिद्धान्त है।

वक्रोक्ति अलंकार

आजकल 'वक्रोक्ति' शब्दालङ्कार के रूप में प्रसिद्ध है। इसकी उद्भावना रुद्रट ने की। अपने काव्यालकार के दूसरे प्रकरण (१-१७ श्लो०) में उन्होंने इसका बड़ा स्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार 'वक्रोक्ति' आद्य शब्दालकार है। इसके दो प्रकार होते हैं—(१) श्लेष वक्रोक्ति तथा (२) काकु वक्रोक्ति। श्लेष वक्रोक्ति मे उत्तरदाता व्यक्ति वक्ता के अन्यथा कथित शब्दों का पदभङ्ग कर अन्यथा अर्थ लगाता है और इसी अर्थ को लक्षित कर स्वय उत्तर देता है। काकु वक्रोक्ति मे स्वरविशेष के कारण दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार इस अलकार मे विचित्र उत्तर देने के अभिप्राय से वक्ता के वचनों का अन्यथा अर्थ करना समझ बूझकर किया जाता है। विद्याधर के अनुसार यह अपन्हव के ऊपर अवलम्बित रहता है अथवा रुय्यक की व्याख्या से यह एक छिपे हुए अर्थ के ज्ञान (गूढार्थप्रतीति) पर आश्रित रहता है। नवम शतक के पूर्वार्ध में महाकवि रत्नाकर ने इसी वक्रोक्ति के दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए 'वक्रोक्तिपञ्चाशिका' नामक काव्य की रचना की है। इस वक्रोक्ति (अभंग श्लेष) का यह सुन्दर उदाहरण इसके स्वरूप को बतलाने के लिए पर्याप्त होगा:—

खोलो जू किवार, तुम को हो एतीबार,
'हरि' नाम है हमारो, बसो कानन पहार मे।
हौ तो प्यारी 'माधव', तो कोकिला के माथे भाग,
'मोहन' हौं प्यारी, परो मन्त्र अभिचार मे।
'रागी' हौं रँगीली तौ जु जाहु काहु दाता पास,
'भोगी' हौं छबीली, जाय बसौ जू पतार मे।
'नायक' हौं नागरी तो हाँको कहूँ टाँड़ो जाय,
हौ तो 'घनश्याम' बरसौ जू काहू खार में॥

इस पद्य में कृष्णराधा के परिहास का वर्णन है। कृष्णजी अपना जो नाम बताते हैं, उसी का दूसरा अर्थ करके राधिकाजी उत्तर देती हैं। राधिका का कृष्ण के नामों का अन्यथा अर्थ ये हैं—हरि=बन्दर, माधव=वैशाख मास,

मोहन=मोहन प्रयोग (मारण, मोहन आदि अभिचार का); रागी=गवैया। भोगी=सर्प, नायक=बंजारा; घनश्याम= काला बादल।

महाकवि रत्नाकर ने वक्रोक्ति का प्रयोग इसी प्रकार परिहास तथा वाक्छल के लिए अपने काव्यग्रन्थ मे किया है।

रुद्रट के अनन्तर प्रायः समग्र आलङ्कारिको ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप मे गृहीत किया है। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आलंकारिको के ग्रन्थो में इसी वक्रोक्ति की चर्चा हमें मिलती है। प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति की प्राचीन कल्पना अलंकारजगत् से धीरे धीरे उठ गई थी। तभी तो 'वक्रोक्तिजीवितकार' के मत का खण्डन विश्वनाथ ने १४ शतक के मध्य में 'वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात्' कहकर एक झटके मे कर दिया। परन्तु जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि कुन्तक इस अलंकार वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानने के कथमपि प्रस्तुत नही है।

कुन्तक—काव्यलक्षण

आचार्य कुन्तक ने अन्य अलंकारग्रन्थो के रहने पर भी अपने नवीन ग्रन्थ की रचना का एक विशिष्ट उद्देश्य लिखा है। वह उद्देश्य है[१]—लोकोत्तरचमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धि अर्थात् अलौकिक या असामान्य आह्लाद को उत्पन्न करनेवाले वैचित्र्य का वर्णन। यही शब्द 'वक्रोक्ति' के तात्पर्य का द्योतक है। कुन्तक वक्रोक्ति का पर्याय 'विचित्रा अभिधा, (विचित्र कथन) दिया है जिससे स्पष्ट है कि वक्रत्व या वक्रभाव 'वैचित्र्य' भाव का द्योतक है। कुन्तक ने सचमुच 'वक्रत्व' और 'वैचित्र्य' को समानभाव का सूचक शब्द माना है और इसीलिए वे इन दोनो का अलग अलग प्रयोग अपने तात्पर्य की सूचना के लिए करते हैं (उदाहरणार्थ व० जी १। १८ पृ० २९; १। २० पृ० ४०)। वक्रोक्ति की व्याख्या कुन्तक ने अनेक स्थलो पर की है—(क) शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि

---

१ लोकोत्तरचमत्कारकारि — वैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥
—वक्रोक्तिजीवित १। २

(पृष्ठ १४), (ख) प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि (पृष्ठ २६), (ग) अति-क्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि (पृ० १६५) । इन तीनों व्याख्याओं का स्वारस्य यही है कि शास्त्र या व्यवहार में प्रसिद्ध शब्दार्थ की रचना से विलक्षण वस्तु वक्रोक्ति है। हमने पहिले दिखलाया है कि शास्त्र अपने अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए या लोक अपने व्यवहार की सिद्धि के निमित्त शब्द के सामान्य अर्थ को लक्षित कर उसका प्रयोग करता है। उनका अभिप्राय केवल सामान्य सूचनामात्र होता है और इस सूचना की सिद्धि सामान्य कथन से ही हो जाती है, परन्तु काव्य का यह उद्देश्य नही है।

काव्य का उद्देश्य श्रोताओ के हृदय मे अलौकिक आह्लाद का उन्मीलन है और यह उन्मीलन तभी सिद्ध हो सकता है जब शब्द का प्रयोग शास्त्रादिकों में मान्य प्रयोगों से दूर हटकर विचित्रता-सम्पन्न हो। अथवा लोक व्यवहार मे शब्दों का प्रयोग किसी न किसी अर्थ मे रूढ़ हो गया है। इन रूढ अर्थों से हमारा परिचय इतना अधिक है कि हमारे लिए उनमे किसी प्रकार का आह्लाद रह नही जाता है। अतः उन प्रचलित प्रकार से स्वतन्त्र प्रयोग मे ही वैचित्र्य उत्पादन की क्षमता शब्दो मे हो सकती है। यही कुन्तक को स्वीकार है। महिमभट्ट ने भी इसी तात्पर्य को अपने ग्रन्थ मे समानार्थक शब्दों मे ही अभिव्यक्त किया है—वैचित्र्य की सिद्धि के लिए जहाँ प्रसिद्धमार्ग का परित्याग कर वही अर्थ दूसरे ही प्रकार से प्रतिपादित किया जाता हो, वही 'वक्रोक्ति' है –

प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये ।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥

काव्य का लक्षण आलंकारिकों ने अपने मत से भिन्न ही प्रकार से किया है। कुन्तक ने 'काव्य' शब्द का प्रयोग शब्द तथा अर्थ—इन दोनों के समन्वय के ही लिए किया है। शब्द तथा अर्थ के मञ्जुल समन्वय को लक्षित कर ही 'साहित्य' शब्द प्रयुक्त होता है। कुन्तक दण्डी के समान उन आलंकारिक मे नहीं हैं जो काव्य मे शब्द की ही मुख्यता मानते हैं। महाकवि दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' रूप काव्य की सत्ता मानकर काव्य का मौलिक आधार 'शब्द' ही माना है, परन्तु कुन्तक न तो

शब्द की प्रधानता मानते हैं और न केवल अर्थ के सौन्दर्य पर आस्था जमाते हैं। उनके लिए तो **काव्य** शब्द तथा अर्थ दोनों के मञ्जुल तथा सरस समुच्चय का ही द्योतक होता है। वे स्पष्टतः कहते हैं कि किन्हीं आलकारिकों की सम्मति मे कविकौशल से कल्पित कमनीयता से सम्पन्न शब्द ही केवल काव्य होता है तथा अन्य विद्वानों के मत मे रचनावैचित्र्य से चमत्कारकारी वाच्य ही काव्य होता है, परन्तु ये मत नितान्त चिन्त्य हैं। जिस प्रकार प्रतितिल में तैल रहता है उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में ही काव्यत्व का निवास रहता है, केवल एक में नहीं[1]। काव्य कविप्रतिभा का चमत्कार ठहरा और प्रतिभा एकमुखी न होकर उभयमुखी होनी चाहिए। शब्दों की माधुरी उत्पन्न कर श्रोताओं के कानों को प्रसन्न करनेवाला कवि अपनी प्रतिभा का दारिद्र्य प्रकट करता है, तो शब्दचमत्कार से हीन, अलंकार से विरहित केवल वस्तुमात्र का उपन्यास करनेवाला कवि उसी प्रकार अपराधी माना जाता है। अतः कविता के आसन की स्थिति जमाने के लिए दो स्तम्भ हैं—शब्द और अर्थ। इनके बिना सामरस्य हुए कविता का काव्यवेत्ताओं के हृदय में आनन्द उन्मीलित नही हो सकता। इसीलिए कुन्तक का स्पष्ट मत है—

> **शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।**
> **बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥**
>
> —व० जी० १।७

अर्थात् कवि के वक्रव्यापार से सुशोभित तथा काव्य के वेत्ताओं—सहृदयो—को आह्लाद करनेवाले बन्ध मे रखे गये सहित शब्द और अर्थ ही 'काव्य' कहे जाते हैं।

---

१ तेन यत् केषाञ्चिन्मत कविकौशल-कल्पितकमनीयताशियः शब्द एव केवल काव्यमिति। केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैल तद्विदाह्लादकारित्व वर्तते, स पुनरेकस्मिन्।

—व० जी० पृ० ७

इस प्रकार कुन्तक शब्द और अर्थ को काव्यशरीर होने के कारण 'अलकार्य' मानते हैं। अलकार्य अर्थात् भूषित करने योग्य शरीर। ऐसे अलकार्य का एक ही अलकार मान्य किया गया है और वह अलंकार है—वक्रोक्ति

उभावेतावलकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी-भणितिरुच्यते॥

व० जी० १।१०

वक्रोक्ति—कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही केवल सर्वमान्य अलंकार कहकर उसका विशिष्ट लक्षण दिया है। **वक्रोक्ति=वैदग्ध्यभङ्गीभणिति**। कवि-कर्म की कुशलता का नाम है वैदग्ध्य या विदग्धता। भङ्गी का अर्थ है—विच्छित्ति, चमत्कार, चारुता। भणिति से तात्पर्य है—कथनप्रकार। इस प्रकार इन तीनो शब्दो का सम्बन्ध एकत्र कर हम कह सकते हैं कि **वक्रोक्ति** कविकर्म की कुशलता से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार के ऊपर आश्रित होनेवाला कथनप्रकार है। इस लक्षण पर दृष्टिपात करने से कुन्तक के काव्यविषयक सिद्धान्त का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त हो सकता है। कुन्तक का सर्वाधिक आग्रह है **कविकौशल** पर, जिसे वे अन्यत्र **कविव्यापार** के नाम से पुकारते हैं अर्थात् काव्य कवि के प्रतिभाव्यापार का सद्यः प्रसूत फल है।

कुन्तक तथा भट्टनायकका मतभेद—

काव्य में व्यापारमुखेन चमत्कार या वैशिष्ट्य की सत्ता माननेवाले दो आलंकारिक हैं—कुन्तक और **भट्टनायक**। परन्तु व्यापारप्राधान्यवादी होने पर भी दोनों के मत में स्पष्ट अन्तर है। कुन्तक के सम्प्रदाय मे काव्य में विशिष्ट अभिधाव्यापार की प्रधानता रहती है, परन्तु भट्टनायक के मत में रसविषयक चर्वणाव्यापार का प्राधान्य विराजता है[1]। कुन्तक ने अपनी वक्रोक्ति के लिए 'विशिष्टा अभिधा' शब्द का प्रयोग स्वय किया है। कुन्तक की यह

---

१ वक्रोक्तिजीवितकार-भट्टनायकयोर्द्वयोरपि व्यापारप्राधान्येऽविशिष्टेऽपि पूर्वत्र विशिष्टाया अभिधायाः प्राधान्यम्, उत्तरत्र रसविषयस्य भोगकृत्त्वापर-पर्यायस्य व्यञ्जनस्य।

—समुद्रबन्ध अलं० सर्वस्व टीका पृ० ६

अभिधा काव्य में गृहीत सामान्य अभिधा नही है, प्रत्युत उससे विलक्षण एक विशिष्ट शक्ति है जिसके भीतर द्योतना तथा व्यञ्जना का भी विशद अन्तर्भाव होता है। कुन्तक ने स्पष्ट ही कहा है कि हमारे सम्प्रदाय मे 'वाचक' शब्द से अभिप्राय लोक में सुप्रसिद्ध वाचक से नही है। वाचक वही है जो अर्थ की प्रतीति कराता हो और इस विशिष्ट अर्थ मे 'वाचक' द्योतक तथा व्यञ्जक दोनो प्रकार के शब्दो का भी बोध कराता है। इसी प्रकार ज्ञेयरूप धर्म से सम्पन्न होने के कारण 'वाच्य' द्योत्य और व्यंग्य अर्थों का भी प्रतिपादक है[१]। कुन्तक के मत में यही विशिष्टा अभिधा नामक व्यापार का प्राधान्य काव्य मे विद्यमान रहता है। परन्तु यह भट्ट नायक की कल्पना इससे नितान्त भिन्न है। वे काव्य में रस की सत्ता मुख्य मानते हैं, परन्तु प्रश्न है कि इस रस निष्पत्ति या रसभुक्ति की मीमासा कैसे की जाय? इसके लिए उन्होंने शब्दों मे '**भोजकत्व**' नामक एक विलक्षण व्यापार माना हैं जो अभिधा तथा भावकत्व इन दोनों व्यापारों से भिन्न अथ च स्वतन्त्र होता है। काव्य में इसी भोजक व्यापार की प्रधानता होती है। यह भोजकत्व है क्या? इसका चर्वणारूप व्यापार। इस प्रकार काव्य में व्यापारवादी दो प्रख्यात आलोचकों का यह मतभेद सूक्ष्म बुद्धि से समीक्षणीय है।

कविव्यापार

कवि और सहृदय नामक दोनों कमनीय छोरो को एक मगलमय सूत्र में बाँधनेवाली मधुमय वस्तु का नाम 'कविता' है। इसकी एक छोर पर रहता है कवि और दूसरी छोर पर विराजता है सहृदय। कवि काव्य का विधाता है। इसीलिए कुन्तक काव्य मे कवि के व्यापार की प्रधानता मानते हैं। इससे वे अन्यत्र 'वक्र कविव्यापार' (पृ० १४) तथा कविव्यापार वक्रता (१।१८) के *नाम से पुकारते हैं।* 'काव्य' शब्द की व्युत्पत्ति ही

---

१ अर्थप्रतीति - कारित्व - सामान्यादुपचारात् (द्योतकव्यञ्जकावपि) तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचारात् वाच्यत्वमेव।

—व० जी० १।८ पृ० १५

उसे कविव्यापारप्रधान उद्घोषित कर रही है। **कवेः कर्म काव्यम्**=काव्य कवि का कर्म या कृति है। अतः कुन्तक की दृष्टि मे काव्य को कविव्यापार के ऊपर अवलम्बित होने की बात स्वतः सिद्धप्राय सी है। मम्मट ने भी काव्य को '**लोकोत्तरवर्णनानिपुण-कविकर्म**' शब्द से अभिहित किया है। मम्मट का तात्पर्य है—लोक से उत्तर, अलौकिक अथवा रस के उद्बोध मे समर्थ वर्णना में निपुण कवि का कर्म काव्य है। परन्तु काव्य मे व्यापार-मुखेन चमत्कारविधान का निर्देश कुन्तक ने ही किया है। इसीलिए वक्रोक्ति जीवितकार के मत का उपन्यास करते समय रुय्यक ने इसे स्पष्ट स्वीकार किया—**व्यापारस्य प्राधान्य च प्रतिपेदे** (अलंकार सर्वस्व पृ० ८)। अतः हमारा यह कथन सुसगत है कि कुन्तक काव्य में कविव्यापार की मुख्यता स्वीकार करते हैं। अब विचारणीय प्रश्न है कि यह कविव्यापार किस साधन पर आश्रित रहता है? उत्तर है—प्रतिभा के ऊपर। प्रतिभा का आधार ग्रहण कर ही कवि काव्यरचना के व्यापार मे व्यापृत होता है। 'अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने पूर्ववाक्य की टीका[१] मे कविकर्म को कविप्रतिभा के द्वारा विकसित होने की बात कही है। इस व्यापार के साथ वक्रोक्ति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कविप्रतिभा के द्वारा निर्वर्तित वस्तु के बिना वक्रोक्ति की सिद्धि नही हो सकती। इस विषय को कुन्तक ने भी विशदरूप से अगीकार किया है। उनकी दृष्टि में काव्य को 'अम्लान-प्रतिभोद्भिन्न-नवशब्दार्थबन्धुर' होना चाहिए। अकुण्ठित प्रतिभा से उन्मीलित नवीन शब्द तथा नूतन अर्थ के साहचर्य से काव्य रमणीय होता है। किसी पूर्व कवि के द्वारा व्यवहृत शब्द तथा उन्मीलित अर्थ का पल्ला पकड़ कर यदि कोई व्यक्ति कवि के महनीय पद की लालसा से लालायित है तो उसकी यह आशा दुराशामात्र है। काव्य के लिए आवश्यक होता है नवीन शब्द तथा नूतन अपूर्व अर्थ। और इन दोनों की अभिव्यक्ति अम्लान

---

१ व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः। कविप्रतिभा-निर्वर्तितत्वम-न्तरेण वक्रोक्तिरेव न स्यात्।

—जयरथः अल० सर्व० पृ० ८

प्रतिभा के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। 'प्रतिभा' क्या है? अभिनवगुप्त के साहित्यगुरु श्रीभट्ट तौत की सम्मति में 'प्रज्ञा' तथा 'प्रतिभा' पर्यायवाची नाम हैं और इनका तात्पर्य उस काव्यशक्ति से है जो नये नये अर्थ की उद्भावना किया करती है—

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता"।

कुन्तक की दृष्टि मे भी प्रतिभा एक विशिष्ट कविशक्ति है जो पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के संस्कारों के परिपक्व होने से प्रौढ होती है। अनुद्बुद्ध प्रतिभा से कवि का कार्य सिद्ध नही होता। उसे चाहिए प्रौढा प्रतिभा और यह इस जन्म के ही नही बल्कि पूर्वजन्म के संस्कारों के सुखद परिणाम या परिपाक से ही सिद्ध हो सकती है—

प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।

—(व० जी० पृ० ४६)

इसका निष्कर्ष यही हुआ कि कुन्तक काव्य को प्रतिभा के बलपर अवलम्बित कविव्यापार का मधुमय परिणाम मानते हैं। वे कवि के लिए व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी आवश्यकता समझते हैं, परन्तु प्रतिभा को मुख्य काव्यसाधन मानने के पक्षपाती हैं। यह तो हुई एक छोर की बात—कवि के व्यापार की चर्चा। अब दूसरी छोर की भी ओर दृष्टि फेरिए।

सहृदय

काव्य की दूसरी छोर पर विराजनेवाला भाग्यशाली पुरुष है—सहृदय। कुन्तक की काव्यभावना में सहृदय के हृदयानुरञ्जन का भी विशेष महत्त्व है। आलोचनाशास्त्र के उदयकाल से ही आलोचकगण काव्य मे 'अतिशय कथन' पर आग्रह करते आये हैं। भामह के शब्दों में यह 'अतिशय कथन' 'अतिशय उक्ति' है[१]—किसी निमित्त से लोक को अतिक्रमण करनेवाला वचन। और इसे ही वे समग्र अलकारो का मूल मानते हैं। वे अतिशयोक्ति को ही

१ निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥

—भामह २। ८५

वक्रोक्ति के अभिधान से पुकारते हैं और इसी के द्वारा अर्थ की विशेष रूपेण भावना स्वीकार करते हैं। अलकार का सार चमत्कारी अंश होने से उनका अतिशयोक्ति पर विशेष आग्रह है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविता कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

—काव्या० २। ८५

कुन्तक इस विषय मे भामह के ही अनुयायी है। काव्य में वे भी 'अतिशय' मानते है। उनकी सम्मति मे यह अतिशय है—

प्रकर्ष-काष्ठाधिरोहः कोऽप्यतिक्रान्त-प्रसिद्ध-व्यवहार-सरणिः

(पृष्ठ १६५)

किसी धर्म की अत्यन्त उत्कर्ष की प्राप्ति, प्रसिद्ध व्यवहार को अतिक्रमण करनेवाला मार्ग। इसी अतिशय का अस्तित्व काव्य के काव्यत्व का सम्पादक है[1]। परन्तु एक विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्य मे यह अतिशय उद्दण्ड कथन या ऊटपटाग उक्ति से भी तो उत्पन्न किया जा सकता है। लोक सौम्यभाव को ग्रहण कर प्रवृत्त होता है। अतः लोकातिक्रान्तगोचरता, उससे विलक्षणता, तो बे-सिरपैर की बातों के कहने से भी हो सकती है। अतः काव्य को इस विषम भयकर गड्ढे मे गिरने से बचाने के ही लिए कुन्तक ने 'सहृदय' का पल्ला पकड़ा है। काव्य का बन्ध 'तद्विदाह्लाददायी' अवश्य है। काव्य के मर्म जाननेवाले व्यक्तियों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना उसका एक नितान्त आवश्यक गुण होता है। कुन्तक की सम्मति मे काव्य में वाच्य, वाचक तथा वक्रोक्ति का अतिशय तो होना ही चाहिए, परन्तु इनसे भी स्वतन्त्र एक पृथक् वस्तु होती है—

---

१ यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते।
वर्णनीयस्य धर्मस्य तद्विदाह्लाददायिनाम्।

—व० जी० पृ० १६५

तद्विदाह्लादकारिता[१] जिसका अन्तर्भाव पूर्वोक्त तीनो वस्तुओ के अतिशय में नहीं किया जा सकता। जिस काव्य ने सहृदयों का अनुरञ्जन नहीं किया वह काव्य वक्रोक्ति से मण्डित होने पर भी काव्य की स्पृहणीय पदवी से सदा वञ्चित ही रहता है। इसीलिए काव्य की स्वरूपनिष्पत्ति के लिए 'सहृदय' की भी अधिकारिता है। ध्वन्यालोक (पृष्ठ १६०) में आनन्दवर्धन ने भी 'सहृदय' की गरिमा स्वीकार की है। 'सहृदय' की अनेक परिभाषायें ध्वनिकार ने ही दी हैं, परन्तु अभिनवगुप्त ने जो लक्षण दिया है वह स्पष्ट, विशद तथा आवर्जक है—

> 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः'
>
> —लोचन पृ० ११

काव्य के अनुशीलन के अभ्यास से अर्थात् निरन्तर काव्य के अध्ययन तथा चिन्तन से जिनका मनोमुकुर नितान्त विशद हो जाता है और जो वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता रखते हैं वे ही 'सहृदय' हैं। इस शब्द का वृत्तिलभ्य अर्थ है—कवि के हृदय के साथ सवाद अर्थात् साम्य, एकरूपता धारण करनेवाले व्यक्ति।

संस्कृत की एक प्रौढा स्त्रीकवि विज्जका ने भी एक चमत्कारी ढंग से रसिक की व्यवस्था की है—

> कवेरभिप्रायमशब्द गोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
> वदद्भिरङ्गैः स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः॥

कवि के व्यञ्जनाद्योतित गूढ़ अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा अपने हृदयोल्लास की सूचना नहीं देता, प्रत्युत जिसके रोमाञ्चित अङ्ग हृदय की आनन्दलहरी का पता चुपके ही बतला देते हैं वही सच्चा रसिक है—सहृदय है।

---

१ वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम्।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम्॥
—व० जी० १।२३

कालिदास का यह सुभग पद्य वक्रोक्ति का व्यावहारिक रूप प्रकट करने के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है:—

> भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाह
> तत्सन्देशाद् हृदयनिहितादागतं त्वत्समीपम् ।
> यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
> मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबला-वेणिमोक्षोत्सुकानि ॥
>
> —मेघदूत, पद्य ९९

> सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ, पतिवती
> सँदेसो लै वाको तव निकट आयो सुनि सखी ।
> चले मेरी मन्दी धुनि सुनि विदेसी तुरत ही
> करें बाञ्छा खोलें पहुँचि घर बेनी तियन की ॥
>
> —लक्ष्मण सिंह

इस पद्य मे प्रयुक्त 'अविधवे' सम्बोधन पद नितान्त आश्वासकारी होने से चमत्कारी है। 'अविधवे' पद के श्रवणमात्र से यक्षपत्नी सन्तुष्ट हो जाती है कि उसका प्रियतम अभीतक जीवित है। 'मैं तुम्हारे पति का मित्र हूँ'—यह वाक्य मेघ के उपादेयत्व का सूचक है। मैं साधारण मित्र नही हूँ, प्रत्युत 'प्रिय' मित्र हूँ—इससे स्पष्ट है कि पति ने अपनी विश्रम्भ-कथाओं को उसे कह रखा है। इस विश्रम्भकथापात्रता के कारण वह उसका सन्देश लेकर आया है जिसे उसने अपने हृदय मे रखा है। 'हृदयनिहित' पद सावधानता सूचित करता है। शका की जा सकती है कि मेघ में ही ऐसी कौन सी योग्यता विराजती है कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए वह दूत चुना गया है। इस शका का निरसन कर रहा है 'अम्बुवाह' पद। वह अम्बु-जल का वाहक है। वह स्वभाव से ही वाहक है। अतः यदि वह सन्देश का वाहक वनाकर भेजा गया है, तो उचित ही है। पद्य का उत्तरार्ध मेघ की सहृदयता तथा परोपकारिता की सूचना दे रहा है। वह अपनी मन्द्र और स्निग्ध ध्वनि से रास्ते में विश्राम करनेवाले परदेशियों के झुण्डों को त्वरासम्पन्न कर देता है। 'श्राम्यतां' पद सूचित कर रहा है कि पथिक त्वरा करने में असमर्थ हैं क्योंकि वे थक कर विश्राम कर रहे हैं। 'वृन्दानि'

का बहुवचन दिखलाता है कि ऐसा करने का उसे अभ्यास है। 'वृन्द' तो स्वय बहुत्व का सूचक है। उसका भी बहुवचन मे प्रयोग कर कवि मेघ के अभ्यास का प्रदर्शन कर रहा है। ध्वनि मन्द्र और स्निग्ध है। यह दूत के प्ररोचनायुक्त वाक्यों का द्योतक है। 'पथि' पद की अभिव्यञ्जना कितनी मार्मिक है। राह चलते हुए परदेशियो के साथ मेरी ऐसी सहानुभूति है, इतना सदय व्यवहार है, तो फिर अपने मित्र के प्रेम से प्रयत्नपूर्वक मैं कितना कार्य कर सकता हूँ, यह स्पष्ट है। परदेसी लोग अबला (प्रियतमा) के विरह मे बँधी हुई वेणी को खोलने के लिए उतावले हो रहे हैं। 'अबला' शब्द द्योतित करता है कि उनकी बलहीन प्रियतमाये विरह के दुःख को सहने में नितान्त असमर्थ हैं। वेणिमोक्ष के लिए उत्सुक होना परदेसियों के अनुरक्त चित्त का निदर्शक है। पद्य का उत्तरार्ध मेघ के स्वभाव का परिचायक है। विरहविधुर परस्परानुरक्त हृदयवाले जिस किसी कामिजन के समागमसौख्य के सम्पादनार्थ मै सदा गृहीतव्रत हू, तब अपने प्रियमित्र के इस स्नेहमय कार्य के लिए क्या मै उपयुक्त न हूँगा ? इस पद्य मे कविवर कालिदास ने जो पदार्थपरिस्पन्द निबद्ध किया है वह समग्र मेघदूत का प्राण है।

इसी प्रकार कालिदास ने सीता वनवास के प्रसङ्ग मे यह सुप्रसिद्ध श्लोक निबद्ध किया है।

> तामभ्यगद् रुदितानुसारी
> मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
> निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
> श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥
> —रघु० १४। ७०

इस श्लोक का अर्थ यह है कि कुश और इन्धन के लिए जगल में जानेवाले मुनि सीता के रोने की आवाज के सहारे उनके पास पहुँच गये। कौन मुनि ? यह वही मुनि थे जिनका निषाद के द्वारा बेधे गये पक्षी (क्रौञ्च) के दर्शनमात्र से उत्पन्न शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया। स्पष्टतः पद्य के उत्तरार्ध में वाल्मीकि मुनि का सकेत है। फिर उनका प्रसिद्ध अभिधान न,

देकर इस प्रकार उनके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना की सूचना देकर द्रविडप्राणायाम करने का कालिदास ने क्यो प्रयास किया ? कुन्तक का समीक्षण बड़ा ही मार्मिक है। उनका कहना है। कि पर्यायमात्र के स्थान पर इस प्रकार का गुणवर्णन करुणरस का नितान्त पोषक है। यह वाल्मीकि की परम कारुणिकता का अभिव्यञ्जक है। निषाद के द्वारा मारे गये सामान्य पक्षी के दर्शनमात्र से उत्पन्न जिसका शोक श्लोक का रूप धारण कर लेता है, उसका हृदय प्रियतम के द्वारा निकाली गई, गर्भभार से अलस, राजा जनक की पुत्री जानकी के दर्शन से कितना विह्वल तथा व्याकुल हो गया होगा; यह सहृदय पाठक ही समझ सकते हैं। अतः करुणरस के परिपोष के निमित्त व्यक्ति का नाम न देकर गुणों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की गई है। कुन्तक के अनुसार यह पद्य **'पर्याय वक्रोक्ति'** का सुन्दर उदाहरण है।

(२)

ऐतिहासिक विकास

कुन्तक ने **वक्रोक्ति** की कल्पना भामह से ग्रहण की है, क्योंकि भामह ही प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होने अतिशयोक्ति के रूप में 'वक्रोक्ति' को स्वीकार किया है। वक्रोक्ति के स्वरूप को समझने के लिए उसका स्वभावोक्ति से पार्थक्य समझना नितान्त आवश्यक है। इतना तो निश्चित है कि भामह अतिशयोक्ति (=वक्रोक्ति) को काव्य का अलंकारसामान्य मानते हैं। अतिशय से रहित अलंकार अलंकारत्व से च्युत हो जाता है। जबतक लोक के सामान्य प्रयोग, वचन, व्यवहार तथा कथन से काव्य मे पार्थक्य न होगा, तब क्या काव्य कभी कथमपि सरस तथा सुन्दर हो सकता है ? पामर जनों के न तो शब्द मे ही चमत्कार रहता है और न उनके वाक्य में ही आनन्दोत्पादन की शक्ति रहती है। वे तो केवल व्यवहारमात्र के निर्वाह के लिए, अपने सीधे सादे भावों को प्रकट करने के लिए, शब्दों का प्रयोग करते हैं। अतः सुहृदयानुरञ्जक काव्य, लोकव्यवहार की सामान्य पदावली से सन्तुष्ट नही रह सकता। इसीलिए काव्य में 'वक्रोक्ति' की परमावश्यकता है।

भामह

वक्रोक्ति भामह से भी प्राचीन है, क्योंकि उन्होंने इसके लक्षण करने की आवश्यकता नहीं समझी। एक विशिष्ट अर्थ में इसका ग्रहण स्वीकार कर लिया। निःसन्देह इस आलङ्कारिक तथ्य की उद्भावना भामह से पूर्वयुग से सम्बन्ध रखती है। भामह और दण्डी—दोनो ने इसे परम्पराभुक्त विशिष्ट अर्थ में ही ग्रहण किया है। भामह के अनुसार वक्रोक्ति वचनों की अलङ्कृति है। बिना वक्रोक्ति के काव्य में सौन्दर्य की प्रतीति हो नही सकती। भामह की महत्त्वपूर्ण उक्ति है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

—२।८५

अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। इसीके द्वारा अर्थ की विशिष्ट रूप से भावना की जाती है। कवि को इस वक्रोक्ति के सम्पादन का यत्न करना चाहिए। भला इसके बिना कोई अलङ्कार हो सकता है? भामह की स्पष्ट सम्मति है कि अलङ्कार का अस्तित्व ही वक्रोक्ति के अभाव मे नही रह सकता। हेतु, सूक्ष्म और लेश को ये इसीलिए अलङ्कार मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं क्योंकि समुदायरूप से वहाँ वक्रोक्ति का अभिधान नही होता[१]। वक्रोक्ति से रहित वाक्य 'वार्ता' कहलाता है जैसे—'सूर्य डूब गया', 'चन्द्रमा चमकता है', 'चिड़िया अपने बसेरों मे जाती हैं' इन चमत्कारहीन वाक्यों मे हमें सामान्यरूप से किसी घटना की सूचनामात्र मिलती है। इन सौन्दर्य विरहित सामान्य वाक्यों को भामह 'वार्ता' कहते हैं—साधारण 'बात'।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं? वार्तामेनां प्रचक्षते॥

—२।८७

---

१ हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥

—२।८६

इस प्रकार भामह की दृष्टि मे 'वक्रोक्ति' से विरुद्ध उक्ति 'वार्ता' है। वक्रोक्ति तथा वार्ता (नीरस चमत्काररहित साधारण वाक्य) मे परस्पर विरोध है। वक्रोक्ति का लक्षण स्पष्टरूप से भामह ने अपने ग्रन्थ में कही नहीं दिया है, फिर भी हम उनकी कल्पना को भलीभाँति जान सकते हैं। वक्रोक्ति का समीकरण अतिशयोक्ति के साथ किया गया है। अतिशयोक्ति का लक्षण है—निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्। बस भामह की वक्रोक्ति यही है—**लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम्** अर्थात् वह उक्ति जिसमे लोक के, साधारण जन के, कथन का अतिक्रमण (उल्लङ्घन) किया गया हो। इस प्रकार लोकोतीर्णता अथवा लोकोत्तरता ही वक्रोक्ति का मुख्य रूप है। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार 'रमणीयता' भी इसी तत्त्व का प्रतिवादन करती है। अपने काव्य के लक्षण मे उन्होंने इस सिद्धान्त का स्पष्ट वर्णन किया है। वे कहते हैं:—रमणीयता लोकोत्तर-आह्लादजनक-ज्ञानगोचरता है। 'लोकोत्तर' से अभिप्राय यह है कि आह्लाद मे विशेष चमत्कार का उत्पन्न होना। और यह होगा अर्थ के बारम्बार अनुसन्धान करने से। 'तुम्हे पुत्र उत्पन्न हुआ' इस वाक्य के श्रवण से आनन्द अवश्य उत्पन्न होता है, परन्तु वह लोकोत्तर या अलौकिक नही होता।

भामह वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति का विरोधी नही मानते। 'स्वभावोक्ति' में जिस प्रकार की वस्तु रहती है उसी प्रकार उसका वर्णन किया जाता है। परन्तु कोई वस्तु भी अनेक भले और बुरे धर्मों को धारण करती है। ऐसी दशा मे चमत्कारजनक धर्मों के वर्णन करने पर ही स्वभावोक्ति उत्पन्न होती है। स्वभावोक्ति में भी कवि की कल्पना के लिए स्थान रहता है। कवि जिस किसी धर्म का वर्णन कर स्वभावोक्ति का निष्पादन नहीं कर सकता। उसे अपनी बुद्धि के द्वारा आवश्यक तथा अनावश्यक, सुन्दर तथा असुन्दर धर्मों मे विवेचन करना ही पड़ता है। इसलिए स्वभावोक्ति में भी वक्रोक्ति की गुंजायश है। इस प्रकार भामह की सम्मति मे काव्य में वक्रोक्ति का ही एकमात्र राज्य है[१]। यह तीन प्रकारों मे अभिव्यक्त होता

१ इसीलिए भामह गद्य, पद्य, महाकाव्य, नाटक आदि सब काव्य-

है—(१) **स्वभावोक्ति**—वस्तु जिस प्रकार की है उसी अवस्था का याथातथ्य वर्णन से (**अर्थस्य तद्वस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा**—२।९३); (२) **उपमा** रूपक आदि अलकारो के द्वारा जिनमे चमत्कारपूर्ण अर्थ की सत्ता विशेषतः लक्षित होती है; (३) **रसवद् अलंकार**, जिसमे रसभाव आदि का समावेश रहता है।

दण्डी

वक्रोक्ति की कल्पना का विकाश हम दण्डी के 'काव्यादर्श' में पाते हैं। भामह की अपेक्षा दण्डी की वक्रोक्तिविषयक भावना स्पष्टतर है। 'स्वभावोक्ति' में चारुत्व का निवास है, परन्तु बहुत ही अल्प मात्रा मे। ऐसी दशा में उसे दण्डी उपमादि अलङ्कारो के समकक्ष रखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। अलङ्कार की कल्पना स्वभावोक्ति से मानो उद्बुद्ध होती है। अतःउसे प्रथम अलंकार (**आद्या अलंकृतिः**) मानना ही न्यायसगत प्रतीत होता है। इसीलिए दण्डी ने समग्र वाङ्मय को दो प्रकारों में विभक्त कर दिया हैः—(१) **स्वभावोक्ति** तथा (२) **वक्रोक्ति**। वक्रोक्ति कोई विशिष्ट अलकार नही है, प्रत्युत स्वभावोक्ति से पृथक् उपमादि समग्र अर्थालंकारों का सामूहिक अभिधान है। और वक्रोक्ति मे श्लेष के कारण सौन्दर्यवृद्धि होती है।:—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्
द्विधा भिन्नं स्वभावोक्ति र्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥
—२।३६२

भामह के अनुसार दण्डी 'रसवद्' अलकार को भी वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत मानते है। इस प्रकार दण्डी ने वक्रोक्ति के तथ्य को विकसित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

भेदो को वक्रोक्ति से युक्त मानते हैं—युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते (१।३०) कवि को 'वक्रवाक्' होना ही चाहिए—

वक्रवाचां कवीना ये प्रयोगं प्रति साधवः ॥ ६।२३

१ हृदयंगमा टीका का स्पष्ट कथन है—स्वभावोक्तिराद्यालंकारः। वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते। 'तरुण वाचस्पति' भी इसीका समर्थन करते हैं।

वामन

वामन के अलकारग्रन्थ के अनुशीलन से भलीभॉति जान पडता है कि उन्हो ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग नितान्त भिन्न अर्थ मे किया है। वे पहले आलकारिक हैं जिन्होने एक विशिष्ट अलकार के अर्थ में वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। रुद्रट वक्रोक्ति को शब्दालकार मानते थे परन्तु वामन ने इसे अर्थालंकार स्वीकार किया है। अब तक भामह तथा दण्डी के साथ वक्रोक्ति अलकार-सामान्य का सूचक था, परन्तु वामन के साथ वक्रोक्ति एक विशिष्ट अलकार के रूप मे अवतीर्ण होती है। वामन का लक्षण है——

सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः

का० अ० सू० ४ । ३ । ८

सादृश्य के ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है। वामन ने स्पष्टतः कहा है कि लक्षणा होने मे अनेक कारण हुआ करते हैं। उनमे केवल सादृश्य के ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा तो वक्रोक्ति की सज्ञा प्राप्त करती है। परन्तु सादृश्य से इतर सम्बन्ध—जैसे सामीप्यादि के ऊपर अवलम्बित लक्षणा वक्रोक्ति नही कहलाती[१]। परन्तु आगे चलकर आलकारिको ने वामन के इस संकीर्ण अर्थ को अत्यन्त विस्तृत कर सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध पर टिकनेवाली लक्षणा को भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना है। वामन की यह वक्रोक्तिविषयक कल्पना प्राचीन परम्परा से नितान्त बहिर्भूत है। यह तो दण्डी के अनुसार 'समाधि' नामक गुण है। वामन का उदाहरण है :—

उन्मिमील कमलं सरसीनां।
कैरवं च निमिमील पुरस्तात्॥

अर्थात् प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने पर तालाब के कमल तुरन्त खिल-गए और कोई तुरन्त बन्द हो गई। यहाँ उन्मीलन तथा निमीलन नेत्र

---

१ बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति।× × × × असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः।

वामन ४ । ३ । ८ की वृत्ति

के 'धर्म' हैं। परन्तु सादृश्यसम्बन्ध से वे विकास और संकोच क्रमशः सूचित करते हैं। दण्डी ने समाधि गुण के उदाहरण मे एतत्समान ही उदाहरण दिया है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन भी भामह के द्वारा निर्दिष्ट तथा उद्भावित वक्रोक्ति से पूर्णरूपेण परिचित हैं। वे भी काव्य में किसी प्रकार के अतिशय रखने के पक्षपाती हैं। उनकी स्पष्ट सम्मति है कि सब अलंकारों में अतिशयोक्ति मूल रूप से रक्खी जा सकती है। महाकवियों ने अपने काव्य की शोभा बढाने के लिये अतिशयोक्ति का बहुल प्रयोग किया भी है। ऐसी दशा मे अपने विषय में औचित्यपूर्वक अतिशयोक्ति को प्रयोग किया जाय तो ऐसा कोई कारण नही है कि काव्य मे उत्कर्ष उत्पन्न न हो। अपने मत की पुष्टि मे उन्होंने भामह के प्रसिद्ध श्लोक **'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः'** को उद्धृत भी किया है। वे अतिशयोक्ति के कारण अलंकारों मे चारुता का अतिशय मानते हैं। और अतिशयोक्ति से हीन अलंकार को अलकारमात्र स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सब अलंकारों के शरीर स्वीकार करने के कारण निःसन्देह अतिशयोक्ति सर्वालंकाररूपा है[१]। आनन्द का कहना है कि यह अतिशयोक्ति दूसरे अलंकार के साथ दो प्रकार से संयुक्त हो सकती है—वाच्यरूप तथा व्यङ्ग्यरूप से। व्यङ्ग्य होने पर भी कभी प्राधान्यरूप से और कभी गौणरूप से। इस प्रकार वाच्यरूप से अतिशयोक्ति से संकीर्ण होने पर समग्र अर्थालंकार की व्युत्पत्ति होती है। प्रधानरूप से सकीर्ण होने पर होती है—ध्वनि और गुणभाव से युक्त होने पर होता है गुणीभूतव्यङ्ग्य। इस प्रकार आनन्दवर्धन की सम्मति मे **अतिशयोक्ति** अर्थात् **वक्रोक्ति** काव्य-सौन्दर्य का विशद अभिव्यञ्जक है।

---

१ अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। ××× तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।

—ध्वन्या० पृ० २०८

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त ने इसी स्थल की व्याख्या मे वक्रोक्ति के स्वरूप के विषय में वडी उपादेय बातें बतलाई हैं। उनका कथन है[1] कि भामह अतिशयोक्ति को ही अलंकारप्रकाररूप वक्रोक्ति मानते हैं। इस विषय मे भामह की उक्ति नितान्त सन्देहहीन है

—वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचां स्वलङ्कृतिः

—का० अ० १।३६

"वक्रता दो प्रकार की होती है — शब्दवक्रता तथा अभिधेयवक्रता। 'वक्रता' शब्द का तात्पर्य है— लोकोत्तर रूप से स्थिति। लोकोत्तर रूप से अवस्थान होने पर ही अतिशयोक्ति होती है। इसीलिए अतिशयोक्ति अलकार-सामान्य रूप से अंगीकृत की जाती है। अतिशयोक्ति का प्रयोजन भी गम्भीर तथा उपादेय होता है। इस रुचिर अलकार के योग होने से समस्त मनुष्यों के द्वारा उपभोग किये जाने से पुराना भी अर्थ विचित्रता से उद्भासित होने लगता है तथा प्रमदा, उद्यान आदि वस्तुएँ विशेषरूप से भावित की जाती हैं अर्थात् वे रसमय की जाती हैं।"

अभिनवगुप्त के मत का सक्षेप ऊपर दिया गया है। इससे स्पष्टतः प्रतीत होता कि वे वक्रोक्ति के व्यापाकरूप से पूर्ण परिचय रखते हैं। इन्होने कही भी कुन्तक के मत का निराकरण नही किया है और न अभिनवगुप्त के नाम का ही उल्लेख हम वक्रोक्तिजीवित मे पाते हैं। तथापि कई दृढ़ कारणो से

---

१ शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अन-स्थानम् इत्ययमेवासौ अलकारस्यालंकारान्तरभावः। लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालङ्कारसामान्यम्॥

—लोचन पृ० २०८

हमारा अनुमान है[1] कि अभिनवगुप्त कुन्तक के सिद्धान्त-निरूपण तथा विशद विवेचन से भलीभाँति परिचित थे। जो कुछ हो, अभिनवगुप्त की वक्रोक्तितथ्य की मीमांसा अत्यन्त प्रामाणिक तथा विशद है।

आनन्दवर्धन का ध्वनिसिद्धान्त इतना मौलिक था और उन्होंने इसका व्यवस्थापन इतनी युक्तिमत्ता के साथ प्रबल आधारों पर किया कि प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों के अनुयायियों को गहरा धक्का लगा। वे सोचने लगे कि अलंकारसम्प्रदाय मे क्या ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो काव्य का मूलभूत आधार माना जाय। इसी प्रतिक्रिया का फल है—वक्रोक्ति का उदय। इसके अभ्युदय का समग्र श्रेय आचार्य कुन्तक को है। अलकारसम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक भामह के सिद्धान्तों की गहरी छानबीन करने पर ही कुन्तक वक्रोक्ति के तत्त्व पर आरूढ हुए। ध्वनि की प्रतिक्रिया भोजराज में स्पष्टतः दीख पडती है। वे ध्वनि को मानते हुए भी प्राचीन काव्य-तत्त्वो की अवहेलना नहीं करते, प्रत्युत ध्वनि के साथ उनका समन्वय दिखलाने में ही भोजराज की मौलिकता है। भोज ने भी वक्रोक्ति की कल्पना उसी समय में की। कुन्तक ने कश्मीर मे और राजा भोज ने धारा मे एक ही साथ, परन्तु अज्ञात रूप से, वक्रोक्ति के सिद्धान्त को काव्य के अन्तरंग तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। भोज के अलकारग्रन्थो मे काव्य के अन्य अगो का इतना विस्तृत विवेचन है कि इसके भीतर वक्रोक्ति दव गई, परन्तु कुन्तक की आलोचना प्रासाद का दृढ़ आधार ही है—वक्रोक्ति। इसीलिए वे वक्रोक्तिसम्प्रदाय के मान्य आचार्य के रूप मे इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

---

१ भरत ने वाचिकानय के प्रसग मे लिखा है—

नानाख्यातनिपातैरुपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः
सन्धिविभक्तिषु युक्तो विज्ञेयो वाचिकाभिनयः।
—ना० शा० १४।५

अभिभवगुप्त की इस पद्य की टीका वक्रोक्तिजीवित से विशेष मिलती है। विशेषतः उपग्रह की अभिव्यञ्जकता जिसे कुन्तक 'उपग्रह वक्रता' कहते हैं। वे कहते 'अन्यैरपि सुबादि-वक्रता'। ये अन्य कौन हैं? अनुमानतः यह कुन्तक की ओर ही सकेत है।

भोजराज

भोज कुन्तक की समीक्षा से परिचित न थे, परन्तु काव्य के सौन्दर्य की आलोचना में उनके द्वारा उद्भावित सिद्धान्त कुन्तक के मान्य सिद्धान्तों से आनुकूल्य रखते हैं। वे काव्य में वक्रवचनभङ्गी से उत्पन्न चमत्कार से भली-भाँति अभिज्ञ हैं। उनकी दृष्टि मे लौकिक वचन का मुख्य अंश है—ध्वनि। दोनों की विशिष्टता प्रदर्शित करते समय भोजराज कहते हैं—

वक्रताहीन वचन ही शास्त्र मे तथा लोक में 'वचन' के नाम से प्रसिद्ध है और अर्थवाद आदि मे जो वक्रवचन है वह 'काव्य' कहलाता है। काव्य और अकाव्य, लौकिकवचन तथा कविवचन, मे अन्तर भोज ने स्पष्ट दिखलाया है। लौकिक कथनों मे वस्तुओं को सुन्दर रूप से कहने में किसी प्रकार का आग्रह नही है, बल्कि बिना किसी नमक मिर्च मिलाये ही उनको सीधे-सादे ढग से कहना ही उनकी विशेषता है, परन्तु ज्योंही हम किसी की प्रशसा करने चलते हैं या निन्दा करने पर उतारू होते हैं, त्योंही हम कथन के प्रकार में एक अतिशय उत्पन्न कर देते हैं और उसी अतिशयकथन—अतिशयोक्ति—के सहारे अपनी अभीष्ट सिद्धि मे कृतकार्य हैं। ऐसी दशा मे काव्योपयोगी वचन का उदय होता है। भोज की सम्मति में 'वचन' मे जो तात्पर्य होता है वही काव्य मे 'ध्वनि' होती है—

तात्पर्य—यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः। तदुक्तं 'तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये'

वचन और काव्य का भेद भोजराज के ही शब्दों मे देखिये—

कः पुनरनयोः काव्यवचसोः ध्वनितात्पर्ययोः विशेषः ? उच्यते

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥

—शृंगारप्रकाश

भोजराज का यह काव्यलक्षण वक्रत्व के आधार पर निर्मित हुआ है। इस प्रकार भोज ने तथा कुन्तक ने स्वतन्त्ररूप से भामह की वक्रोक्ति कल्पना को आलोचनाशास्त्र में पुनः उज्जीवित किया। इसीलिए दोनों का समीक्षण अनेक

स्थलो पर साम्य रखता है। उदाहरण के लिए कतिपय समानस्थलों का निर्देश ही पर्याप्त होगा—

(१) कुन्तक ने काव्य या नाटक के अन्तर्गत प्रकरणों में 'अनुग्राह्यानुग्राहक भाव अंगीकार किया है (वक्रोक्तिजीवित पृ० २२५-२६) यही भोज का है—**सुश्लिष्ट-सन्धित्व** नामक प्रबन्धगुण। उनका कहना है कि काव्य के सर्गों का वर्ण्य विषय एक दूसरे के साथ अनुरूप तथा अनुकूल होना चाहिए, तभी समग्र प्रबन्ध मे 'एकवाक्यता' उत्पन्न होती है।

(२) कुन्तक अङ्गिरस तथा अङ्गरस मे सामञ्जस्य स्वीकार करते हैं और यह होती है उनकी **प्रबन्धवक्रता**। इसे ही भोजराज **'रसभाव निरन्तरत्व'** नामक प्रबन्ध के अर्थगुणों मे अन्यतम गुण मानते हैं। एक रस का प्रबन्ध मे अंगीकार वैरस्य का कारण होता है, जिस प्रकार एक रस भोजन भोजन करनेवाले व्यक्तियों के हृदय मे विरक्ति ही उत्पन्न करता है, अरुचि ही पैदा करता है, आनन्द नहीं!

(३) नाटक के भीतर नाटक रखने की व्यवस्था कुन्तक के ग्रन्थ में की गई है (पृ० २३५) और इसे ही भोजराज **'गर्भाङ्कविधान'** नाम से प्रबन्ध का सौन्दर्यसाधक गुण मानते हैं। बालरामायण के तृतीय अक मे सीतास्वयम्बर नामक नाटक का विधान राजशेखर ने किया है। दोनो ने इसीका दृष्टान्त अपने ग्रन्थो मे दिया है।

(४) काव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग—पुरुषार्थ-की प्राप्ति होता है। कुन्तक इसे प्रबन्धवक्रता का ही एक प्रकार मानते हैं (पृ० २४५)। यह प्रकार भोजराज को भी **'महावाक्यार्थ'** के नाम से अभीष्ट है। इसे वे शब्दब्रह्म का विपरिणाम मानते हैं।

इसी प्रकार के अनेक समीक्षण दोनों के ग्रन्थों मे समान रूप से उपलब्ध होते हैं। इससे भोजराज भी वक्रता या वक्रोक्तिके उपासक प्रतीत होते हैं, परन्तु वे कुन्तक के समकालीन ही हैं। मैंने ऊपर कहा है कि दोनो आलोचक एक ही समय, परन्तु नितान्त अज्ञातरूप से, भामह की वक्रोक्ति को पुनरुज्जीवन देने मे व्यस्त थे। अतः न कुन्तक का प्रभाव भोज पर है और न भोज का कुन्तक पर। समकालीन-समीक्षण के सादृश्य का यह एक निदर्शनमात्र है।

अतः वक्रोक्ति की व्यापक तथा मौलिक भावना आचार्य कुन्तक की गूढ़ विवेचनाशक्ति का मनोहर विलास है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं कर सकता।

(३)

वक्रोक्ति और ध्वनि

कुन्तक के ध्वनि के प्रति क्या विचार थे? अब इसकी मीमासा करना उचित होगा।

(१) देशकाल के आधार पर कोई भी आलोचक इन्हे ध्वनिसिद्धान्त से अपरिचित नहीं मान सकता। ये उसी काश्मीर में आनन्दवर्धन से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पीछे उत्पन्न हुए जहाँ ध्वनि का उदय तथा व्यवस्थापन हो चुका था। इन्होंने अपने ग्रन्थ में ध्वनिकार का स्पष्टतः नामनिर्देश किया है, (पृष्ठ ८६)। अतः आनन्द के सिद्धान्त तथा रचनाओं से इनका पूर्ण परिचय हमें विस्मय मे नही डालता। आनन्दवर्धन के प्रति इनकी भूयसी श्रद्धा स्थान स्थान पर झलकती है। इन्होंने आनन्द के स्वरचित पद्यों को भी वक्रता के उदाहरण के रूप में अनेकत्र उद्धृत किया है। ध्वन्यालोक का मंगल श्लोक—स्वेच्छा-केसरिणः स्वच्छ—क्रियावैचित्र्यवक्रता के उदाहरण में उपन्यस्त किया गया है। इससे इनका ध्वनिसम्प्रदाय से गाढ़ परिचय अभिव्यक्त हो रहा है।

(२) कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे जिनकी दृष्टि मे अभिधाशक्ति ही कवि के अभीष्ट अर्थ के द्योतन के लिए सर्वथा समर्थ होती है, परन्तु यह अभिधा केवल संकीर्ण आद्या शब्दवृत्ति नही है। ये अभिधा का क्षेत्र इतना व्यापक मानते थे कि उसके भीतर लक्षणा और व्यञ्जना का भी पूर्णरूप से अन्तर्भाव सम्पन्न हो जाता था। इन्होंने अपना मत इसी विषय में विशदतया प्रतिपादन किया है। वाचक शब्द द्योतक तथा व्यञ्जक उभय प्रकार के शब्दों का उपलक्षण है[१]। दोनों में सामान्यधर्म है—अर्थप्रतीतिकारिता। जिस प्रकार वाचक शब्द अर्थप्रतीति कराता है, उसी प्रकार द्योतक तथा व्यञ्जक शब्द

१ यस्मादर्थप्रतीति-कारित्वसामान्याद् उपचारात् तावपि (द्योतकव्यञ्ज-कावपि शब्दौ) वाचकावेव। एव द्योत्यव्यंग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादु-पचारात् वाच्यत्वमेव।

—व० जी० कारिका १। ८, पृ० १५

भी अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराते हैं। इसी कारण उपचार से द्योतक तथा व्यञ्जक शब्दो के लिए 'वाचक' का प्रयोग न्यायसंगत ही है इसी प्रकार 'प्रत्येयत्व' (=ज्ञेयत्व) धर्म के सदृश्य से द्योत्य और व्यग्य अर्थ भी उपचारदृष्ट्या 'वाच्य' कहे जा सकते हैं। 'वाचक' की कल्पना इन्होंने अन्यत्र (पृ० १७) विशद शब्दों मे अभिव्यक्त की है—

कविविवक्षित-विशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षम् वाचक शब्द वही है जो कवि के द्वारा अभीष्ट विशेष अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुन्तक ने तीनों शब्दशक्तियों—अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना—को काव्य मे स्वीकार किया है, परन्तु लक्षणा और व्यञ्जना का अन्तर्भाव इन्होने सुगमता के कारण अभिधा के भीतर कर रखा है। अतः अभिधावादी आचार्य होने पर भी कुन्तक की दृष्टि संकीर्ण न थी।

(३) वक्रोक्ति में ध्वनिप्रकार का अन्तर्भाव। कुन्तक की वक्रोक्ति के विशिष्ट प्रकारों के भीतर ध्वनि के अनेक विभेद सिमिटकर विराजते हैं। (क) कुन्तक ने 'उपचारवक्रता' के अन्तर्गत आनन्दवर्धन की 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' नामक लक्षणामूलक ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। सादृश्य के अतिशय से जहाँ एक धर्म का दूसरे वस्तु के ऊपर आरोप किया जाता है वहाँ होती है 'उपचारवक्रता'। रुय्यक ने भी इसके भीतर अनेक ध्वनिप्रभेद का सन्निवेश स्वीकार किया है—"उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनि-प्रपञ्चः स्वीकृत एव"। इसके उदाहरण में कुन्तक ने 'गउणं अ मत्तमेहं' (गउडवहो गाथा ४०६) गाथा दी है[1] और आनन्द वर्धन ने इसे ही अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के दृष्टान्तरूप में उद्धृत किया है (ध्वन्या पृ० ६३)

---

१ छाया—गगनं च मत्तमेघ धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः॥

मत्त तथा निरहङ्कारत्व चेतन पदार्थो के धर्म हैं, परन्तु यहाँ अचेतन वस्तुओं—मेघ तथा मृगाक—के धर्मरूप से उपचरित हैं। अतः उपचार-वक्रता है—द्रष्टव्य व० जी० पृ० १०१

(ख) रूढि वैचित्र्यवक्रता के भीतर कुन्तक आनन्दवर्धन के 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि (वह ध्वनि जिसमे वाच्य अर्थ अन्य अर्थ में परिवर्तित किया जाता है) का निवेश मानते हैं। इस प्रसङ्ग में (पृष्ठ ८८-८९) कुन्तक ने दो उदाहरण दिये हैं—'ताला जाअंति गुणा' तथा 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो'। इन दोनों पद्यों को आनन्दवर्धन ने अर्थान्तर सक्रमित वाच्य के उदाहरण के अवसर पर दिया है (पृ० ६२,६१) इनमें से प्रथम पद्य तो आनन्द की ही रचना है। अतः दोनों आचार्यों के उदाहरण भी एक ही हैं। यही वक्रोक्तिजीवित (२।८) के एक पद्य[1] मे 'प्रतीयते' शब्द की व्याख्या करते समय कुन्तक ने स्पष्ट ही ध्वनिकार तथा उनकी ध्वनि का निर्देश किया है[2]। इस प्रकार आनन्दवर्धन के द्वारा उल्लिखित लक्षणामूलक ध्वनि के दोनों प्रकारो का अन्तर्भाव कुन्तक ने पूर्वोक्त दोनों वक्रोक्तियों मे सुचारुरूप से दिखलाया है।

(ग) 'पर्यायवक्रता' में कभी कभी श्लिष्ट वृत्ति से अलंकारान्तर का द्योतन किया जाता है तथा प्रस्तुत वस्तु के ऊपर अप्रस्तुत वस्तु का सम्बन्ध भी आरोपित होता है। ऐसे स्थलों पर कुन्तक ने शब्दशक्तिमूल अनुरणन-रूप व्यग्यभूत पदध्वनि की सत्ता स्वयं शब्दतः समर्थित की है[3]।

> इत्थ जडे जगति को नु बृहत् प्रमाण—
> कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम्।
> इत्यागतं झटिति योऽलिनमुन्ममाथ
> मातङ्ग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ ॥

---

१ यत्र रूढेरसम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता।
सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ॥
—व० जी० २।८

२ यस्माद् ध्वनिकारेण व्यग्यव्यञ्जक-भावोऽत्र सुतरा समर्थितः तत् किं पौनरुक्त्येन।

३ एष एव शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप-व्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः बहुषु चैवविधेषु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा ॥
—व० जी० पृ० ६५

श्लोक का आशय है कि इस जड़ जगत् में बड़े भारी कानवाला हाथी क्या रमणीय ध्वनि का पात्र हो सकता है? मानो इसीलिए हाथी ने उसके मद के लोभ से आनेवाले भौरे को तुरन्त ही मार भगाया। और अधिक क्या कहा जाय? वह तो 'मातङ्ग' (हाथी तथा चण्डाल) ही ठहरा। इस पद्य में 'मातङ्ग' शब्द में पर्यायवक्रता विराजती है, क्योंकि यह शब्द श्लिष्टवृत्ति से चण्डालरूप अप्रस्तुत वस्तु की प्रतीति उत्पन्न कर रूपकालंकार की द्योतना कर रहा है।

प्रस्तुत हस्तीरूप वस्तु में अप्रस्तुत चण्डालरूप वस्तु से सम्बन्धारोप होने से अर्थात् रूपकालकार की छाया की सम्पत्ति इस पद्य के सौन्दर्य का कारण है। यह पर्यायवक्रोक्ति का प्रकार पद ध्वनि का ही प्रकार है। इस प्रसङ्ग में कुन्तक ने (पृ० ६५) बाणभट्ट के हर्षचरित के दो दृष्टान्त दिये हैं जिन्हें आनन्दवर्धन ने ध्वनि के उदाहरण मे पहिले ही प्रस्तुत किया है[१]।

(४) ध्वनि का स्पष्ट निर्देश—

कुन्तक ने प्रतीयमान अर्थ की सत्ता काव्य में स्वतः उद्घोषित की है। अब तक वक्रताप्रकार में ध्वनि के अन्तर्भाव की चर्चा हमने की है, अब 'प्रतीयमान' अर्थ के अस्तित्व का स्पष्ट निर्देश किया जा रहा है।

(क) कुन्तक ने 'विचित्र' मार्ग में वाक्यार्थ की प्रतीयमानता का विशद उल्लेख किया है। वे स्पष्टरूप से कहते हैं कि वाच्य तथा वाचक की वृत्ति से व्यतिरिक्त व्यग्यार्थ की प्रतीति इस मार्ग मे उन्मीलित होती है। इस विशद उल्लेख से कुन्तक की भावना में कथमपि सन्देह नहीं किया जा सकता कि वे भी आनन्दवर्धन के समान काव्य मे ध्वनि के सौन्दर्य के पक्षपाती हैं।

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्[२]॥

(ख) किसी वस्तु के स्वभाव का सरस समुन्मीलन वस्तुवक्रता का ही एक प्रकार है। इसके वर्णन मे वक्रोक्तिकार ने लिखा है—वस्तुनो वक्रशब्दैक-

१ ध्वन्यालोक पृ० ६६ तथा १२७।

२ वक्रोक्तिजीवित १। ४०; इसकी व्याख्या के लिए देखिए, वहीं पृ० ६४।

गोचरत्वेन वक्रता'। प्रश्न है 'गोचर'शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है? वाचकत्वेन वक्रता से ही काम चल सकता है। कुन्तक का उत्तर है—नहीं, स्वरूप का उन्मीलन शब्दों के द्वारा सर्वत्र वाच्य ही नहीं होता, प्रत्युत व्यंग्यरूप से भी यह उन्मीलन सम्भव है[1]। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर उन्होंने 'गोचर' शब्द का प्रयोग कारिका में किया है। कुन्तक की 'वस्तु-वक्रता' स्पष्टतः आनन्द की 'वस्तुध्वनि' है।

(ग) कुन्तक ने अनेक अलंकारों के द्विविध रूप माने हैं—वाच्य तथा प्रतीयमान। रूपक वाच्य भी होता है तथा प्रतीयमान भी। वाच्यरूपक में तो उपमेय और उपमान का अभेदारोप स्पष्ट शब्दों में ही वाच्यरूप से किया जाता है परन्तु प्रतीयमान रूपक मे यह अभेदारोप वाच्यमुखेन न होकर व्यग्यमुखेन ही प्रस्तुत किया जाता है। इस अलंकार का दृष्टान्त कुन्तक ने दिया है (पृ० १८७)—'लावण्यकान्तिपरिपूरित' पद्य जो आनन्दवर्धन की निजी रचना है और जिसे उन्होंने अपने ग्रन्थ मे (पृ० ११०) 'रूपकध्वनि' कहा है। अतः कुन्तक का 'प्रतीयमान रूपक' आनन्द की 'रूपकध्वनि' ही निःसंशय है।

(घ) इसी प्रकार व्यतिरेकालंकार द्विविध होता है—शब्दव्यतिरेक और प्रतीयमानव्यतिरेक। शब्दव्यतिरेक कविप्रवाह प्रसिद्ध होता है और उसके समर्पण की योग्यता शब्दों मे स्वतः विद्यमान रहती है, परन्तु प्रतीयमान-व्यतिरेक वाक्यार्थ के केवल सामर्थ्य से ही बोध्य होता है[2]।

(ङ) उपमा भी द्विविध प्रकार की होती है। उपमालकार मे तो उपमेय-उपमान का साधर्म्य वाच्य होता है, परन्तु दीपक, निदर्शना आदि अलंकारों

---

१ वाच्यत्वेनेति नोक्तम्, व्यंग्यत्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात्।

—व० जी० पृ० १३४

२ शाब्दः प्रतीयमानो वा व्यतिरेकोऽभिधीयते।
शाब्दः कविप्रवाहप्रसिद्धः तत्समर्पणसमर्थाभिधानेनाभिधीयमानः।
प्रतीयमानो वाक्यार्थसामर्थ्यमात्रावबोध्यः।

—व० जी० पृ० २०७

मे औपम्य गम्य रहता है। अतः उन्हे हम प्रतीयमान उपमा कह सकते हैं।

(च) 'परिवृत्ति' को अन्य आलंकारिक अलंकार मानते हैं, परन्तु कुन्तक ने इसे अलंकार्य ही माना है अर्थात् परिवृत्ति वर्ण्यवस्तु का स्वरूपाधायक होता है, भूषणाधायक नहीं होता। वे परिवृत्ति का अत्यन्ताभाव काव्य मे नही मानते, प्रत्युत अलंकारत्व का ही निषेध करते हैं। प्रतीयमानता केवल अलंकरण की ही साधिका नही होती, अलंकार्य वस्तु की द्योतिका भी होती है। प्रतीयमान अलंकरण से रसिकों को आह्लाद आता है; यह ठीक है, परन्तु अलंकार्य भी यदि प्रतीयमान हो, तो भी उनका आह्लाद उसी प्रकार सम्पन्न होता है। इसी प्रसङ्ग मे वक्रोक्तिकार ने प्रतीयमान के तीनो भेदो का निर्देश किया है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि[१]। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक काव्य में व्यंग्यार्थ की सत्ता के पक्षपाती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से कुन्तक आनन्दवर्धन के पश्चाद्युग के मान्य आलंकारिक हैं। उनका समय आनन्दवर्धन तथा मम्मट के मध्यभाग से सम्बन्ध रखता है। आनन्द ने अपने ग्रन्थ मे ध्वनि के विरोधियों का मुँहतोड़ उत्तर देकर ध्वनि को स्वतन्त्र तथा सर्वश्रेष्ठ काव्यतत्त्व के आसन पर आसीन करा दिया था। कुन्तक भामह के अनुयायी थे। वे अलकारसम्प्रदाय के ही पक्षपाती थे, परन्तु वे ध्वनि जैसे काव्यतत्त्व की अवहेलना भी नही कर सकते थे। आनन्द ने इतनी युक्तियो से तथा इतनी विवेचकता से ध्वनितत्त्व का उन्मीलन किया था कि उनका खण्डन करना असम्भव नही तो दुःसम्भव अवश्य था। ध्वनि पर प्रबल आक्रमण किया महिमभट्ट ने, परन्तु समय ने बतला दिया कि उस आक्रमण मे उग्रता ही अधिक थी, विवेकशीलता कम। महिमभट्ट रस

---

१ न तु परिवृत्तेः अत्यन्ताभावोऽस्माभिरभिधीयते वर्णनीयत्वादलङ्कृतिः न भवति, इत्यस्माकमभिप्रायः। न च प्रतीयमानतामात्रं अलंकरणत्वसाधनं, अलंकार्यवस्तुमात्रेऽपि तस्याः सम्भवात्। न च प्रतीयमानं तदलकरणं तद्विदाह्लादकारित्वादिति युज्यते वक्तुम्, अलंकार्येऽपि तद्विदाह्लादकारित्वदर्शनात्; वस्तुमात्रं अलंकारा रसादयश्चेति त्रितयोपपत्तेश्च।

व० जी० पृ० ३० २

को ध्वनि का विषय न मानकर अनुमान का पात्र मानते हैं, उनमें पाण्डित्य अधिक है, वैदग्धी कम। कुन्तक विदग्ध अधिक थे, उनकी 'वक्रोक्ति' सचमुच काव्य का एक उदात्त तथा व्यापक सिद्धान्त है और इसीलिए उन्होंने ध्वनि को इसके अन्तर्गत मानकर अपनी उदारता का परिचय दिया है। यह हो नहीं सकता कि आनन्द से अर्वाचीन आलंकारिक उनके ध्वनिमत को आँख मूँदकर पी जाय। या तो वह खण्डन कर अपने मत की युक्तिमत्ता दिखलावेगा अथवा परम्परया मान्य तथ्यों में उसका अन्तर्भाव दिखलावेगा। इनमें प्रथम पक्ष था महिमभट्ट का और दूसरा था कुन्तक का। इसमें कुन्तक ही विशेष सफल तथा कृतकार्य हुए हैं। उनकी सफलता का सबसे अधिक प्रमाण यही है कि यद्यपि उनकी 'वक्रोक्ति' को वक्रोक्तिरूप से ध्वनिमतानुयायी आलोचकों ने अवश्य ही ग्रहण नहीं किया, तो भी वक्रोक्ति के अनेक प्रकारों को उन लोगों ने ध्वनि के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है। यह कुन्तक की आलोचनाशक्ति का डिण्डिम घोष है। कुन्तक भामह के अलंकारसम्प्रदाय के पुनर्जीवन में अवश्य ही कृतार्थ नहीं हुए, परन्तु उन्होंने साहित्य-संसार को एक ऐसी महनीय वस्तु दी जिसे उसने विशुद्धरूप में नहीं, परन्तु प्रकारान्तर से अङ्गीकार किया है। यह आचार्य कुन्तक के लिए भूषण ही है, दूषण नहीं।

(४)

वक्रोक्ति और रस

कुन्तक काव्य में चमत्कारवादी आचार्य हैं, परन्तु उनका चमत्कारवाद साधारण कोटि के चमत्कारवाद से कहीं अधिक ऊपर उठा हुआ है। चमत्कार पाठकों के हृदय को अनुरञ्जन करने में समर्थ होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इससे जो लोग मनोरञ्जन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं, वे कविता में चमत्कार ही ढूँढा करते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु जो लोग उससे ऊँचा लक्ष्य मानते हैं; जिनकी दृष्टि में कविता मानवहृदय की वृत्तियों को रमानेवाली सरस वस्तु है, वे चमत्कार-मात्र को काव्य नहीं मान सकते। चमत्कारवादी कवि कविता में जिस चमत्कार को सर्वस्व मानते हैं, वह चमत्कार उक्ति की विचित्रता की

उपज है और इसके अन्तर्गत वर्णविन्यास की विशिष्टता (जैसे अनुप्रास में), शब्दों की क्रीडा (जैसे श्लेष, यमक आदि मे), वाक्य की वक्रता (जैसे विरोधाभास, असंगति आदि मे), अप्रस्तुत वस्तुओं की अद्भुतता तथा प्रस्तुत वस्तु के साथ अप्रस्तुत वस्तु की दुरधिरोहिणी कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) आदि बाते प्रधानतया आती हैं। यह चमत्कार नितान्त निम्नकोटि का है और इसपर आग्रह बालरुचि वाला कवि तथा अव्युत्पन्न आलंकारिक ही कर सकता है।

कुन्तक ऐसे निम्नकोटि के चमत्कार की सत्ता काव्य में नही मानते। उनकी वक्रोक्ति काव्य का एक महनीय तथा सर्वातिशायी तत्त्व है। इसीलिए इसका अन्य काव्याङ्गों के साथ विरोध कथमपि सिद्ध नहीं होता। भरत-मुनि ने नाट्य की साङ्गोपाङ्ग समीक्षा कर रसतत्त्व का वैज्ञानिक विवेचन किया है। अतः उनके बाद होनेवाला आलंकारिक काव्य में रस की सत्ता से अनभिज्ञ होगा, यह कथमपि विश्वासयोग्य बात नही है। परन्तु सम्प्रदाया-नुसार आलंकारिकों की दृष्टि विभिन्न रही है। वे किसी एक विशिष्ट तत्त्व को ही काव्य की आत्मा या मुख्य चमत्कारजनक साधन मानने के पक्षपाती थे। फलतः उन्होने रस को उस स्वाभीष्ट काव्यसार के अन्तर्गत ही मानकर सन्तोष किया है, पर रस की सर्वथा अवहेलना की गई हो, ऐसा तो कहीं भी दिखलाई नही पडता। यह मानी हुई बात है कि अलकारवादी आलोचक रस को अलंकार का ही एक विशिष्ट प्रकार मानेगा, और हुआ भी ऐसा ही है। अलकारवादी भामह रस को 'रसवत्' अलंकार के नाम से काव्य में ग्राह्य और स्पृहणीय मानते हैं। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी भामह के पदों का अनुसरण किया है। वे वक्रोक्ति के कतिपय प्रकारों के ही भीतर रस का समग्र प्रपञ्च अन्तर्निविष्ट करते हैं। कुन्तक ने वाक्य की वक्रता (अर्थात् अलंकार) के सम्बन्ध में, तथा भिन्न भिन्न मार्गों के प्रसङ्ग में और प्रबन्ध-प्रकरणवक्रता के उपन्यास के अवसर पर रस का विशेष मार्मिक विवरण अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। काव्य में रस के उन्मीलन की आवश्यकता उन्हे मान्य है, परन्तु इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर अपनी वक्रोक्ति के भीतर ही उपादेय मानते हैं।

(१) इतिवृत्त—कवि काव्य मे या नाटक में इतिवृत्त के ऊपर अपनी कथावस्तु का विन्यास करता है। इतिवृत्त कभी तो प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध रखता है और कभी कभी कवि अपनी कल्पना से उसके अंशों को परिवर्तन कर उसे एक नवीन शैली में ढालता है। संस्कृत के मान्य आलोचकों की दृष्टि मे काव्य मे इतिवृत्त का स्थान सदा गौण रहा है। इतिवृत्त का साङ्गोपाङ्ग विवरण ऐतिहासिक के अधिकारक्षेत्र मे आता है, कवि के कल्पनाक्षेत्र मे नहीं। कवि प्राचीन कथा को हुबहू उसी रूप मे लिखने नहीं बैठा है। उसका काम श्रोताओ के कथाविषयक कौतूहल की तृप्ति नही है, वह उनके मनोरञ्जन करने के लिए अपनी कोमल कल्पना का प्रयोग नही करता है। उसका उद्देश्य अतीव महान् होता है। इसीलिए कुन्तक ने कविवाणी की यह यथार्थ प्रशसा की है—

> निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।
> गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥

व० जी० पृ० २२५

कथामात्र के ऊपर आश्रय लेनेवाली कविवाणी चमत्कारशून्य, निर्जीव होती है, परन्तु निरन्तर रसोन्मीलन से आप्लुत सन्दर्भ पर अवलम्बित कविवाणी सचमुच जीवनीशक्ति से परिस्फुरित होती है। इस प्रसङ्ग मे कुन्तक आनन्दवर्धन के ही सिद्धान्त का शब्दान्तरों मे प्रतिपादन करते हैं। आनन्द ने बहुत ही ठीक कहा है—

न कवेरितिवृत्तनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम् । इतिहासादेव तत्-सिद्धेः—(ध्वन्यालोक पृष्ठ १४८)

अर्थात् इतिवृत्त—इतिहासप्रसिद्ध घटना—का निर्वाह कवि का प्रयोजन नही होता, क्योंकि इतिहास से ही इसकी सिद्धि हो जाती है। अतः रसोन्मेष ही कवि का मुख्य तात्पर्य है। यह तुलनात्मक विवेचन कुन्तक के रस-विषयक मन्तव्य का स्पष्ट द्योतक है। कवि की वाणी रसनिर्भर होनी चाहिए।

(२) कुन्तक के अनुसार वस्तु का स्वभाव काव्य मे अलंकार्य होता है, अलंकार नही। काव्य मे निबद्ध स्वभाव चेतन, अचेतनभेद से दो प्रकार

का होता है। चेतन वस्तु का स्वभाव मुख्य होता है और अचेतन पदार्थों का गौण। चेतन देवता, असुर तथा मनुष्य का स्वभाव उस दशा में अतीव रमणीय तथा चमत्कारी होता है जब वह कमनीय रस के परिपोष से मनोहर हो[१]। अर्थात् काव्य में रस-पेशल स्वभाव समधिकरमणीय अलंकार्यवस्तु होता है। इस प्रकार कुन्तक वस्तु-स्वभाव के मनोहर होने मे रस-पेशलता को प्रधान कारण मानते हैं। इसके उदाहरण मे उन्होंने विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अङ्क में विप्रलम्भश्रृङ्गार का तथा 'तापसवत्सराज' नामक नाटक के द्वितीय अङ्क में करुणरस के द्योतक पद्यों को दिया है। कुन्तक ने अपने कथन के उदाहरण मे कालिदास का यह विप्रलम्भद्योतक पद्य उद्धृत किया है:—

> तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
> स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
> तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
> सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥
>
> —विक्रमोर्वशीय ४।२

उर्वशी के विरह में उन्मत्त पुरुरवा की यह उक्ति है। वह अपनी प्रियतमा के अकारण अन्तर्धान से इतना क्षुब्ध हो गया है कि उसका चित्त एक निश्चय के ऊपर दृढ नही होता। वह नाना कल्पना किया करता है और स्वय उन्हे भ्रान्त तथा असत्य सिद्ध करता है। वह सोचता है कि संभवतः क्रुद्ध होकर मेरी प्रियतमा दिव्यशक्ति के बल पर कहीं छिप कर है। परन्तु दूसरे क्षण उसके मन मे यह विचार आता है कि वह बहुत दिनो तक कोप

---

१ मुख्यमक्लिष्टरत्यादि-परिपोषमनोहरम्।

—व० जी० ३।७

अक्लिष्टः कदर्थनाविरहितः प्रत्यग्रतामनोहरो यो रत्यादिः स्थायिभावः, तस्य परिपोषः श्रृङ्गारप्रभृतिरसत्वापादनम्—स्थाय्येव रसो भवेदिति न्यायात् तेन मनोहरं हृदयहारि।

—वही पृ० १५० (वृत्ति)

नही करती थी। तो क्या वह स्वर्गलोक में उड़ गई है? परन्तु उसका मन तो मेरे ऊपर नितान्त स्नेह से स्निग्ध था। मेरे सामने रहने पर उसे हर ले जाने की क्षमता असुरो में भी नही है; परन्तु वह मेरे नेत्रों से सदा के लिए ओझल हो गई है। हे भगवन्, यह मेरा कैसा भाग्य है? उन्मत्त पुरुरवा के स्वभाव का कवि-कृत चित्रण विप्रलम्भ श्रृङ्गार का विशेषरूपेण परिपोषक है। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक चेतन वस्तुओं के स्वभाववर्णन मे रसजन्य चमत्कृति के परम उपासक हैं।

(३) वक्रोक्तिजीवितकार की सम्मति में वस्तु-वक्रता का एक मुख्य प्रकार उस समय प्रकट होता है जब चेतन तथा जड़ (लता, नदी, पर्वत आदि) पदार्थों का स्वरूप रस के उद्दीपन करने की योग्यता से सजित दिखलाया जाय। कवि प्रकृति का वर्णन स्वतन्त्र रूप से भी करता है तथा रसोद्दीपन सामग्री के रूप मे भी। कुन्तक प्रकृति के पदार्थों मे रसोद्दीपन की क्षमता को विशेष महत्त्व देते हैं[१]। वसन्त के समय में कोकिल की कूक सहज-रूप से ही उठती है। परन्तु यदि वही मनस्विनी नायिका के अभिमान को चूर-चूर कर देने मे समर्थ वर्णित हो तो हमारे आलोचक की दृष्टि मे यह कमनीय वाक्यवक्रता होगी। श्रृङ्गाररस के उद्दीपक होने से कालिदास का यह वर्णन कुन्तक की दृष्टि मे नितान्त सरस तथा रुचिकर है—

चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः
पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।
मनस्विनीमानविघातदक्षं
तदेव जातं वचनं स्मरस्य॥

कुमार० ३।३२

आम्र के अङ्कुर के आस्वाद से मधुरकण्ठ कोकिल जो मीठी बोली बोल रहा था वही मनस्विनी स्त्रियो के मान को दूर करने में नितान्त समर्थ कामदेव का वचन बन गया।

---

१ रसोद्दीपन सामर्थ्य—विनिबन्धन—बन्धुरम्।
चेतनानाममुख्याना जडाना चापि भूयसा॥
—व० जी० ३।७ (पृ० १५३)

(४) रस को स्व शब्द से अवाच्य माननेवाले आनन्दवर्धन की सम्मति कुन्तक को भी मान्य प्रतीत होती है। इसी प्रसंग मे इन्होंने उद्भट के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया है। आचार्य उद्भट का विशिष्ट मत है कि रस 'पञ्च-रूप' होता है—**पञ्चरूपा: रसा:** अर्थात् रस का आविर्भाव इन पाँच रूपों से होता है[1] (१) स्व शब्द से (रस के वाचक शृङ्गार, हास्य वीर आदि शब्दों से), (२) स्थायीभाव से, (३) संचारीभाव से, (४) विभावों से, (५) अभिनय से। इस प्रकार उद्भट रस को अभिधा का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। इसका विस्तार के साथ खण्डन आनन्द-वर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में किया है। उनका कथन है कि रस विभवादिकों के द्वारा व्यङ्ग्य होता है, स्वशब्द के द्वारा कथमपि वाच्य नहीं होता। यदि रस इस प्रकार वाच्य होने लगेगा तो सूखे वृत्तकथन से भी रस का आनन्द आने लगेगा। उस सुन्दरी को देखकर 'मेरे हृदय में शृङ्गार उत्पन्न हुआ', यह कोरा वाक्य भी उद्भट की मान्यता के अनुसार रस का उद्दीपन करेगा। परन्तु क्या रससामग्री से विरहित इस वाक्य से रस की कथमपि प्रतीति होती है? सहृदयों का अनुभव तो इसका उत्तर निषेधरूप से ही देता है। जिस प्रकार खाली लड्डू के नाम लेने से नाम लेनेवाले का मुँह मीठा नही होता उसी प्रकार रस-शब्दमात्र से आनन्द का उद्रेक नहीं होता। आनन्दवर्धन का यही मान्य सिद्धान्त[2] है और आचार्य कुन्तक भी इसी मत के अनुयायी हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उन्होंने उद्भट की हँसी उड़ाते हुए लिखा है कि यदि 'स्व' शब्द से अभिधीयमान पदार्थ श्रुति-पथ में आते ही चेतन व्यक्तियों के चर्वण-चमत्कार को उत्पन्न करते हैं; तो घृतपूर, अपूप, आदि पदार्थ 'स्व' शब्द से प्रतिपादित होते ही श्रोताओं का आस्वाद उत्पन्न

---

१ रसवत् दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।
—उद्भट का० अ० ४। ३

२ ध्वन्यालोक पृ० २३–२६

करने लगेंगे। तब तो समग्र सुखों की उत्पत्ति रम्य वस्तुओं के नामग्रहण से ही हो जायेगी। परन्तु क्या कभी जगत् में ऐसी घटना घटती है। केवल नाम-ग्रहण से वस्तु की पूर्ण अनुभूति मानने मे सबसे बड़ा दोष यह है कि लोकानुभव इसका एकदम विरोधी है। यदि ऐसी अनुभूति सम्भव होती, तो माल-पूआ का नाम लेते ही जीभ मे उसका आस्वाद होने लगता तथा घी का नाम लेते ही जीभ पिच्छिल हो जाती[१]। इसी प्रकार रसशब्द के उच्चारण से रस की अनुभूति की कथा है। अतः उद्भट का सिद्धान्त प्रमाणों के दृढ़ आधार पर कथमपि नहीं टिकता।

(५) **रसवत् अलंकार**—प्राचीन आलंकारिकों ने रस को अलंकार के रूप मे ही गृहीत किया है। इसका नाम है—रसवत् अलंकार। अलंकार-सम्प्रदाय के अनुयायी आलोचकों ने रस को अलकाररूप अंगीकार कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी है। इस अलकार के स्वरूपनिर्देश मे भी किञ्चित् पार्थक्य परिलक्षित होता है। भामह[२], दण्डी[३] तथा उद्भट[४]—इन तीनों आलोचकों की समीक्षा में रसवत् अलकार के स्वरूप मे किञ्चित् भिन्नता होने पर भी एक सर्वमान्य तत्त्व है और वह यह है कि यह कविता का भूषणमात्र है, काव्य का केवल अलंकार ही है। आनन्दवर्धन के मत मे रसवत् का स्वरूप किञ्चित् विलक्षण होता हैं। परन्तु कुन्तक का मत इन समस्त प्राचीन मान्य आलकारिको से भिन्न है। उन्होंने अपने मत की स्थापना के लिए इनके लक्षणों का व्यापकरूप से खण्डन किया है। कुन्तक कहते हैं कि जिस प्रकार स्वभाव की उक्ति काव्यवस्तु से पृथक् नहीं होती, उसी प्रकार रसवत् अलंकार मे स्वरूप से भिन्न किसी अन्य पदार्थ का प्रतिभासन नही होता। समस्त अलं-

---

१ सर्वस्य कस्यचिद् उपभोगसुखार्थिनः तैरुदारचरितैः अयत्नेनैव तदभिधानमात्रादेव त्रैलोक्यराज्यसम्पत्सौख्यसमृद्धिः प्रतिपाद्यते इति नमस्तेभ्यः।
—व० जी० पृ० १५६

२—भामह० का० अ० ३।६

३—दण्डी-काव्यादर्श २।२८०।२८१

४—उद्भट का० अ० ४।३

कारो के विषय में हम कह सकते हैं कि उनकी प्रतीति के अवसर पर प्रत्येक आलोचक को स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह अलंकार्य है और यह अलंकरण है अर्थात् एक स्वतन्त्र वस्तु है जिसकी शोभा का विधान अलंकारों के विन्यास से किया जाता है। अलंकार्य की सत्ता पृथक् होती है और अलंकारों का अस्तित्व उससे अलग होता है। परन्तु रसवत् अलकार से सम्पन्न पद्यों की समीक्षा करने पर हमे स्वरूप से, वस्तुरूप से, भिन्न किसी भी भूषणसम्पत्ति की प्रतीति नहीं होती। प्रधानरूप से वर्ण्यमान शृङ्गाररस तो काव्य मे अलंकार्य होता है, तब उससे भिन्न वस्तु ही कहाँ रहती है जिसे हम अलंकार के नाम से अभिहित करते। आचार्य दण्डी के रसवत् अलकार के दृष्टान्त पर दृष्टिपात कीजिए—

मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यया मे मरणं मतम्।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि॥

—काव्यादर्श २। २८०

वत्सराज उदयन ने वासवदत्ता के विरह में अपने प्राणों की आहुति देने का विचार कर लिया है। उसने सुन रखा है कि वासवदत्ता इस लोक को छोड़कर परलोक चली गई, परन्तु इसी लोक में उससे फिर भेंट हो जाती है। इस पर उदयन की उक्ति है—वह मर गई है, यह जानकर परलोक मे उससे संगम की इच्छा से प्रेरित होकर मैंने स्वयं मरण का विचार कर लिया था, परन्तु वही अवन्ति की राजकुमारी वासवदत्ता कैसे इसी जन्म में मुझे प्राप्त हो गई? इस पर दण्डी की समीक्षा है कि इस पद्य में रति प्रकर्ष को प्राप्तकर शृङ्गाररूप में परिणत हो जाती है और इस प्रकार यह वचन रसवत् अलकार से युक्त है—

..............रतिः शृङ्गारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद् वचः॥

—काव्यादर्श २। २८१

इस पर कुन्तक की समीक्षा है कि इस पद्य मे उदयन की जिस रति के परिपोष से सम्पन्न चित्तवृत्ति का वर्णन है वह स्वतः काव्य का शरीर है।

उसका अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की भावना ही यहाँ नहीं होती। अतः इसे अलकार्य मानना उचित है; अलकार नही[१]। कुन्तक के सिद्धान्त की द्योतना यह पद्य समुचित रूप से कर रहा है—

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि ।

—व० जी० ३ । १०

रस के ऊपर कुन्तक का इतना अधिक आग्रह है कि वे रसवत् को सब अलकारों का जीवित मानने के लिए प्रस्तुत हैं तथा उसे वे काव्य का सर्वस्व अङ्गीकार करते हैं[२]। ऐसी दशा में वक्रोक्ति को केवल चमत्कारवाद मानकर कुन्तक को केवल शब्दचमत्कारवादी मानना उचित नही। उनका रस के प्रति आग्रह ध्वनिकार आनन्दवर्धन से किसी प्रकार न्यून नहीं है। वे स्वभाव तथा अलकार के समान रस की प्रतीति में कविकौशल को ही जीवित मानते हैं[३]। यह उनके व्यापारप्राधान्य के सिद्धान्त से सर्वथा अनुकूल ही है।

(६) प्रबन्धवक्रता तथा प्रकरणवक्रता के अनेक प्रकारों के भीतर भी कुन्तक ने रसचमत्कार का अन्तर्भाव किया है। रसोन्मेष के प्रति पक्षपाती कवि का मुख्य कर्तव्य होता है मौलिक कथानक में विद्यमान अंगी रस को सर्वथा त्याग कर उसके स्थान पर सन्दर्भानुसार नवीन रस का उन्मीलन

---

१ कुन्तक की विस्तृत आलोचना के लिए देखिए वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ १५७—१६१

२ यथा स रसवन्नाम सर्वालङ्कारजीवितम्
काव्यैकसारतां याति.............. ॥
—व० जी० पृ० १७४

३ रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्।
—व० जी० पृ० १४६

करना[१]। कुन्तक ने इसके दृष्टान्त में महाभारत तथा रामायण के कथानक पर निर्मित कई नाटकों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुसार महाभारत का मुख्य रस शान्तरस है, परन्तु महाभारतीय कथा के आधार पर निर्मित वेणीसंहार नाटक मे संदर्भ की रक्षा के निमित्त शान्तरस का परिहार कर दिया है और उसके स्थान पर वीररस का उन्मीलन किया गया है। रामायणीय कथा पर आश्रित उत्तररामचरित मे भवभूति ने मूल करुणरस का परिहार कर नाटकीय वस्तु के सौन्दर्य तथा सरसता की रक्षा करने के लिए शृङ्गाररस को प्रधान रखा है। इतना ही नहीं, अङ्गीरस तथा अंगरस में भी परस्पर सामञ्जस्य रहना नितान्त आवश्यक होता है। भोजराज इसे 'रसभावनिरन्तरत्व' नामक प्रबन्ध का अर्थगुण मानते हैं। वे एक ही रस की काव्य मे निष्पत्ति कथमपि स्पृहणीय नही मानते। जिस प्रकार एकरस वाले भोजन से भोक्ता को विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार एकरस के ग्रहण से काव्य में वैरस्य उत्पन्न होता है। मानव स्वभाव से ही समता का पक्षपाती नही होता, वह एकरसता से बिल्कुल ऊ जाता है। मीठे से मीठे भोजन करने पर भी वह चटनी चाटने के लिए बेचैन रहता है, परन्तु चटनी और भोजन दोनों में अनुकूलता होनी चाहिए।

"भोजनस्यैव एकरसस्य प्रबन्धस्यापि वैरस्यमपाकरोति"

अंगिरस तथा अंगरस के परस्पर आनुकूल्य का यही महनीय सिद्धान्त है जिसे कुन्तक भलीभाँति मानते हैं। प्रबन्ध की वक्रता का एक अन्य प्रकार तब होता है जब कवि उत्तरवर्तिनी कथा में विरसता होने से उसका परित्याग कर देता है और इतिहास के एकदेश का ही विधान अपने ग्रन्थ में करता है। उदाहरणार्थ भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य की कथावस्तु का परीक्षण कीजिए। कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ में दुर्योधन के निधन तक का वृत्त

---

४ इतिवृत्तान्यथावृत्त-रससम्पदुपेक्षया।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्॥
—वही ४।१६ (पृ० २३८)

वर्ण्यत्वेन सकेतित किया है[1], परन्तु किरात के साथ अर्जुन के युद्ध तथा पाशुपतास्त्र की प्राप्ति तक ही कथा निबद्ध की है। इसका कारण है प्रकृतः रस की परिपोषकता। यह निबद्ध कथा नायक अर्जुन के अनुपम विक्रम तथा अलौकिक शौर्य की परिचायिका है। अतः भारवि ने अपनी काव्यवस्तु यहीं तक सीमित रखकर कवित्व का पूर्ण परिचय दिया है। यह भी एक प्रकार की प्रबन्धवक्रता है[2]।

यह अनुशीलन हमें इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि कुन्तक काव्य में रस के सूक्ष्म उन्मेष के गौरव को भलीभाँति जानते थे, वे काव्य के मर्म से परिचित थे। रस कुन्तक की वक्रोक्ति के नाना प्रकारों में से एक सुन्दर प्रकार है। उसकी महत्ता का पता इसी बात से चलता है कि उन्होंने रस को प्रबन्धवक्रता के कतिपय भेदों में अन्तर्भूत माना है। रस का साक्षात् सम्बन्ध काव्यवस्तु से है। वस्तु का स्वरूप ही काव्य का वास्तव शरीर है। शरीर रहने पर ही भूषण शोभाधायक होते हैं। इसी प्रकार वस्तुस्वरूप की सत्ता होने पर ही वक्रोक्ति उसकी शोभा-सम्पत्ति को बढाती है और यहाँ वस्तु स्वरूप अलंकार्य है, अलंकरण नहीं। इस वस्तुस्वरूप का एक नितान्त मनोहर प्रकार है रसपेशलता। रस से पेशल, शृङ्गार से सुकुमार वस्तु ही काव्य में मनोहर शरीर का स्थान ग्रहण कर सकती है। इसलिए कुन्तक रसवत् अलंकार को प्राचीन आलकारिकों के समान काव्य का बाह्य उपकरण, बाहरी अलकरण नहीं मानते, प्रत्युत वे उसे काव्यवस्तु का स्वरूपाधायक मानते हैं। रस

---

१ रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः
—किरात १। ४६

२ त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्॥
तदुत्तरकथावर्ति—विरसत्वजिहासया।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्य वक्रता॥
—व० जी० ४। १८, १६। पृ० २३६

की सत्ता रहने पर कविता का शरीर सुन्दर, पेशल तथा मनोहर होता है। इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि में रस का काव्य के साथ सम्बन्ध नितान्त अन्तरङ्ग तथा घनिष्ठ है। हमने सप्रमाण सिद्ध किया है कि वे आचार्य उद्भट के समान काव्यरस को 'स्वशब्दवाच्य' नहीं मानते, प्रत्युत रस को आनन्दवर्धन के समान ही 'स्वशब्दावाच्य' (अपने शब्दों के द्वारा वाच्य नहीं) मानते हैं। इससे कुन्तक व्यञ्जनावादी आनन्दवर्धन के ही सम्प्रदायानुसारी प्रतीत होते हैं। परन्तु दोनों का पार्थक्य बताते समय मैंने ऊपर दिखलाया कि वक्रोक्तिवादी आचार्य होने से कुन्तक अभिधा को ही काव्य में समधिक महत्त्व तथा प्रामाण्य देते थे, परन्तु उनकी 'अभिधा' एक सामान्या आद्या वृत्तिके रूप में गृहीत न होनी चाहिए, प्रत्युत एक व्यापक शब्दव्यापार के रूप में उसका ग्रहण अभीष्ट है जिसके भीतर लक्षणा तथा व्यञ्जना का समस्त प्रपञ्च अन्तर्भूत हो जाता है। यही कारण है कि अभिधावादी होने पर भी वक्रोक्तिकार रस को अलंकारवादी उद्भट के समान 'स्वशब्दवाच्य' नही मानते। कुन्तक के सिद्धान्त में रस एक महनीय काव्यतत्त्व के रूप मे ही गृहीत हुआ है और वह व्यङ्ग्य होने पर भी वक्रोक्ति की व्यापक कल्पना के भीतर ही सिमिट कर कहीं निवास करनेवाला है।

(५)

वक्रोक्ति और रीति-गुण

वक्रोक्तिकार ने 'रीति' का विचार बड़ी ही मार्मिकता के साथ किया है। इसका विशिष्ट विवरण हमने इस ग्रन्थ के 'रीतिविचार' विषयक परिच्छेद में बड़े विस्तार के साथ किया है। यहाँ स्मरण रखने की बात यही है कि कुन्तक रीतियो की प्राचीन संज्ञाओं की भौगोलिकता को नितान्त अवैज्ञानिक मानते हैं। 'वैदर्भी' का नामकरण 'विदर्भ', पाञ्चाली' का 'पाञ्चाल' तथा 'गौडी' का 'गौड' (बंगाल) देश के नामो के ऊपर क्रमशः रखा गया है। परन्तु कुन्तक को इस नामकरण में कोई भी वैज्ञानिक आधार या युक्तिप्रकार नही जॅचता। क्या किसी देश के जलवायु में ऐसी विशेषता रहती है कि वह उस देश के कवियों की वाणी को एक विशिष्ट धारा में प्रवाहित होने के लिए वाध्य कर सकती है? कुन्तक का उत्तर निषेधात्मक है। देश से काव्य

का कोई भी उपकार नही होता। काव्य की विशिष्टता, उसकी रचना की विचित्रता कवि के स्वभाव के ऊपर ही अवलम्बित रहती है। इसीलिए कुन्तक ने इन प्राचीन नामों को दूर हटा कर उनके स्थान तीन नवीन अथच वैज्ञानिक नामो का निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है। ये नवीन नाम इस प्रकार हैं—

सुकुमार मार्ग = वैदर्भी रीति
विचित्र मार्ग = गौडी रीति,
मध्यम मार्ग = पाञ्चालीरीति

सुकुमारमार्ग रससिद्ध वाल्मीकि तथा कालिदास की शैली है। विचित्र-मार्ग अलकारो के झङ्कार से मण्डित बाणभट्ट तथा राजेशखर की काव्य-पद्धति है। मध्यममार्ग पूर्वोक्त मार्गों के मध्यवर्ती मार्ग का नाम है जिसमे दोनों मार्गों की विशिष्टता को एकत्र रखने का श्लाघनीय रुचिर प्रयास है। कुन्तक की रीतिसमीक्षा निःसन्देह नितान्त प्रौढ, पाण्डित्यपूर्ण तथा वैदग्ध्यमण्डित है।

वक्रोक्ति और गुण

आचार्य कुन्तक की गुणकल्पना भी मौलिक तथा विलक्षण है। प्राचीन आलंकारिकों में इस विषय में दो मत थे। भरत, दण्डी तथा वामन की सम्मति मे गुणों की सख्या दस है; उधर भामह, आनन्दवर्धन तथा मम्मट के विचार में गुणों की सख्या केवल तीन है और इन्ही तीन गुणों—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—के भीतर पूर्वोक्त रस गुणों का अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर गुणों की संख्या द्विगुणित कर दी है अर्थात् वामन की सम्मति में गुण एक प्रकार से बीस हो जाते हैं। भोजराज के मत में यह संख्या और भी अधिक हो जाती है। इन सबसे विलक्षण है कुन्तक का मत। वे दो प्रकार के गुण मानते हैं—सामान्य गुण और विशिष्ट गुण। सामान्यगुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मार्ग के साथ होता है अर्थात् इनका अस्तित्व प्रत्येक मार्ग मे सम-भावेन माननीय है। विशेषगुण प्रत्येक मार्ग मे भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। उनका स्वरूप भिन्न होता है तथा कार्य भी।

साधारण गुण दो होते हैं:— (१) औचित्य, (२) सौभाग्य।

विशेषगुण चार होते हैं:—(२) माधुर्य, (२) प्रसाद, (३) लावण्य, (४) आभिजात्य।

विशेषगुणों की विशिष्टता यह होती है कि वे प्रत्येक मार्ग—सुकुमार, विचित्र तथा मध्यममार्ग—में भिन्न भिन्न रूपसम्पन्न होते हैं। सुकुमारमार्ग मे माधुर्यगुण होता है—समासरहित मनोहर पदों का विन्यास। प्रसाद वहाँ होता है जहाँ बिना किसी क्लेश के अभिप्राय की व्यञ्जना, तुरन्त अर्थ का समर्पण, रसोक्ति तथा वक्रोक्ति का निवेश होता है। इसी प्रकार लावण्य तथा आभिजात्य की कल्पना होती है। विचित्रमार्ग तथा मध्यममार्ग मे ये चारो गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु इनके अर्थ मे अन्तर हो जाता है। इसका विशेष वर्णन कुन्तक की रीतिकल्पना के अवसर पर रीतिविचार मे पहले ही कर दिया गया है। अतः उसकी पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं।

(६)

वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति

वक्रोक्ति के स्वभाव की समीक्षा के लिए उसका स्वभावोक्ति के साथ सम्बन्ध निर्धारण आवश्यक होता है। साधारण भाषा में हम कह सकते हैं कि जहाँ वर्ण्यवस्तु के स्वभाव, रूप, प्रकार का यथावत् वर्णन रहता है वहाँ होती है—स्वभावोक्ति, परन्तु जहाँ सर्वसाधारण के प्रयोग से विलक्षण प्रयोग की कल्पना की जाती है वहाँ होती है—वक्रोक्ति। यह तो हुई सामान्य चर्चा। अब इस विषय की विशेष चर्चा की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

बाणभट्ट

स्वभावोक्ति का बहुत प्राचीन उल्लेख हमे बाणभट्ट के ग्रन्थों में मिलता है। स्वभावोक्ति का प्राचीन नाम है—जाति और बाण ने इसी शब्द का प्रयोग इस प्रसिद्ध पद्य में किया है—

> नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
> विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

बाणभट्ट का कहना है कि जाति ग्राम्य, साधारण, बासी या फीकी न होनी चाहिए (अग्राम्या जातिः)। जाति है क्या ? वस्तुओं का उस रूप में वर्णन जिस रूप मे वे सर्वदा विद्यमान रहते हैं। साधारण जनों के द्वारा किया गया

वर्णन इसी प्रकार का होता है। साधारण लोगो मे भाषा का तो चमत्कार होता ही नही, भाषा की दरिद्रता के कारण वे एक ही प्रकार से किसी वस्तु का, वर्णन किया करते हैं। शास्त्रीय वर्णनो की भी यही दशा होती है—शास्त्र का विशेषत: वैज्ञानिक विषयों का काम यही है कि वे किसी वस्तु का यथावत् यथारूप वर्णन प्रस्तुत करते हैं। बाणभट्ट लौकिक तथा शास्त्रीय—दोनों प्रकार के वर्णनों को जाति के क्षेत्र से बाहर रखते हैं। जाति कवि के द्वारा निष्पन्न वस्तुओं का नैसर्गिक वर्णन होता है। अतः जाति की सीमा के भीतर न तो लौकिक वर्णन आते हैं और न शास्त्रीय वर्णन। इसीलिए बाणभट्ट ने जाति को **अग्राम्या** माना है।

भामह

अब आलंकारिकों को कल्पना की ओर आना चाहिए। हमारे आद्य आलकारिक भामह स्वभावोक्ति को नित्यप्रति की बातचीत से पृथक् मानते हैं। साधारण लोगो का कथन है—'सूरज डूब गया', 'चन्द्रमा चमकता है', 'पक्षिगण अपने वासस्थान पर जा रहे हैं'। ये वाक्य क्या कभी काव्य हो सकते हैं? कभी नही, ये **वार्ता** (बातचीत) के नाम से प्रख्यात होते हैं—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं? वार्तामेनां प्रचक्षते॥

—भामह २। ८७

प्रथमार्ध मे उपन्यस्त तीन वाक्य हैं जिनमे वक्रकथन का सर्वथा अभाव है। और इसीलिए भामह इन्हे काव्य मानने के लिए प्रस्तुत नही हैं। यह है केवल **वार्ता**—लोकवार्ता या शास्त्रवार्ता (लोक की बातचीत या शास्त्र का कथन), परन्तु काव्य नही। काव्य के लिए सबसे आवश्यक वस्तु होती है—वक्रकथन, वक्रोक्ति, भामह इस विषय मे सर्वथा बद्धपरिकर हैं। अलकार का का अलकारत्व इसी वक्रोक्ति की सत्ता के कारण होता है। अलकार के चमत्कृतिजनक होने का प्रधान रहस्य होता है यही वक्रोक्तिकथन। भामह हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलङ्कारो को इसीलिए अलंकार नही मानते कि उनमें वक्रोक्ति का अभाव रहता है :—

हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।

—भामह २। ८६

भामह **स्वभावोक्ति** अलकार की सत्ता मानते हैं, परन्तु यह वार्ता से सर्वथा भिन्न है। स्वभावोक्ति है वस्तु का कविकल्पनाप्रसूत चमत्कारी नैसर्गिक वर्णन। यदि इसमे चमत्कारजनकता न हो, तो यह कभी अलङ्कार की महनीय पदवी से विभूषित नही की जा सकती। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या स्वभावोक्ति मे वक्रोक्ति का पुट विद्यमान रहता है अथवा नही? स्वभावोक्ति वक्रोक्ति से विरोध रखती है या अविरोध? इसका स्पष्ट उत्तर है कि भामह के अनुसार स्वभावोक्ति अलकार वक्रोक्ति से विरुद्ध नही होता। अतिशय-कथन या वक्रभाव तो अलंकार का सामान्यरूप ही ठहरा। भामह की स्पष्ट उक्ति है—**कोऽलंकारोऽनया विना**=अर्थात् वक्रोक्ति के अभाव मे कोई भी अलंकार विद्यमान नही रह सकता। अतः इसकी निष्पत्ति के लिए कवि को प्रयत्न करना चाहिए। स्वभावोक्ति भी ठहरी अलंकार। अतः उसमे वक्रोक्ति का होना उचित ही है। स्वभावोक्ति मे भी कवि की कल्पना के लिए अवसर होता ही है। कोई भी वस्तु अनेक आवश्यक तथा अनावश्यक, साधारण तथा विशिष्ट गुणो की समुच्चय होती है। इनमे कौन गुण आवश्यक होते हैं और कौन अनावश्यक? किनका वर्णन उचित होता है और किनका अनुचित? किन गुणों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का उन्मीलन किया जा सकता है? इन प्रश्नों की ओर कवि का ध्यान जाना आवश्यक ही होता है। अतः स्वभावोक्ति मे कवि की कल्पना के लिए पर्याप्त अवसर होता ही है। कवि को उन्हीं गुणों को चुनना पड़ता है जिनके द्वारा किसी वर्ण्यवस्तु के स्वभाव का यथार्थ उन्मीलन हो सकता है। इसीलिए भामह वक्रोक्ति को अलंकारों के लिए नितान्त आवश्यक मान कर भी जो स्वभावोक्ति के उपासक हैं, उसका यही तात्पर्य है। भामह की स्वभावोक्ति का लक्षण तथा दृष्टान्त दोनों स्पष्ट हैं :—

स्वभावोक्तिलंकार इति केचित् प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥
आक्रोशन् आह्वयन् अन्यान् 'आधावन् मण्डलैर्नुदन् ।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः शस्यावतारिणीः ॥

—भामह २ । ९३, ९४

इस प्रकार भामह में 'जाति' शब्द नहीं उपलब्ध होता, परन्तु स्वभाव-वर्णन रूप स्वभावोक्ति अलकार का अस्तित्व विद्यमान है ।

दण्डी

दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है—
(१) स्वभावोक्ति और (२) वक्रोक्ति :—

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥

—दण्डी २ । ३६२

कही स्वभावोक्तिका साम्राज्य है, तो कहीं वक्रोक्ति का वैभव । इन दोनों ने ही समग्र वाङ्मय को—समस्त साहित्य को—व्याप्त कर रखा है । स्वभा-वोक्ति का स्वरूपनिरूपण करते समय दण्डी कहते हैं—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥

—दण्डी २ । ८

जो अलकार पदार्थों के नाना अवस्थाओं में विद्यमान रूप को साक्षात् प्रकट करता है वह स्वभावोक्ति कहलाता है । इस लक्षण में 'साक्षात्' शब्द ध्यान देने योग्य है। साक्षात् का अर्थ होता है प्रत्यक्ष रूप से (प्रत्यक्षमिव दर्शयन्ती—तरुण वाचस्पति) । अर्थात् यह अलंकार हमारे नेत्रो के सामने उस वस्तु के चित्र को उपस्थित कर देता है । 'हृदयंगमा' व्याख्या साक्षात् का अर्थ करती है—**साक्षात् अव्याजेन** विवृण्वती अर्थात् आलंकारिक चमत्कार के किसी बाहरी सहायता की इसमें आवश्यकता नहीं कहती । कलाबाजी से वस्तु का सच्चा रूप प्रकट नही होता । इसीलिए स्वभावोक्ति में किसी कलाबाजी की जरूरत नही होती—जैसी होती वस्तु,

वैसा होता है उसका वर्णन। स्वभावोक्ति का ही दूसरा नाम जाति है और इसे **आद्या अलंकृति** (=प्रथम अलकार) की पदवी देकर दण्डी ने इसका गौरव बढ़ाया। स्वभावोक्ति चार प्रकार की होती है— जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य (दण्डी २। १३)। जाति का अर्थ है वर्ग, जैसे गाय, पशु, आदि। वैयाकरणो के अनुसार शब्दो के ये ही चार प्रकार होते हैं— जाति, क्रिया, गुण तथा यदृच्छा शब्द। **चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः गौः शुक्लश्चलो डित्थ इति महाभाष्यकारः**। दण्डी के मतानुसार इन चारो के स्वभाव का वर्णन करनेवाली स्वभावोक्ति चार प्रकार की होती है।

दण्डी की **जाति-स्वभावोक्ति** का उदाहरण देखिए :—

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः।
त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः।

—दण्डी २। ६

सुग्गो के रूपरंग का वर्णन कवि कर रहा है। सुग्गों की चोच लाल और टेढ़ी है। उनके पख हरे और कोमल हैं। उनके कण्ठ तीन रगो से शोभित होते हैं तथा वाणी नितान्त मीठी तथा मञ्जुल है। इस पद्य मे शुक के स्वभाव तथा स्वरूप का यथावत् निर्देश है और यह वर्णन किसी व्यक्तिविशेष के लिए मान्य न होकर जातिमात्र से सम्बन्ध रखता है। सच्ची स्वभावोक्ति यही है। इस अलकार का जाति नामकरण इसीके कारण पड़ा हुआ जान पड़ता है।

दण्डी ने इसे आद्या अलकृति अवश्य कहा है, पर इसका यह अर्थ नही है कि वे वक्रोक्ति की अपेक्षा स्वभावोक्ति के विशेष पक्षपाती हैं। स्वभावोक्ति प्रथम अलंकार है जिससे आगे चलकर वक्रोक्ति का क्षेत्र आरम्भ होता है। **स्वभावाख्यान** तथा **कल्पिताख्यान**—काव्य मे आख्यान की यही द्विविधा गति है। एक आख्यान होता है वस्तु के यथार्थस्वरूप का कथन और दूसरा होता है—कवि के द्वारा कल्पितरूप का वर्णन। कल्पना का उदय दूसरे प्रकार में होता है। प्रथम प्रकार को इसीलिए हम अलंकारों मे प्रथम प्रकार मानते हैं। इससे दण्डी का स्वभावोक्ति के प्रति कोई

पक्षपात लक्षित नहीं होता। वे शास्त्र के समान काव्य में भी इसका अस्तित्व अभीष्ट मानते हैं—

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।

—दण्डी २ । १३

भामह की 'वार्ता' दण्डी में विद्यमान है। इसका निर्देश दण्डी ने कान्ति नामक गुण के वर्णन के अवसर पर किया है (१ । ८५--८७)। लौकिक अर्थ के अतिक्रमण न करने से कान्ति स्वभावोक्ति के ही समकक्ष है। कान्ति वार्ता के अभिधान में तथा वर्णना में रहती है—

कान्तं सर्वजगत्कान्त लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते॥

—दण्डी १ । ८५

वार्ता का अर्थ है बातचीत। हृदयगमा की व्याख्या है—**वार्ता नाम अन्योन्यकथनम्** = आपस में वातचीत। शिंगभूपाल की उक्ति है—**वार्ता नाम कुशलप्रश्नपूर्विका संकथा** (पृ० ६७) रत्नेश्वर का कथन है **'अनामये प्रियालापे वार्तं वार्ता च कीर्त्यते'**। इन समस्त व्याख्याओं का एक ही तात्पर्य है। वार्ता अलकार नहीं है, बल्कि साधारण बोलचाल की वात का ही कथन है।

रुद्रट

आचार्य रुद्रट ने अर्थालङ्कारों का विभाजन चार श्रेणियों में किया है—(१) **वास्तव**, (२) **औपम्य**, (३) **अतिशय**, (४) **श्लेष**। वास्तव अन्तिम तीनों प्रकारों से विलक्षण होता है अर्थात् इसमें न तो उपमा होती है, न किसी प्रकार का अतिशय और न शब्दों के अनेक अर्थ। यह बिल्कुल सीधा सादा विना-अलंकृत वर्णन होता है। इसमें वस्तु के स्वरूप का कथन होता है—परन्तु यह कथन विपरीत नहीं होता और न उपमा, अतिशय और श्लेष से मण्डित होता है। तथापि यह होता है पुष्टार्थ अर्थात् इसमें अर्थ का पर्याप्त परिपोष होता है—

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयम् अश्लेषम्॥

—रुद्रट ८ । १०

'पुष्टार्थ' शब्द बड़े महत्त्व का है। नामिसाधु की व्याख्या है—पुष्टार्थ-ग्रहणम् अपुष्टार्थनिवृत्त्यर्थम्। अर्थात् अपुष्टार्थ की सत्ता इसमें नही होती। इसलिए बैल का यह सीधा-सादा वर्णन 'वास्तव' नही कहा जा सकता—

गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम्॥

इस वर्णन में कोई चमत्कार नही है। अतः यह 'वास्तव' नहीं कहा जा सकता। वास्तव के अन्तर्गत रुद्रट ने सहोक्ति, समुच्चय, भाव, पर्याय आदि अनेक अलकारो का विधान स्वीकार किया है। इनमे **जाति** नामक अलकार मुख्य है। रुद्रट ने अपने ग्रन्थ मे (७।३०-३१) जाति के अनेक प्रभेदो का वर्णन किया है। जाति की व्याख्या मे नमिसाधु ने एक बड़े पते की बात कही है। 'वास्तव' और 'जाति' में क्या अन्तर है? दोनो ही तो वस्तु के यथार्थ वर्णन पर आश्रित रहते है। नमिसाधु का कहना है कि **वास्तव** वस्तु का उसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत करता है जिस प्रकार वह वास्तव मे होती है, परन्तु जाति किसी वस्तु का रोचक चित्र प्रस्तुत कर देती है जिससे वह वस्तु श्रोता के *मानसपटल* पर अनुभवरूप मे अकित हो जाती है—

जातिस्तु अनुभवं जनयति। यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेव अनुभवमिवैतीति स्थितम्॥—नमिसाधु

प्राचीन आलंकारिको ने जाति को अग्राम्य, चारु, पुष्ट आदि विशेषणों से इसीलिए मण्डित किया है। नमिसाधु भी इसी मत से सहमत हैं।

उद्भट ने भी स्वभावोक्ति को अलंकार माना है। उनका उदाहरण के साथ लक्षण यह है—

क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचित् मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥
क्षणं नष्टार्धवलितः शृङ्गेणाग्रे क्षणं तुदन्।
लोलीकरोति प्रणयादू इमामेष मृगार्भकः॥

—उद्भट ३।८,९

उद्भट की स्वभावोक्ति का क्षेत्र बहुत ही सकुचित हो गया है। स्वभावोक्ति क्या है ? किसी क्रिया मे प्रवृत्त होनेवाले मृगशावक आदि की लीलाओं का निबन्धन। परन्तु यह तो स्वभावोक्ति के क्षेत्र का नितान्त संकोचन है। स्वभावोक्ति न तो पशुओं के बच्चों की ही लीलाओं या खेलों के साथ केवल सम्बन्ध रख सकती है और न वह क्रिया के ही साथ सम्पर्क रख सकती है। दोनों दशाये उसके रूप के अनुरूप नही हैं। तिलक नामक व्याख्याकार इसीलिए स्वभावोक्ति की व्याख्या मे लिखते हैं व्यापारप्रवृत्तस्य बालमृगादेः समुचितहेवाकनिबन्धनं स्वभावोक्तिः, न तु स्वभावमात्रकथनम्। परन्तु प्रतिहारेन्दुराज ने हेवाक शब्द का व्यापक अर्थ मानकर स्वभावोक्ति के क्षेत्र को नितान्त विस्तृत बना दिया है।

भोजराज

भोजराज के वर्णन मे कतिपय ज्ञातव्य बाते सन्निविष्ट हैं। अपने दोनों ग्रन्थो में भोज ने **स्वभावोक्ति** का प्रसङ्ग उठाया है। सरस्वतीकण्ठाभरण (३-४।५) में भोज ने इस अलंकार का लक्षण तथा विशेष इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

> नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
> स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यः तानि जातिं प्रचक्षते॥
> अर्थव्यक्तेरियं भेदम् इयत्ता परिपद्यते।
> जायमानमियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम्॥

भिन्न भिन्न अवस्थाओं मे वस्तु के जो जो रूप अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं उनका ही वर्णन जाति के नाम से अभिहित किया जाता है। अर्थव्यक्ति से जाति मे यही अन्तर होता है कि अर्थव्यक्ति वस्तु के सार्वकालिक रूप को प्रदर्शित करती है—उस रूप को, जो सर्वदा विद्यमान रहता है, परन्तु जाति नाना दशाओ मे उत्पन्न होनेवाले रूपो को ही प्रदर्शित करती है। इस प्रकार अर्थव्यक्ति सार्वकालिक रूप को दिखलाती है, तो जाति केवल आगन्तुक रूप को—अवस्थाविशेष मे जायमान रूप को। भोजराज के टीकाकार रत्नेश्वर ने भी भोज का यही अभिप्राय दिखलाया है, परन्तु स्वभावोक्ति के

क्षेत्र को इस प्रकार संकुचित कर देना अलंकारशास्त्र की परम्परा से सर्वथा बहिर्मुख है। अतः हम भोज की इस आलोचना को मानने के लिए उद्यत नहीं।

शृङ्गारप्रकाश में भोजराज ने एक नवीन दिशा दिखलाई है। वे दण्डी के परम उपासक हैं। उन्होंने दण्डी के वाङ्मय-द्वैविध्य के सिद्धान्त को वैज्ञानिक रीति से आगे बढ़ाया है। हम कह आये हैं कि दण्डी ने कविनिर्मित वाङ्मय को दो भागों में बाँटा है—**स्वभावोक्ति** और **वक्रोक्ति**। दण्डी ने वक्रोक्ति के भीतर ही रसप्रधान अलंकारों—जैसे रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वी आदि को भी मान रखा है। भोजराज ने रसालंकारों को वक्रोक्ति के क्षेत्र से निकाल कर एक स्वतन्त्र तृतीय भाग की कल्पना की है—**रसोक्ति**। भोज के अनुसार वाङ्मय त्रिविध होता है जिसकी सूचना हमें सरस्वतीकण्ठाभरण में ही प्रथमतः उपलब्ध होती है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानते॥

—सर० कण्ठा० ५।८

इन तीनों का लक्षण शृङ्गारप्रकाश में इस प्रकार निर्दिष्ट है—

तत्र उपमाद्यलंकारप्राधान्ये वक्रोक्तिः। सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति त्रिविधं वाङ्मयम्॥

इस प्रकार भामह तथा दण्डी की अनेक कल्पना का विकास हमें भोजराज में उपलब्ध होता है। **भामह** वाङ्मय में **वक्रोक्ति** का साम्राज्य स्वीकार करते हैं और इसीके भीतर स्वभावोक्ति, अलंकार तथा रसप्रधान अलंकारों का अन्तर्भाव मानते हैं। **दण्डी** ने वाङ्मय को द्विविध माना है **स्वभावोक्ति** और **वक्रोक्ति**। यहाँ वक्रोक्ति का क्षेत्र आद्या अलंकृति को छोड़ कर समग्र अलंकारों से सम्बद्ध है। रस की प्रधानता माननेवाले अलंकार-रसवद् आदि भी इसी वक्रोक्ति के भीतर दण्डी ने माने हैं। परन्तु भोजराज ने इस सिद्धान्त का अवसान वाङ्मय का त्रैविध्य मानकर कर दिया है। दण्डी की वक्रोक्ति के विशाल क्षेत्र से उन्होंने समधिक महत्त्वशाली रसप्रधान अलंकारों का अलग

विभाजन कर दिया है। इस प्रकार भोज ने तीन उक्तियाँ मानी हैं—**स्वभाव-उक्ति, वक्र-उक्ति, रस-उक्ति**। इसका विश्लेषण इस प्रकार कर सकते हैं—
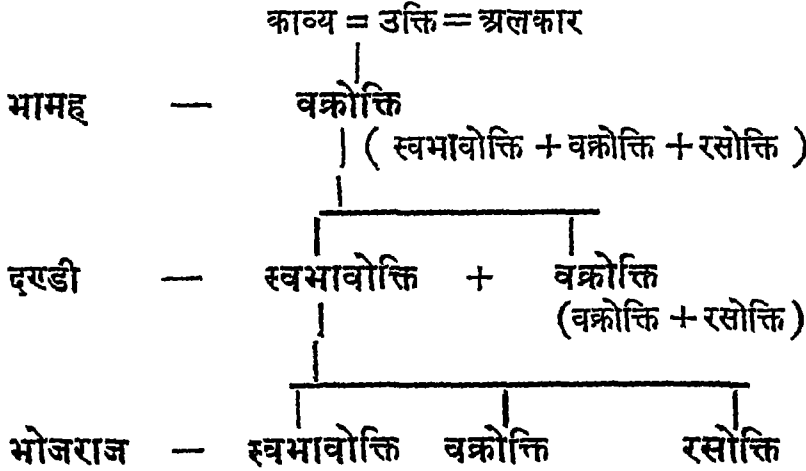
भोज के मत का प्रभाव पिछले आलकारिकों पर सविशेषरूप से पडा हुआ नहीं मालूम पड़ता, परन्तु अग्निपुराण अर्थव्यक्ति और स्वभावोक्ति के पार्थक्य के लिये भोज का ऋणी है और दशरूपक के टीकाकार **बहुरूप** मिश्र ने भोज के **वाङ्मयत्रैविध्य** के मत को अपने ग्रन्थ मे माना है।

कुन्तक

स्वभावोक्ति के इतिहास मे आचार्य कुन्तक का नाम तथा काम विशेष गौरव की वस्तु है। अब तक ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि स्वभावोक्ति के स्वतन्त्र अलंकार होने मे किसी भी आलकारिक की विप्रतिपत्ति नही है। समग्र आलकारिकपरम्परा इसे स्वतन्त्र अलकार मानती आती है। विमति है यदि किञ्चित्, तो इसके स्वरूप के विषय मे ही। परन्तु कुन्तक इस परम्परा का विरोध कर कहते हैं कि स्वभावोक्ति अलंकार हो नही सकती। 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' के समान हम कह सकते हैं कि वक्रोक्ति के उपासक कुन्तक का पन्थ भी इस विषय मे निराला है—**कुन्तकस्य वक्रः पन्थाः**। कुन्तक भामह के सच्चे अनुयायी हैं, अन्तर इतना ही है कि भामह स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति का एक प्रकारमात्र मानते हैं, परन्तु कुन्तक स्वभावोक्ति को काव्य का अलकरण न मानकर उसे **'अलंकार्य'** मानते हैं।

अलंकृति तथा अलंकार्य का अन्तर तो नितान्त स्पष्ट है। अलकरण की साधक वस्तु का नाम है—अलंकृति और जिसकी शोभा की जाती है, सजावट सजाई जाती है उस वस्तु का नाम है—अलंकार्य। 'स्वभावोक्ति' में वर्ण्य वस्तु के स्वरूप का यथावत् प्रदर्शन तथा परिचय कवि कराता है। इस प्रकार स्वभावोक्ति वह सामग्री प्रस्तुत करती है जिसकी सजावट वक्रोक्ति के द्वारा की जाती है। वस्तु के स्वरूप की निष्पत्ति होने पर ही उसका अलकरण उचित तथा न्याय्य माना जा सकता है। इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि मे स्वभावोक्ति होती है अलंकार्य या काव्यशरीर और उसे अलकार मानना उसी प्रकार उपहास्यास्पद होता है जिस प्रकार किसी व्यक्ति को अपने कन्धों पर चढाना। वक्रोक्तिजीवितकार की स्पष्ट सम्मति है कि अलंकरण की योग्यता होने से पहिले किसी वस्तु को उत्कृष्टधर्म से युक्त होना नितान्त आवश्यक होता है। स्वभाव के निर्देश के बिना तो किसी भी वस्तु का वर्णन हो नही सकता। स्वभाव के आख्यान के बिना किसी प्रकार की शब्दयोजना हो नही सकती। अतः किसी भी वस्तु के विवेचन का आधार उसका स्वरूपविधान है। अतः यह अलंकार-कोटि मे न आकर स्वयं अलंकार्य है—

> स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
> वस्तु तद्रहित यस्मात् निरुपाख्यं पसज्यते॥
>
> व० जी० १।१२।

इस प्रकार स्वभावकथन की भित्ति पर वक्रोक्ति का विधान न्यायसंगत होता है। अतः स्वभावोक्ति अलकार नही है, अलकार्य—अनुत्कृष्ट धर्मयुक्तस्य वर्णनीयस्यालंकरणमपि असमुचितभित्तिभागोल्लिखिता = लेख्यवत् न शोभातिशयकारित = मवहति, यस्माद् अत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्म-युक्तं वर्णनीयवस्तु परिग्रहणीयम्।

व० जी० पृ० १३५

इसका अर्थ नही है कि कुन्तक अलकारविहीन सहजशोभा से सम्पन्न पद्यों के सौन्दर्य और लालित्य के उपासक नही हैं। अन्य आलंकारिकों के समान स्वभावोक्ति का लालित्य कुन्तक की दृष्टि मे भी न्यून नही होता। अन्तर इतना ही है कि जहाँ अन्य आलकारिक स्वभावोक्ति को अलकार

मानते हैं, वहाँ कुन्तक वस्तुवक्रता स्वीकार करते हैं। काव्य में प्रयुक्त वस्तु सहजसौन्दर्य से मण्डित रहती है। वह लोकवस्तु या शास्त्रवस्तु से सर्वथा भिन्न होती है—

उदारस्वपरिस्पन्द सुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता॥
—व० जी० ३। १

जवानी में पैर रखने वाली किसी सुन्दरी के स्वभाव के द्योतक इस पद्यपर दृष्टिपात कीजिए—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः॥

जवानी को छूनेवाली मृगनैनी की कौन चीज सुन्दर नही होती? उसकी मुसकुराहट किञ्चित् सुन्दर होती है, दृष्टि का वैभव तरल और मधुर होता है। वचन की भगी अभिनव विलासोक्ति से सरस होती है। गमन का आरम्भ लीला के सुगन्ध से सज्जित रहता है। इस प्रकार उसकी प्रत्येक वस्तु लालित्य का निकेतन होती है।

कुन्तक की दृष्टि मे यह कमनीय पद्य तरुणी के स्वभाव का सच्चा निदर्शन कराता है। अतः इसे वे वस्तुवक्रता के नाम से पुकारते हैं। स्वभावोक्ति को अलकरण मानने के लिए वे कथमपि उद्यत नही हैं।

महिम भट्ट

कुन्तक की इस समीक्षा का प्रबल खण्डन किया है महिमभट्ट ने। उन्होने अपने 'व्यक्तिविवेक' मे स्वभावोक्ति को अलंकार सिद्ध करने के लिए प्रौढ़ युक्तियो का उपन्यास किया है। अपने ग्रन्थ के द्वितीय उन्मेष में महिमभट्ट काव्य के पाँच प्रकार के दोषों का विस्तृत साङ्गोपाङ्ग विवेचन करते हैं। पञ्चविध दोषों मे एक दोष है—वाच्यावचन अर्थात् जो वस्तु कहने योग्य हो, पर उसे नही कहना। और इसीसे सम्बन्ध अन्य दोष होता है—अवाच्य-

वचन अर्थात् जो वस्तु नही कहनी चाहिए उसका कथन। प्रतिभा से हीन कवियो के काव्यों में इस दोष की सत्ता विशेषरूप से विद्यमान रहती है। वे विशेषण जो वस्तु के स्वरूप की वृद्धि नही करते या वे शब्द जो सौन्दर्य साधन नही करते अथवा वह अर्थ जो वस्तु की साक्षात् प्रतीति न करता है और न उसे वह रोचक तथा चित्रित बनाता है—ये सब 'अवाच्यवचन' के अन्तर्गत आते हैं। महिमभट्ट ऐसे स्थल को 'अप्रतिभोद्भव' प्रतिभा तथा स्फूर्ति से रहित कवि के द्वारा उद्भावित विचार मानते है। यह केवल पाद-पूरण के ही लिए काव्य मे प्रयुक्त होता है। यह 'धूलि' है जिसे झाड़कर साफ़ कर देना ही उचित होता है (अवकर)। महिमभट्ट के शब्द हैं—

यत् स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम्।
अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम्॥
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम्।
तद्वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते॥

—व्यक्तिविवेक। काशी सं० पृ० २७६

स्वभावोक्ति का भी यही प्रसङ्ग है। उसमें भी तो वस्तु के स्वरूप के अनुवाद का प्रसङ्ग आ जाता है। अतः महिमभट्ट ने इसी अवसर पर कुन्तक की कल्पना का खण्डन कर स्वभावोक्ति के अलकारत्व का भरपूर मण्डन किया है। महिमभट्ट के विचारों का समर्थन हेमचन्द्र ने और माणिक्यचन्द्र ने ('काव्यप्रकाशसंकेत' में) यथाविधि किया है। उनका आशय इस प्रकार है—

न्यायशास्त्र का यह मान्य सिद्धान्त है कि किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान दो प्रकार का होता है। प्रथमतः हम केवल वस्तु के सामान्यरूप से ही परिचित होते हैं। दूर पर चरनेवाली गाय को देखकर भी हमारा पहिला ज्ञान यही होता है कि यह कुछ है—किञ्चिद् इदम्। उस वस्तु के समीप जाने पर उनके रूप, आकार तथा विशिष्टता का पता पीछे चलता है। उस वस्तु को समीप से देखकर ही हम जानते हैं कि गाय है, सफेद रंग की है तथा घास चर रही है। प्रथम प्रत्यक्ष कहलाता है—निर्विकल्पक और दूसरा सविकल्पक। इसी के समान वस्तुनिर्देश भी दो प्रकार का होता है—सामान्य जन के द्वारा तथा प्रतिभा-सम्पन्न कवि के द्वारा। वस्तु का दो प्रकार का स्वभाव होता

है[1]—**सामान्य स्वभाव और विशिष्ट स्वभाव**। पामरजन की दृष्टि मे वस्तु का सामान्य स्वभाव ही झलकता है—जो प्रतिभा से विहीन हैं, जिनकी दृष्टि वस्तु के भीतर नहीं पैठती वे वस्तु के सामान्यरूप का ही वर्णन करते हैं। परन्तु प्रतिभाशाली कवि की दृष्टि योगी की दृष्टि या ज्ञाननेत्र के समान होती है[2]। वह इस पैनी दृष्टि के बलपर वस्तु के सामान्यरूप के आवरण को हटाकर उसके विशिष्टरूप का प्रत्यक्ष करता है और जो चित्र प्रस्तुत करता है वह अत्यन्त रोचक, प्रभावशाली तथा अन्तर्निविष्ट होता है। उदाहरण के लिए बैल का जो सामान्य वर्णन इस पद्य मे निबद्ध है—

गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम्॥

वह जातिगत वर्णन होने से सच्चा तथा वैज्ञानिक भले माना जाय, परन्तु वह अलंकारकोटि मे नही आ सकता। अलकार का सामान्य रूप है वैचित्र्य। **वैचित्र्यम् अलंकारः**। विचित्रता से हीन-स्वभाव अलकार नही हो सकता। महिमभट्ट वस्तु के इस सामान्यरूप को (जिसका प्रतिपादन लोक और शास्त्र करता है) कविप्रतिभा की लीलाभूमि मानते है—यही काव्यशरीर होता है जिस पर कवि की प्रतिभा अपनी लीला दिखाकर उसे उन्मीलित तथा चित्रित किया करती है। परन्तु कवि की प्रतिभा के

---

१ उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमस्य सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः॥
स एव सर्वशब्दाना विषयः परिकीर्तितः।
अत एवाभिधेय ते श्यामल बोधयन्त्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरा गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥
—व्यक्तिविवेक २।११४—११६

२ सा हि चक्षुर्भगवतः तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावॉस्त्रैलोक्यवर्तिनः।
—व्य० वि० २।११८

द्वारा उन्मीलित वस्तुरूप विचित्रता से मण्डित होने के कारण अलङ्कार होता है। वस्तु का **विशिष्ट स्वभाव** सिद्ध न होकर साध्यमान होता है और यही स्वभावोक्ति अलकार का विषय होता है[१]। इसका निष्कर्ष यह है कि महिमभट्ट वस्तुस्वभाव को दो प्रकार का मानते हैं—**सामान्यरूप**, जो पामर साधारण जन के द्वारा दृष्टिगोचर होता है और **विशिष्टरूप** जो कविप्रतिभा के बल पर उन्मीलित होता है। इनमें पहला होता है—अलकार्य, काव्यशरीर और दूसरा होता है अलंकार, काव्यशरीर का मण्डन-रूप स्वभावोक्ति।

इतना होने पर भी कुन्तक कह सकते हैं कि उनकी स्थिति किसी प्रकार भी क्षुण्ण नही हुई—उनकी युक्तियो का उत्तर नही हो सका। क्योंकि उनकी दृष्टि में वस्तु का **विशिष्ट स्वभाव** ही काव्य का शरीर होता है। नीरस तथा अशोभन **सामान्य स्वभाव** की चर्चा काव्य मे नही होती; वह लोकव्यवहार के ही लिए होता है। अतः महिमभट्ट के विशिष्ट स्वभाव को भी कुन्तक काव्यशरीर मानते हैं—

अनुत्कृष्टधर्मयुक्तस्य वर्णनीयस्य अलंकरणमपि असमुचितभित्ति-भागोल्लिखितालेख्यवत् न शोभातिशयकारितामावहति। यस्मादत्यन्त-रमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तं वर्णनीयवस्तु परिग्रहणीयम्।

—व० जी० पृ० १३१

आशय है कि उचित भित्ति पर ही चित्र की शोभा उन्मीलित होती है, उचित आधार पर ही आधेय वस्तु शोभायमान होती है। उसी प्रकार

---

१ वस्तुनो हि सामान्यस्वभावो लौकिकोऽर्थोऽलङ्कार्यः। कविप्रतिभा-संरम्भविशेषविषयस्तु लोकोत्तरार्थोऽलङ्करणमिति।

—हेमचन्द्र-काव्यानुशासन पृ० २७५

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्र नालंकारः। तत्त्वे सर्वं काव्यमलकारः स्यात्। तस्मात् सामान्यस्वभावो लौकिकोऽर्थोऽलकार्यः। कविप्रतिभागोचरस्य तु अतएव तन्निमित्तस्य स्वभावस्य उक्तिः अलकारः।

—माणिक्यचन्द्र (सकेत पृ० ४०३)

जो वस्तु उत्कृष्ट धर्म से रहित है उसे सौन्दर्यसाधन अलंकरण से लाभ क्या ? काव्य में अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त ही वर्णनीय वस्तु का ग्रहण किया जाता है। यही मूल बात है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

काव्य मे निविष्ट अर्थ सुन्दर होता ही है—**अर्थः सुहृदयाह्लादकारि-स्वस्पन्दसुन्दरः** (व० जी० १।६)। ऐसी दशा में विशिष्टस्वभाववर्णना ही काव्य मे अभिमत हो सकती है, नीरस सामान्यस्वभाव नहीं। वह कवि नही है, प्रत्युत हठात् आकृष्ट कतिपय पदों को एकत्र करनेवाला सामान्य जन है जो नीरस स्वभाव को काव्य का शरीर मानता है। फलतः कुन्तक की दृष्टि मे स्वभावकथन अलकार न होकर सर्वथा अलकार्य ही रहता है।

(७)
वक्रोक्ति और चमत्कारवाद

विचारणीय प्रश्न है कि वक्रोक्ति काव्य मे चमत्कारवाद से भिन्न है ? अथवा चमत्कारवाद का ही एक दूसरा अभिधान है ? यह प्रश्न नितान्त भ्रामक है। अतः इसकी समीक्षा भलीभाँति करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। इस प्रश्न के उत्तर देने से पहिले जानना होगा कि चमत्कार का प्रयोग किस अर्थ मे किया गया है, - उक्ति के अनूठेपन मे अथवा काव्य मे सौन्दर्योत्पादक साधन के रूप में।

(१) चमत्कार—व्यापक अर्थ

'रस', 'काव्यपाक' आदि काव्य-तथ्यों की धारणा के समान **'चमत्कार'** की भावना के लिए भारतीय साहित्यशास्त्र पाकशास्त्र का ऋणी है। रस और पाक शब्द पाकशास्त्र से ही ग्रहण कर आलोचनाशास्त्र में व्यवहृत हुए हैं। 'चमत्कार' के साहित्यशास्त्र में दो प्रसिद्ध अर्थ हैं—आश्चर्य तथा काव्यास्वाद, परन्तु भाषाशास्त्र की दृष्टि से **चमत्कार** ध्वनिनिर्मित शब्द है और चटपटी चीज खाने के समय हम लोग अपनी चटपटी जीभ से ओठों को चाटते हुए जो चट् चट् ध्वनि उत्पन्न करते हैं उसी के अनुकरण पर निर्मित यह **'चमत्कार'** शब्द है। इस मूल अर्थ के विस्तार होने पर इसका सामान्य अर्थ हुआ—मधुर वस्तु

के आस्वाद से चित्त का विस्तार या आनन्द। और इसी अर्थ मे साहित्य-शास्त्र में यह व्यवहृत होने लगा। इसके दो अर्थ होते हैं—सकीर्ण अर्थ मे 'चमत्कार' का प्रयोग आश्चर्यरस उत्पन्न करनेवाले काव्यसाधन के लिए किया जाता है। नारायण पण्डित पूर्णतः चमत्कारवादी हैं और इसीलिए वे आश्चर्यरस को समग्र रसों की प्रकृति या मूलरस मानने के पक्षपाती हैं—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तस्मादद्भुतमेवाह। कृती नारायणो रसम्॥

ये नारायण पण्डित साहित्यदर्पण के प्रणेता विश्वनाथ कविराज के ही पूर्व-पुरुष थे। इनकी व्याख्या के अनुसार चमत्कार चित्त-विस्तार के रूप मे अभिव्यक्त होता है, समस्त रसानुभूति चित्तविस्तार की जननी होने के कारण चमत्काररूपिणी ही होती है और इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है—अद्भुत-रस। यह तो हुआ 'चमत्कार' का सकीर्ण अर्थ।

काव्यजनित आस्वाद के व्यापक अभिधान के रूप में भी चमत्कार शब्द का प्रयोग मान्य आलंकारिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आनन्दवर्धन ने काव्यास्वाद के अर्थ मे चमत्कृति' (=चमत्कार) शब्द का प्रयोग ध्वन्या-लोक मे किया है[१]। इसी व्यापक तथा आह्लादसामान्य के अर्थ मे अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन में इस शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। कुमारसम्भव मे शिवपार्वती के संभोगवर्णन का समीक्षण करते हुए लोचनकार कहते हैं[२]—

आस्वादयितॄणां हि यत्र चमत्काराविघातः, तदेव रससर्वस्व स्वा-दायत्तत्वात्। उत्तमदेवतासम्भोगपरिमर्शे तु पितृसभोग इव लज्जाऽऽतङ्कादिना कः चमत्कारावकाशः॥

आशय यह है जहाँ काव्य के आस्वाद लेनेवाले व्यक्तियो के चमत्कार का विघात नहीं होता, वही रस की पूर्ण सम्पत्ति विलसित होती है, परन्तु

---

१ चेतश्चमत्कृतिविधायी
—ध्वन्यालोक

२ ध्वन्यालोक लोचन पृ० १३७-३८

उत्तपदेवता के सम्भोग की वर्णना मे क्या कभी चमत्कार का अवकाश है? वहाँ तो पिता के सम्भोग के समान लज्जा का भाव उत्पन्न होता है अथवा भय या शङ्का का प्रादुर्भाव होता है। चमत्कार के लिए स्थान कहाँ? स्पष्टतः इस प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त चमत्कार को काव्याह्लाद का दूसरा अभिधान मानते हैं। एक स्थल पर लोचनकार रस को ही 'चमत्कारात्मा' बतलाते हैं[1]। इससे लोचनकार चमत्कार की ही व्यापकरूपेण महत्ता प्रदर्शित करते हैं।

अभिनवगुप्त के साहित्यशिष्य क्षेमेन्द्र ने, जिनकी प्रतिभा काव्य के नवीन तत्त्वों की ओर स्वतः प्रसृत होती थी, इस चमत्कार का वर्णन काव्य में उपादेय तथ्य के रूप में अपने **'कविकण्ठाभरण'** की तृतीय सन्धि में किया है। उनकी दृष्टि में **चमत्कार** ही काव्य का मुख्य तत्त्व है जिसके विना न तो काव मे कवित्व ही रहता है और न काव्य में काव्यत्व। सुन्दर पद-विन्यास की शय्या से सज्जित काव्य में चमत्कार का सन्निवेश मणि-काञ्चन योग के समान सर्वदा स्पृहणीय होता है—

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम्॥

—कविकण्ठा ३। २

अङ्गना का यौवन लावण्यहीन होने से क्या किसी के चित्त पर चढ़ता है? दोष के लेश से भी रहित सुन्दर पदविशिष्ट काव्य क्या चमत्कारहीन होने पर किसी सहृदय के हृदय को आकृष्ट करता है? कभी नहीं। चमत्कार ही काव्य का सर्वस्व है। यह दस प्रकार का होता है— (१) अविचारित-रमणीय, (२) विचार्यमाणरमणीय, (३) समस्तसूक्तव्यापी, (४) सूक्तैकदेशदृश्य, (५) शब्दगत, (६) अर्थगत, (७) शब्दार्थगत, (८) अलंकारगत, (९)—

---

१ यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यं तथापि तस्य रसस्य एकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिद् अंशात् प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारोऽपि भवति।

— वही पृ० ६५।

रसगत तथा (१०) प्रख्यातवृत्तिगत। इनका उदाहरण भी क्षेमेन्द्र ने बड़ी सुन्दरता के साथ दिया है।

परन्तु **चमत्कार** को काव्य का मौलिक रहस्य मान कर लिखा गया प्रथम अलकारग्रन्थ है—**चमत्कारचन्द्रिका**। इसके लेखक हैं **विश्वेश्वर** जो सिहभूपाल (१४ शतक का मध्यभाग) के आश्रित पण्डित थे। ये सुप्रसिद्ध **'अलकारकौस्तुभ'** के रचयिता **विश्वेश्वर पाण्डेय** से नितान्त भिन्न व्यक्ति हैं। विश्वेश्वर पाण्डेय काशी मे ही १८ वीं शतक के आरम्भकाल मे रहते थे, विश्वेश्वर दक्षिण भारत के निवासी थे और इनसे तीन चार सौ वर्ष पुराने थे। इस ग्रन्थ के आरम्भ मे चमत्कार की विशिष्ट परिभाषा है। **चमत्कार** कविता के पढ़ने पर सहृदय के हृदय में उत्पन्न आह्लाद का ही प्रसिद्ध नाम है। काव्य मे चमत्कार के सात आलम्बन होते हैं[1]— गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या, अलंकृति। चमत्कार के आधार पर काव्य तीन प्रकार का होता है—(१) **चमत्कारी** (शब्दचित्र) (२) **चमत्कारितर** (अर्थचित्र और गुणीभूत व्यङ्ग्य), (३) **चमत्कारितम** (व्यग्यप्रधान)। चमत्कारचन्द्रिका का यही महत्त्व है।

१८ वी शताब्दी के आरम्भ मे (१७२६ ई०) गङ्गेश के पुत्र हरिप्रसाद ने **काव्यालोक** नामक अलकारग्रन्थ सात परिच्छेदो मे लिखा। इसमे इन्होंने चमत्कार को काव्य की आत्मा मानकर अन्य प्राचीन मतों की सद्यः अवहेलना की। अतः इनकी इस विषय मे कल्पना ऐकान्तिक है।

विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम्॥

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' मे 'चमत्कार' के ऊपर ही काव्य का चमत्कारी तथा रमणीय लक्षण प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में रमणीय

---

१ चमत्कारस्तु विदुषामानन्द-परिवाहकृत्।
गुण रीतिं रसं वृत्ति पाकं शय्यामल कृतिम्॥
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः।

द्रष्टव्य डा० राघवन्—Some concepts of Alamkara Shastra p. 270.

अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। 'रमणीय' अर्थ वह है, जिसके ज्ञान से—जिसके बार बार अनुसन्धान करने से—अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो। अलौकिक आनन्द का ही दूसरा नाम चमत्कार है। अतः चमत्कारसम्पन्न अर्थ का शब्दतः प्रतिपादन करनेवाली वस्तु का नाम कविता है।

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं च आह्लादगतः चमत्कारापरपर्यायः अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।

कुन्तक भी इसी व्यापक चमत्कार के काव्य मे उपासक हैं। उनकी वक्रोक्ति इसी चमत्कृति का अपर पर्याय है। व्यापक अर्थ मे रस, औचित्य, ध्वनि, वक्रोक्ति समस्त काव्यसार ही चमत्काररूप है। इस व्यापक दृष्टि से कुन्तक चमत्कारवादी निःसन्देह हैं, परन्तु इस विषय में वे अकेले न होकर ध्वनिवादी आचार्यों की संगति मे हैं।

(२) चमत्कार—संकीर्ण अर्थ

यह तो हुई चमत्कार की व्यापक कल्पना। अब इसके संकीर्ण अथच प्रसिद्ध अर्थ पर दृष्टि डालिए। साधारण व्यक्ति चमत्कार शब्द से आश्चर्य-चकित करनेवाले शब्द तथा अर्थ के अनूठेपन का बोध करता है। कौतूहल की वृत्ति की चरितार्थता के लिए साधारण व्यक्ति काव्य मे चमत्कार को खोजा करते हैं। काव्य मे अनूठेपन को लाने का प्रयास वे ही कवि करते हैं जो शब्दों के साथ खेलवाड किया करते हैं और अर्थों के साथ कसरत करने में अपने काव्यवृत्ति चरितार्थ समझते हैं। उक्तिवैचित्र्य—उक्तिचमत्कार—मे हृदयानुरञ्जन की क्षमता नही रहती। बालरुचिवाले पाठकों के हृदय मे एक 'हज्ञका आनन्द उत्पन्न कर देना ही इस प्रकार की कविता का मुख्य उद्देश्य होता है। इससे केवल कौतुकवृत्ति ही चरितार्थ होती है, हृदय की कली कभी नही खिलती। इस अनूठेपन से सम्पन्न कविता को 'सूक्ति' शब्द से हम अभिहित कर सकते हैं। 'सूक्ति' और 'काव्य'—दोनों मे पार्थक्य आलोचक की दृष्टि मे नितान्त स्पष्ट है। काव्य मे हृदय की कोमल वृत्तियों को रमाने की योग्यता रहती है, परन्तु सूक्ति मे केवल कौतुकवृत्ति की तृप्ति

करने के लिए ही सामर्थ्य होता है। सूक्ति को हम 'शाब्दिक तमाशा' कह सकते हैं क्योंकि कवि यहाँ अपने शब्दों की कलाबाजी दिखलाता है तथा अर्थ की ऊँची उड़ान लेता है। कौतुकप्रेमी लोग ही तमाशा देखकर अपना चित्तविनोद करते हैं; उसी प्रकार कौतूहली पाठक सूक्ति के श्रवण से अपना चित्त प्रसन्न करता है। परन्तु सच्चा काव्य तमाशा नहीं है। यदि वह तमाशबीन पाठकों को अपनी ओर नहीं खीचता, तो यह उसके लिए भूषण ही है, दूषण नहीं।

इस अनूठेपन की परख के लिए कतिपय दृष्टान्त प्रस्तुत किये जाते हैं। एक दरिद्र अपनी दीन दशा का परिचय देकर किसी राजा से प्रार्थना कर रहा है—

> द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
> तत्पुरुष कर्मधारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः॥

मैं द्वन्द्व हूँ—मेरे घर में भार्या भी विराजमान है। मैं द्विगु हूँ—द्वौ गावौ यस्यं सः द्विगुः अर्थात् मेरे घर पर दो बैल हैं। परन्तु मेरे घर मे है क्या? सदा अव्ययीभाव अर्थात् व्यय का सन्तत अभाव, खर्च नदारद। कुछ हो तब न खर्च किया जाय। यहाँ तो सोलहो दण्ड एकादशी है। तत्पुरुष—(हे पुरुष, इसीलिए) कर्मधारय (वह काम करो) जिससे मैं बहुव्रीहि—बहुत धान से युक्त हो जाऊँ। यहाँ मुद्रालंकार के द्वारा व्याकरणशास्त्र के छः हं समासों का नाम आया है। बस, शब्दों के अनूठेपन के अतिरिक्त इस सूक्ति मे अन्य सौन्दर्यसाधन क्या हैं? इससे कश्मीर के प्रसिद्ध महाकवि बिल्हण के प्रपितामह भट्ट मुक्तिकलश का यह पद्य सूक्ति का सुन्दर उदाहरण है।

> पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
> विलसत्करेणु गहनं-सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥

एक निर्धन कवि किसी राजा से अपनी दशा का परिचय दे रहा है। राजन, इस समय मेरी और आपकी दशा एकदम बराबर है। आपके महल में (पृथु + कार्तस्वर + पात्र) बड़े-बड़े सोने के पात्र हैं और मेरा घर (पृथुक + आर्तस्वर + पात्र) लड़कों के कातर रोदन का स्थान है। आपके

समस्त परिजन भूषित, गहनों से सुसज्जित, हैं और मेरा सब परिवार (भू+उषित) पृथ्वी पर सोनेवाला है। आपके दरवाजे पर (करेणु) हाथियों का झुण्ड शोभित है और मेरा घर चूहों (विलसत्क) की धूलि से भरपूर है। अतः मेरा जैसा दरिद्र और आप जैसा धनाढ्य—दोनों विरोधी पुरुषों की दशा में तनिक भी अन्तर नहीं हैं—दोनों एक समान हैं। यहाँ श्लेपजन्य शाब्दिक चमत्कार है। 'पृथुकार्त—स्वरपात्र', 'भूषित' तथा 'विलसत्करेणुगहन' इन तीनों पदों में सभङ्ग श्लेष है। पृथुकार्तस्वरपात्र का अर्थ है—(१) कार्तस्वर=सोने के बड़े बर्तन; (२) पृथुक=बच्चों का आर्तस्वर=करुण स्वर। भूषित=(१) अलङ्कृत, (२) जमीन पर रहनेवाले (भू+उपित); विलषत्करेणु=(१) विलास करनेवाले हाथी तथा (२) बिल में रहनेवाले चूहों से खोदी गई रेणु धूलि। यह शब्दों का एक बढिया तमाशा है जिसका मजा बिना अर्थ बतलाये साधारण पाठक को मिल ही नहीं सकता।

अब अर्थचमत्कार की सूक्ति सुनिए—

आदातुं सकृदीक्षितेऽपि कुसुमे हस्ताग्रमालोहितं
लाक्षारञ्जनवार्तयापि सहसा रक्तं तलं पादयोः।
अङ्गानामनुलेपनस्मरणमप्यत्यन्तखेदावहं
हन्ताधीरदृशः किमन्यदलकामोदोऽपि भारायते।

किसी सुन्दरी की सुकुमारता का वर्णन कोई चमत्कारी कवि वर्णन कर रहा है—उस सुन्दरी के मन में इच्छा जागी कि फूल तोड़ूँ। उसने फूल को देखा, सो भी केवल एकबार। बस क्या था, उँगलियाँ लाल हो गईं। फूल तोड़ने की तो कथा ही दूर रहे। अभी तो केवल सुन्दरी ने उसे देखा है परन्तु यहाँ तो केवल फूल के देखने से ही उस सुकुमारी की उँगलियाँ लाल हो उठी हैं। यदि वास्तव में उसने अपने कोमल करों से फूल तोड़ा होता, तो भगवान् ही जाने उँगलियों की कैसी दुरवस्था हो गई होती! उधर पैर में महावर लगाने की बात उठी और इधर पैर के तलवे लाल हो गये। बेचारों में महावर के बोझ सहने की ताकत कहाँ? यहाँ तो केवल लगाने की चर्चा छिड़ते ही तलवे चर्चामात्र से ही लाल हो जाते हैं। नायिका भी क्या हैं नाजुक-बदन है। भला कहीं चर्चा से इतना प्रभाव पड़ता है; परन्तु हमारे कविजी की

नायिका के तलवे केवल आशंका से लाल हो जाते हैं। अनुलेपन का स्मरण भी अंगो में अत्यन्त खेद पैदा कर रहा है। यदि अगराग के लगाने से अङ्गों में क्रान्ति पैदा हो जाती, तो एक बात भी थी। यहाँ तो कुछ विचित्र ही हाल है। अभी भविष्य में अनुलेपन लगाया जायगा। बस, उसकी याद ने ही शरीर मे थकावट पैदा कर दी है। और अधिक उसके विषय में क्या कहा जाय? उसके केशो की जो सुगन्ध है, वह भी बोझ सी हो गयी है। यदि काले लटकारे केश भार से लगते, तो एक बात भी थी। यहाँ तो उनकी सुगन्ध भी भार का काम कर रही है। नायिका उनके भार से लची जाती है।

चमत्कार का प्रयोग केवल अर्थों के साथ कसरत करनेवाले कवि ही किया करते हैं, ऐसी बात नही है। चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करता है, पर उसका प्रयोजन होता है किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करना। यह तो सर्वमान्य बात है कि उक्तिवैचित्र्य से सरस काव्य में भी चमत्कृति की मात्रा बढ जाती है। अपने भावो को पाठको के हृदयतल को स्पर्श करने के लिए भावुक कवि व्यञ्जना के एक असाधारण प्रकार का आश्रय अपने काव्य मे लेता है, जिसमे अनूठेपन के लिए भी प्रचुर स्थान होता है परन्तु तथ्य बात यह है कि यह अनूठापन भावानुभूति को भव्यतर तथा उग्रतर बना देता है, स्वतः काव्य का सर्वस्व बनकर नही बैठ जाता। सूक्ति और काव्य मे यही अन्तर होता है। सूक्ति मे चमत्कार ही चमत्कार झलकता है, परन्तु काव्य में उक्तिवैचित्र्य के द्वारा स्फुट अभिव्यञ्जित भावों की अभिव्यक्ति ही प्रधान रहती है। भावाभिनिवेश काव्य की पहिचान है और उक्तिवैचित्र्य सूक्ति की। परन्तु भावुक कवियों के हाथ मे वक्रोक्ति रसानुभूति का व्याघातक न बनकर सहायक ही बनती है। रसोक्ति मे उक्तिविचित्रता प्रधानत्वेन स्थित नहीं रहती, बल्कि गौणरूप से अवस्थान कर काव्य सर्वस्व रस को हृदयगम बनाने मे विशेष सहयोग देती है। इसीलिए भोजराज ने काव्य को तीन भागों में विभक्त किया है—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति तथा रसोक्तिः—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्

(सर० कण्ठा० ५।८)

परन्तु ये तीनों विभाग नितान्त स्वतन्त्र विभाग नहीं हैं। इनका आपस में सहयोग भी हो सकता है। हमारा यही कहना है कि जब वक्रोक्ति तथा रसोक्ति का परस्पर सामञ्जस्य जम जाता है, तब रसमयी कविता मे शाब्दिक अनूठापन अथवा आर्थिक चमत्कार किसी प्रकार का वैषम्य उपस्थित नही करता। जिस प्रकार तन्त्री के तारों का समुचित मिलन संगीत की माधुरी को स्निग्ध तथा श्रुतिपेशल बनाने मे समर्थ होता है, उसी प्रकार रसोक्ति के साथ वक्रोक्ति का यह मञ्जुल समन्वय काव्यमाधुरी का सम्पादक है, विघातक नही।

(३) रसोक्ति और वक्रोक्ति का योग

रसोक्ति के साथ वक्रोक्ति का मञ्जुल सयोग काव्य मे कितनी मधुरिमा उत्पन्न करता है, इसकी अभिव्यक्ति के लिए कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

शीर्णा गोकुलमण्डली पशुकुलं शष्पाय न स्पन्दते,
मूका कोकिलसंहतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति।
सर्वे त्वद्विरहेण हन्त नितरां गोविन्द दैन्यं गताः
किन्त्वेका यमुना कुरङ्गनयना—नेत्राम्बुभिर्वर्धते॥

भगवान् कृष्णचन्द्र के सामने उद्धवजी उनके विरह में गोकुल की दयनीय दशा का वर्णन मार्मिक ढङ्ग से कर रहे हैं। हे गोविन्द! गोकुल की दशा मुझसे न पूछिए। गौवों की मण्डली क्षीण हो गई है। पशुगण घास चरने के लिए हिलते-डुलते तक नही हैं। कोकिलों का समूह मूक हो गया है। मयूरो का झुण्ड व्याकुल होकर नाच नहीं रहा है। इस प्रकार गोकुल के सब जीव क्षीण हो गये हैं, किन्तु एक ही जीव ऐसा है, जो विरह में भी सन्तत बढ़ रहा है। और वह है यमुना, जो मृगनयनियो के नेत्रजल से—आँसुओ से—बढ़ रही है। पद्य के अन्तिम चरण मे उपन्यस्त उत्प्रेक्षाजन्य चमत्कार कितना तलस्पर्शी है। क्षीणकाय होनेवाली गोकुल की वस्तुओं मे यमुना की जलवृद्धि के कारण की जो कल्पना कवि ने इस सरस पद्य में की है वह प्रस्तुत विरह के भाव को उग्रतर बना रही है। यमुना मे बाढ़ आ गई है और इसका कारण है गोपियों के आँसू। उक्ति नितान्त चुटीली है पर साथ ही साथ गोपियों के दैन्यदशा की गूढ़ अभिव्यञ्जना

कर रही है। अतः अर्थ का अनूठापन प्रकृत मानसिक भाव से इतना घुलमिल गया है कि वह उसे मनोहर तथा रुचिरतर बना रहा है।

कवि अपने भक्तिभाव की अभिव्यक्ति कितने अनूठे ढंग से इस कमनीय पद्य मे कर रहा है—

त्वत्कीर्तिमौक्तिकफलानि गुणैस्त्वदीयैः
सन्दर्भितुं विबुधवामदृशः प्रवृत्ताः।
नान्तो गुणेषु न च मौक्तिकरन्ध्रदेशो
हारो न जात इति ताश्चकितं हसन्ति॥

हे भगवन्, देवाङ्गनाये आपकी कीर्तिरूपी मोतियों को आपके गुणों में गूँथने के लिए किसी-समय प्रवृत्त-हुईं। परन्तु गुणो (गुण तथा डोरा) का न तो अन्त ही मिला और न मोतियों मे छेद। अतः अभीष्ट हार बन नही सका। इसलिए वे चकित होकर हँस रही हैं। मोतियों में छेद तथा डोरे का छोर मिलने पर ही माला गूँथी जा सकती है, परन्तु भगवान् की निर्मल कीर्तिरूपी मुक्ता में कही छेद नही है तथा गुणों का कही छोर नही है। अतः अभीष्ट माला की न रचना में आश्चर्य ही क्या हो सकता है ? इस पद्य की सूक्ति नितान्त अनूठी है, परन्तु वह भगवान् के गुणों की अनन्तता तथा कीर्ति की निष्कलङ्कता की अभिव्यक्ति बड़े ही रमणीय ढग से कर रही है। भगवान् के प्रति भक्ति की भावना को उग्र करने में यह आर्थिक चमत्कार सर्वथा समर्थ होता है। अतः यहाँ अनूठापन भूषणरूप ही है।

विरहवर्णन मे उक्तिवैचित्र्य की रुचिरता कितनी चमत्कारिणी है—

भ्रूचापे निहितः कटाक्षविशिखो निर्मातु मर्मव्यथां
श्यामात्मा कुटिलः करोतु कबरीभारोऽपि मारोद्यमम्।
मोहं तावदयं च तन्वि ! तनुतां बिम्बाधरो रागवान्,
सद्वृत्तः स्तनमण्डलस्तव कथं प्राणैर्मम क्रीडति॥

—गीतगोविन्द ३। १४

श्रीकृष्ण का वचन राधिका के प्रति। हे तन्वि ! तुम्हारे भौह-रूपी धनुष के ऊपर रखा गया कटाक्षरूपी बाण मर्मपीडा उत्पन्न

करता है तो करे, क्योंकि धनुष पर आरोपित बाण का धर्म ही है परपीडन, उससे हम अधिक आशा ही क्या कर सकते हैं? वह काली कुटिल वेणी मारने के लिये भले उद्योग करे, क्योंकि जो स्वयं कुटिल तथा मलिन होता है वह दूसरों के मारने का उद्योग करता ही है। अतः बेणी के काम में कुछ भी अनौचित्य नही है। तुम्हारा बिम्बफल के समान रक्तवर्ण अधर मूर्च्छा उत्पन्न कर रहा है तो करे। इसमे अनुचित ही क्या है? जो स्वयं रागवान्—मात्सर्ययुक्त है वह दूसरों को मोह उत्पन्न करता ही है। परन्तु आश्चर्य की सीमा तो यह है कि तुम्हारा गोल स्तनमण्डल हमारे प्राणो से खेल कर रहा है— वह हमारे प्राणों को हरण करनेपर उतारू है। जो स्वयं सद्वृत्त है, सुन्दर चरित्र से सम्पन्न है वह दूसरों के प्राणों को लेने के लिए तैयार है —इससे बढकर आश्चर्य की पराकाष्ठा क्या हो सकती है? भ्रूचाप पर आरोपित कटाक्षशर का, काली कुटिल बेणी का, रागवान् बिम्बाधर का कार्य तो कथमपि उचित माना जा सकता है, परन्तु सद्वृत्त (गोलाकार तथा सच्चरित्र) स्तनमण्डल की प्राणहरण लीला के औचित्य का क्या कथमपि समर्थन हो सकता है? श्लेष तथा विरोधाभास अलकारों ने उक्ति के चमत्कार को सहस्रगुन बढा दिया है। स्पष्ट ही यह उक्तिवैचित्र्य प्रकृत भाव को उग्र बनाने के कारण नितान्त श्लाघनीय हुआ है। राधिका के अगों के दर्शन का प्रभाव कृष्ण के उपर कितना घातक सिद्ध हो रहा है। कृष्ण के हृदय की मार्मिक वेदना की अभिव्यक्ति यह वक्रोक्ति भलीभाँति कर रही है। अतः रसोक्ति के साथ वक्रोक्ति का यह समन्वय मणि-काञ्चनयोग के समान श्लाघनीय है। इसीलिए महाकवि जयदेव का यह पद्य सहृदयो का नितरा हृदयानुरञ्जन करता है।

हिन्दी की कविताओ मे भी इस प्रकार का काव्यमाधुर्य सर्वथा मनोहारी होता है। महाकवि देव की यह सवैया लीजिए—

साँसन ही मे समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि, हेरि हियो जो लियो हरिजू हरि॥

इस सरस सवैये का आशय है कि वियोग मे वियोगिनी के शरीर को संघटित करनेवाले पाँचो तत्त्व धीरे धीरे निकलते जा रहे हैं। साँस के रूप मे वायु चली गई; आँसुओं के रूप मे जलतत्त्व ढल गया; अपना गुण (रूप) लेकर तेज भी चला गया; तन को क्षीण बनाकर पृथिवी निकल गई; अब तो चारों ओर आकाश ही आकाश नजर आता है चारों ओर शून्य ही दिखलाई पड़ता है। श्रीकृष्ण ने जिस दिन से उसे मुँह फेर कर ताका है और हँस कर उसके हृदय को चुरा लिया है, उसी दिन से उसकी यह दयनीय दशा हो गई है। यहाँ उक्ति का चमत्कार नितान्त स्पृहणीय है। नायिका की दीन दशा की उपपत्ति बड़े ही सुन्दर ढंग से की गई है। अतः यहाँ वक्रोक्ति-जन्य चमत्कार नितान्त व्यक्त है, परन्तु इस चमत्कार के बीच मे विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है। इसीमे सहृदयो का हृदय रमता है। अतः इस अनूठेपन को हम गर्हणीय न मानकर स्पृहणीय मानते हैं। इसकी सत्ता से प्रकृत वियोगवर्णन की मार्मिकता मे किसी प्रकार की कमी नहीं होती।

परन्तु नैषधकार श्रीहर्ष की दमयन्तीविरहविषयक अनेक उक्तियाँ इस मुग्धतामयी कोटि में नहीं आती। उनमे उक्तिवैचित्र्य इतना अधिक है कि पाठक का चित्त उसी चमत्कार मे बहने लगता है, दयनीय दमयन्ती के दीर्घदुःख की घटना पर उसका न तो चित्त जाता है और न तनिक समवेदना ही प्रकट करता है।

> स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम्।
> अयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम्॥
>
> —नैषध ४। २६

काम की अग्नि से सन्तप्त दमयन्ती अपने शरीर की गर्मी दूर करने के लिए अनेक आर्द्र कमलों को बारंबार ग्रहण करती थी, परन्तु उसकी गर्म साँस से वे आधे रास्ते में ही झुलसकर मर्मर शब्द करने लगते थे। अतः उन्हे अपने शरीर के पास बिना ले गये ही वह उन्हे बीच रास्ते मे ही व्यर्थ होने से फेक देती थी। कल्पना की चकाचौंध मे प्रकृत विरहवेदना की कथा अपने को भूल जाती है। हिन्दी के महाकवि बिहारी की इसी

कोटि की अनेक चमत्कारी सूक्तियाँ हैं जिनमें अनूठापन ही अधिक है, रससञ्चार कम—

औंधाई सीसी सुलखि, बिरह बरति बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटौ छुयौ न गात॥

—बिहारी बोधिनी दोहा ५१६

कोई सखी नायिका की विरहदशा की सूचना अन्य सखी से दे रही है कि उस लाड़ली को विरह से जलती हुई और बिलपती हुइ देखकर मैंने गुलाबजल की शीशी ही उस पर औंधा दी कि इसकी ठण्ढक से उसे कुछ आराम मिले, परन्तु उसके शरीर से इतनी ताप निकलती थी कि वह गुलाब बीच में ही सूख गया। एक छींटा भी उसके शरीर से न छू गया। इस दोहे की नैषध के पूर्वोक्त पद्य से तुलना कीजिए। एक ही भावभङ्गी है! एक ही प्रकार का चमत्कार है।

उर्दू साहित्य में ऐसी चुभती चोखी सूक्तियाँ खूब मिलेंगी जिनके अनूठेपन पर बालरुचिवाला श्रोता आनन्द गद्गद हो उठता है, परन्तु जो हृदय के अन्तःस्तर पर पहुँचती ही नहीं, केवल हल्का सा कौतुक उत्पन्न करने में ही चरितार्थ होती हैं। विषय की पूर्णता के लिए एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

बिहारी ने अपनी विरहकृशगात्रा तन्वी की दशा की व्यञ्जना करते समय कहा है कि निकृष्ट विरह ने उसकी दशा ऐसी कर दी है कि मौत आँखों पर चश्मा लगाकर भी ढूँढना चाहे तो भी शायद उसे न देख सके—

करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीच।
दीने हूँ चसमा चखनि, चाहै लखै न मीच॥

इसीके समान उर्दू शायरों की यह कल्पना भी देखिए—

नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र मे
कोने कोने ढूँढती फिरती कजा थी मै न था

कवि कहता है कि नातवानी (= दुर्बलता) ने ही वियोग मे मेरी जान बचाई है। कोने कोने में मौत (कजा) मुझे ढूँढती थी और उसे मैं दीख नही पड़ता था।

अथवा इस उक्तिचमत्कार पर दृष्टि डालिए—

> ये नातवां हूँ कि आया जो यार मिलने को
> तो सूरत उसकी उठा के पलक न देख सका।

विरह के इन वर्णनों मे क्या समुचित भाव की व्यञ्जना है? बिल्कुल नही। ये तो नितान्त उक्तिचमत्कार के उदाहरण हैं जिनमें कथन की भङ्गी ही कौतुक पैदा करने में पर्याप्त होती है। विरहदशा का यह वर्णन न तो हमारे हृदय को ही स्पर्श करता है और न हमारी समवेदना के लिए ही हमे आतुर बनाता है। इन वर्णनो की ऊपर दिये गये वर्णनों से तुलना करने पर दोनो का अ तर स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी के एक मान्य आलोचक के शब्दो मे यह मजाक है, विरहवेदना नही।

इस समीक्षा का निष्कर्ष यही है कि कुन्तक की वक्रोक्ति इस संकीर्ण चमत्कार की पर्यायवाचिनी नही है। यह व्यापक चमत्कार—चमत्कारात्मक रस अथवा काव्यानन्द—की ही सर्वथा अभिव्यञ्जिका है। और यह सिद्धान्त वक्रोक्ति के व्यापक मौलिक तथ्य के सर्वथा अनुकूल ही है।

(८)

भट्टनायक की काव्यकल्पना

साहित्य शास्त्र के इतिहास मे वक्रोक्तिजीवितकार के समान भट्टनायक भी काव्य में व्यापार प्राधान्यवादी आचार्य हैं। वे काव्य को शास्त्र तथा आख्यान से नितान्त भिन्न वस्तु मानते हैं। इस पार्थक्य को निश्चित करने का श्रेय भट्टनायक को ही प्राप्त सा जान पडता है, क्योंकि इस विषय की चर्चा होते ही अलकार ग्रन्थों मे इनका विशिष्ट मत सर्वत्र उल्लिखित तथा व्याख्यात हुआ है। अभिनव गुप्त ने इनके मत की जो समीक्षा लोचन तथा अभिनवभारती में विस्तार के साथ की है उससे इनके सिद्धान्तों की स्पष्ट सूचना मिलती है। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का प्रयोग शास्त्र मे होता है, आख्यान मे होता है तथा काव्य मे होता है। पूर्व दोनो प्रकार के शब्दो से काव्यगत शब्दो की भूयसी विशिष्टता होती है। इसी वैशिष्ट्य के कारण काव्य का काव्यत्व निष्पन्न तथा

प्रतिष्ठित होता है। यह विशिष्टता है—**व्यापार**। काव्य के द्वारा रसोन्मीलन के अवसर पर इस व्यापार के तीन अश होते हैं। यह स्मरण रखने की बात है कि भट्टनायक काव्य में रस को आत्मा मानते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार व्यञ्जनावादी आनन्दवर्धन रसध्वनि को काव्य मे प्राणभूत मानते हैं। रस के उन्मीलन करने मे ही काव्य का समग्र साधन अग्रसर होता है। व्यापार तीन प्रकार का होता है—**(१) अभिधा, (२) भावकत्व (३) भोजकत्व**। इनमे वाच्य (अभिधेय, प्रतिपाद्य) अर्थ की दृष्टि से काव्यशब्दो मे अभिधाव्यापार रहता है। भट्टनायक की यह **अभिधा** 'शक्ति' के सीमित अर्थ मे प्रयुक्त नही है, प्रत्युत अधिक व्यापक तथा विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग उन्हे अभीष्ट है अर्थात् सम्पूर्ण रूप से कवि के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यञ्जना। इसे ही 'अभिधा' द्योतित करती है। रस आदि के सम्बन्ध मे शब्दों मे भावकत्वव्यापार का निवास रहता है। सहृदयों के सम्बन्ध मे भोक्तृत्वव्यापार रहता है अर्थात् एक ही काव्य-व्यापार के तीन अंश तीन वस्तुओं को दृष्टि में रखकर होते हैं—

वाच्य की दृष्टि से काव्यशब्द अभिधायक होते है, रस की दृष्टि से भावक होते है और सहृदयों की दृष्टि से भोजक होते है।

काव्य के शब्द एकाकार होते हैं, परन्तु जो व्यापार उन्हें शब्द तथा आख्यान के शब्दो से पृथक् करता है वह त्रिविध लक्ष्य की दृष्टि से तीन अंशों में विभक्त हो जाता है। अभिनवगुप्त का स्पष्ट कथन है—

अन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य। त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्। भावकत्वं रसादिविषयम्। भोक्तृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोऽशभूता व्यापाराः।

—ध्वन्यालोक लोचन पृ० ६८

अभिनवभारती मे 'लक्षण' नामक विख्यात साहित्यतत्त्व की व्याख्या के अवसर पर आचार्य अभिनवगुप्त उसे कवि के अभिधाव्यापार से पृथक् नही मानते। **अभिधा व्यापार** कवि की वह अभिव्यञ्जना है जो काव्य मे रसप्रतीति करने की क्षमता रखती हो। कवि काव्य मे उद्यान,

सन्ध्या, प्रभात, आदि विषयों के वर्णन में इसीलिए आसक्त रहता है कि अभिधाव्यापार के द्वारा द्योतित इनके अर्थ विभाव, अनुभावादि रूप में सद्यः परिणत हो जाते हैं[१]। परन्तु अभिधाव्यापार हो कवि के प्रयत्न की परमावधि नहीं है। यदि व्यापार का अभिधा अश ही शुद्धरूप से काव्य मे केवल प्रतिष्ठित मान लिया जाय, तो शास्त्र में प्रयुक्त तन्त्र आदि न्यायों में और काव्य मे प्रयुक्त श्लेपालंकार मे भेद ही क्या होगा? वृत्ति के के भेद से जो वैचित्र्य उत्पन्न होता है वह भी अकिञ्चित्कर ही होगा। इतना ही नहीं, श्रुतिदुष्ट आदि दोषो के वर्जन का ही प्रसङ्ग कैसे उठेगा[२]? अभिधा केवल कवि के अभीष्ट अर्थ की सिद्धि करके विरत हो जाती है। 'कार्तार्थ्यं याति तन्वङ्गी कदाऽनङ्गवशं गता' में प्रथम पद को कर्णकटु मानने का कारण क्या है?

इसीलिए **रसभावना** नामक दूसरे व्यापार की आवश्यकता होती है[३]।

---

१ यथारस ये भावाः विभावानुभावव्यभिचारिणस्तेषा योऽर्थः स्थायिभावरसीकरणात्मकं प्रयोजनान्तरं गतानि प्राप्तानि। यदभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता उद्यानादयोऽर्थाः तत्र सविशेषविभावादिभाव प्रतिपद्यन्ते तानि लक्षणानीति सामान्यलक्षणम्। अतएव काव्ये सम्यक् प्रयोज्यानीति विषयस्तेषामुक्तः।

—अभिनवभारती

२ तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात् तत् तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलंकाराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं वा अकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जन च किमर्थम्?

—लोचन पृ० ६८

३ तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः। यद्वशाद् अभिधा विलक्षणैव। तच्चैतद् भावकत्वं नाम यत् काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः।

—लोचन पृ० ६८

इसीके कारण अभिधा भी शास्त्र में प्रतिपादित आद्या शक्तिरूप अभिधा से विलक्षण हो जाती है। **भावकत्व व्यापार** है क्या? काव्य में विभाव, अनुभाव आदि का साधारणीकरण। काव्य में कवि एक विशिष्ट अर्थ की द्योतना मे सचेष्ट रहता है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में नायक के रूप में दुष्यन्त का और नायिका के रूप में शकुन्तला का चित्रण किया है। दुष्यन्त-शकुन्तला इस भारतभूमि पर कभी किसी प्राचीन-काल मे अवतीर्ण हुए। उन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियो का चित्रण यदि कवि करता है, तो दर्शकों तथा पाठकों की सहानुभूति पाने का उसे क्या अधिकार है? इस नाटक से सामान्य दर्शकों को रसानुभूति क्यो होगी? उन्हे न दुष्यन्त से कुछ देना-लेना है और न शकुन्तला से कुछ काम ही है। ऐसी दशा मे काव्य शब्दो मे रसोन्मेष के लिए भट्टनायक भावकत्व नामक व्यापार मानते हैं। इसके द्वारा दुष्यन्त एक साधारण वीरसामान्य के रूप मे हमारे सामने आता है—वह केवल वीरत्व से मण्डित एक सामान्य वीरपुरुष का प्रतिनिधि बनकर ही पाठकों के सामने प्रस्तुत होता है। यही है भट्टनायक का साधारणीकरणरूप भावकत्व व्यापार।

इतने पर भी रस का उन्मेष नहीं होता। भावित होने पर ही रस का भोग सहृदयो को होता है। यह भोग स्मरण तथा अनुभव दोनों से विलक्षण होता है। 'अनुभव' केवल विषयज्ञान को कहते हैं। 'घर है' इसका ज्ञान नेत्र के द्वारा होने पर यह अनुभव कहलाता है। अनुभव किये गये पदार्थ की 'स्मृति' होती है। परन्तु जिस समय सहृदय काव्यशब्दों का अर्थज्ञान कर आनन्द से विभोर हो उठता है, क्या उस समय उसे केवल स्मृति होती है या अनुभूति? यह नवीन होने से स्मृति नहीं हो सकता, सामान्य परिचयमात्र से पृथक् होने के कारण अनुभव नहीं हो सकता। यह नवीन वस्तु है भोग। भोग का अर्थ है चित्त की द्रवीभूतावस्था जिसमे रज तथा तम गुणों का सर्वथा परिहार हो जाता है, तथा विशुद्ध सात्त्विक गुण का आविर्भाव होता है। यह आनन्द परब्रह्म के आस्वाद के समान होता है। इसीलिए भट्टनायक इसे **'परब्रह्मास्वादसचिव'** कहते हैं। काव्यव्यापार का यही अंश प्रधान

है— काव्य के द्वारा **रसभोग**[1] ही प्रधान वस्तु होता है। पाठकों को व्युत्पत्ति प्रदान करना तो काव्य मे नितान्त अप्रधान होता है।

भट्ट नायक—मीमांसक

भट्ट नायक की संक्षेप में यही **काव्यभावना** है। शास्त्रीय विचारों में वे मीमासा के पक्षपाती थे। मीमासा में **भावना** की प्रधानता रहती है। भावना के 'अंशत्रय' होते हैं। इसी भावना को भट्टनायक ने काव्यमार्ग में प्रस्तुत कर रस की व्याख्या करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है और मीमासक भावना के समान उनका **भावना** नामक काव्यव्यापार भी अंशत्रयविशिष्ट होता है। भट्टनायक के मीमासक होने का प्रबल प्रमाण है अभिनवगुप्त की प्रत्यक्ष उक्ति। आनन्दवर्धन ने 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' ध्वनि के उदाहरण मे वाल्मीकि का यह सुन्दर पद्य उद्धृत किया है—

> **रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः**
> **निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥**

वह चन्द्रमा जिसका सौभाग्य सूर्य में चला गया है और जिसका मण्डल कुहरे से ढ़क गया है उसी प्रकार नही चमकता जिस प्रकार श्वास लेने से अन्धा दर्पण। यहां दर्पण के लिए प्रयुक्त 'अन्ध' शब्द का मुख्य अर्थ अत्यन्त छोड़ दिया गया है। आँख फूटने पर ही व्यक्ति अन्धा होता है, दर्पण को तो आँखे नही होतीं। अतः उसे अन्धा कहने का तात्पर्य क्या? 'अन्ध' का ध्वन्यर्थ है— पदार्थ के स्फुटीकरण मे अशक्त वस्तु। इस ध्वनिकार के मत के प्रतिकूल भट्टनायक इस पद्य के अर्थ में एक बडी

---

१ (भोगः) योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तर-विकाशनामा रजस्तमोवैचित्र्याननुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृति-द्रुतिविश्रान्तलक्षणः परब्रह्मास्वादसचिवः। स एव च प्रधानभूतः अंशः सिद्धिरूपः। व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवेति ॥

लोचन-पृ० ६८

क्लिष्ट कल्पना करते हैं (लोचन पृ० ६३)। इसी पर अभिनवगुप्त की व्यंग्योक्ति है— जैमिनिसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपि। भट्टजी महाराज, ऐसी योजना जैमिनिसूत्र में होती है, काव्य मे नही। स्पष्टतः यह उक्ति भट्टनायक के मीमांसक होने की साधिका है। अभिनवभारती में एक स्थान पर अभिनव ने जैमिनि के अनुसरण करने के कारण इनकी हँसी उड़ाई है—

यत्तु भट्टनायकेनोक्तं ········तेन नाट्याङ्गता समर्थिता।
'फलं तु पुरुषार्थत्वात्' इति केवलं जैमिनिरनुसृतः॥

इन दोनों वचनों से स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त भट्टनायक को मीमासक ही मानते थे। मीमांसक लोग 'अभिधा' पर विशेष आग्रह रखते हैं, भट्टनायक का भी आग्रह 'अभिधा' पर है, परन्तु पूर्वोक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि इनकी अभिधा शक्तिरूप नहीं है, प्रत्युत काव्य में प्राधान्य रखनेवाला विशिष्ट कवि-व्यापार है। इसीलिए अभिनव गुप्त भट्टनायक के 'अभिधाद्योतक व्यापार' को भामह की वक्रोक्ति के समकक्ष मानते हैं। भामह के अनुसार काव्य मे रमणीयता का उदय वक्रोक्ति से होता है, भट्टनायक के अनुसार 'अभिधा' के द्वारा। अतः दोनों के मतों में सादृश्य दीख पड़ता है।

काव्य में अभिधा के द्वारा उत्पन्न सौन्दर्य की सुषमा इस पद्य में देखिए—

एतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा।

—भल्लटशतक

कोई व्यक्ति अपने मित्र से किसी उजड्ड मूर्ख की बात कह रहा है कि भाई, मैं उसकी हालत क्या कहूँ? वह ऐसा जड़ है कि कमलिनी के पत्ते पर गिरे हुए ओस के कण को मोती समझता है। भला ऐसा भी मूर्ख कहीं खोजने पर मिलेगा। मित्र ने उत्तर दिया—भाई, एक दूसरे जड़ात्मा का हाल तो सुनिए। कमलिनी के दल पर गिरा हुआ ओसकण उनकी अँगुली के अगले हिस्से के छूते ही जमीन पर गिर पड़ा और गायब हो गया। परन्तु

उस मूर्खशिरोमणि को रातभर सोच के मारे नींद नहीं आती। वह सोचा करता है कि हाय! अगुली के छूते ही वह मेरा चमकता मोती कहाँ उड़ गया। बस, वह इसीमें हैरान है। दिनरात इसी सोच मे बीत जाते हैं—कभी नीद दर्शन नही देती। कहो, इससे बढ़कर मूर्ख कहीं है? असली बात यह है कि मूर्खों को अस्थान में, अयोग्य वस्तुओ मे, ममता हुआ करती है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति कवि ने अभिधा के द्वारा कितनी सुन्दरता तथा सहृदयता के साथ प्रकट की है।

भट्टनायक काव्य मे इसी अभिधा के प्राधान्य को मानने के पक्षपाती हैं। इसीलिए उनका **अभिधाप्राधान्य** व्यापारप्राधान्य का ही नामान्तर है। कुन्तक तथा भट्टनायक—समुद्रबन्ध की सम्मति मे दोनों आलोचक काव्य मे वैशिष्टय का उदय **व्यापार** के द्वारा स्वीकार करते हैं। कुन्तक का काव्य-व्यापार **वक्रोक्ति** नाम से अभिहित होता है, भट्टनायक का **भावकत्व** नाम से या अभिधा नाम से। दोनों मे अन्तर यही है कि कुन्तक काव्य के शब्दांश की दृष्टि से व्यापार के प्रतिपादक हैं और भट्टनायक काव्य के अर्थांश की दृष्टि से व्यापार के समर्थक हैं। समर्थक हैं दोनों काव्यव्यापार के ही, परन्तु इस सूक्ष्म अन्तर के साथ। इसमे सन्देह नही है कि दोनो की कल्पनाये मौलिक हैं।

(९)

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति के निम्नलिखित ६ भेद स्वीकार किये हैं[१] :—

(क) वर्णविन्यास वक्रता;
(ख) पद-पूर्वार्ध वक्रता;
(ग) पद-परार्ध वक्रता
(घ) वाक्य वक्रता;
(ङ) प्रकरण वक्रता;
(च) प्रबन्ध अक्रता;

---

१ वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता।
वक्रतायाः परोप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥
वक्रोक्तिजीवित १।१९

वक्रोक्ति के भेद बड़े ही व्यापक तथा साङ्गोपाङ्ग हैं। प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई वर्ण या अक्षर है। अक्षरों का ही समुदाय विभक्तिरहित होनेपर प्रातिपदिक या 'प्रकृति' कहलाता है और विभक्ति से युक्त होने पर 'पद' कहलाता है **सुप्तिङन्तं पदम्**। पद के दो विभाग हैं—प्रकृति और प्रत्यय। इसीलिए कुन्तक ने पद में दो प्रकार की वक्रता स्वीकार की है। एक वक्रता वह है जो उसके पूर्वार्ध मे निवास करती है और दूसरी वक्रता वह है जो पद के उत्तरार्ध मे निवास करती है। इसको **प्रत्यय वक्रता** भी कहते हैं। पदों के समुच्चय से वाक्य बनता है और वाक्यो के समुदाय से प्रकरण की रचना होती है। अनेक प्रकरण मिलकर एक विशिष्ट प्रबन्ध तैयार होता है। इस प्रकार कुन्तक ने वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक मे होनेवाली वक्रताओं का पूर्ण श्रेणी-विभाग सुन्दर रीति से किया है। कवि-व्यापार के द्वारा उत्पादित वक्रता इन्हीं स्थानो मे निवास करती है।

(१) अक्षरो के विन्यास मे रहती है—**वर्णविन्यास-वक्रता**। अन्य आलंकारिक अनुप्रास और यमक के भीतर जिन विषयो का निरूपण करते हैं, उनका विवेचन इस वक्रता के भीतर किया गया है।

(२) **पद-पूर्वार्ध-वक्रता**—इसके अन्तर्गत पर्याय (समानार्थक शब्द) रुढि (प्रयोग मे आनेवाले शब्द), उपचार, विशेषण, संवृत्ति, वृत्ति (समास तथा तद्धित प्रत्यय), भाव (धातु), लिङ्ग और क्रिया के विशिष्ट प्रयोगों का विचवेन किया गया है।

(३) **पद-परार्ध वक्रता**—पद का उत्तरार्ध 'प्रत्यय' हुआ करता है। अतः इसे प्रत्यय-वक्रता के भी नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार के अन्तर्गत काल, कारक, सख्या, पुरुष, उपग्रह (कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य भेद से तीन प्रकार का वाच्य), निपात, अव्यय, आदि के विशिष्ट प्रयोगो का महत्त्व तथा साहित्यिक मूल्य प्रदर्शित किया गया है।

(४) वाक्य में होनेवाली वक्रता—**वाक्य-वक्रता**[1]— के असंख्य भेद

---

१ वाक्यस्य वक्रभावोन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालकारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति ॥

व० जी० १।२०

हैं। यह कविप्रतिभा के ऊपर अवलम्बित रहती है और कवियों की प्रतिभा को अनन्त होने के कारण से उसका कथमपि नियमन नहीं किया जा सकता। जिस वाक्य को कवि एक प्रकार से प्रयोग करता है उसे ही किसी दूसरे कवि की प्रतिभा प्रकारान्तर से प्रस्तुत करती है। अतः कविप्रतिभा के आनन्त्य से वाक्यवक्रता के प्रकार भी संख्यातीत[१] हैं। इसी के अन्तर्गत समग्र अलंकारवर्ग का विवेचन किया गया है। यही कुन्तक ने रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी तथा समाहित नामक अलंकारो का भी विशिष्ट निरूपण प्रस्तुत किया है। प्राचीन आलंकारिकों से कुन्तक की शैली इस विषय में स्वतन्त्र है। पूर्व आलंकारिक जहाँ रसवत् आदिक ऊपर निर्दिष्ट अलंकारो में रस की सत्ता गौण रूपेण स्वीकार करते हैं, वहाँ कुन्तक इनमे रस को प्रधानतया अभिव्यक्त बतलाते हैं। अन्य अलंकारों के विषय में भी इनकी कल्पना स्वतन्त्र तथा विवेचन मार्मिक है।

(५) **प्रकरणवक्रता—'प्रकरण'** का अर्थ है प्रबन्ध का एकदेश अर्थात् पूरे ग्रन्थ के अन्तर्गत एक विशिष्ट वर्ण्यविषय। इस प्रकार के अन्तर्गत इसी प्रकरण से सम्बद्ध विशिष्टता का विशेष वर्णन किया गया है।

(६) **प्रबन्ध-वक्रता—'प्रबन्ध'** का अर्थ है समस्त दृश्य तथा श्रव्य काव्य-ग्रन्थ। प्रबन्ध में सौन्दर्य उत्पन्न करना कवि का प्रधान लक्ष्य रहता है[२]। प्रथम पाँच प्रकार की वक्रता इस वक्रता का अङ्गमात्र है। यही वक्रता काव्य में अङ्गी या मुख्य रहती है। प्रथम वक्रताओं का लक्ष्य समूहरूप से इसी वक्रता के उत्पादन में है। अङ्गी की शोभा से ही अङ्गों की शोभा होती

---

१ सहस्रशब्दोऽत्र संख्याभूतत्वमात्रवाची। न नियतार्थवृत्तिः। यथा सहस्रदलमिति। यस्मात् कविप्रतिभानाम् आनन्त्यात् नियतत्व न संभवति।

व० जी० पृ० ४१

२ वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वाऽपि यादृशः।
उच्यते सहसाहार्य सौकुमार्य-मनोहरः॥

व० जी० १।२१

है। अङ्गों के सौन्दर्य से ही अङ्गी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। कविव्यापार का चरम अवसान 'प्रबन्धवक्रता' की ही सृष्टि होती है। जिस प्रकार नाटक के विविध अङ्गों मे परस्पर सामञ्जस्य विद्यमान रहता है, उसी प्रकार प्रबन्धवक्रता के विविध अङ्गों में भी अत्यन्त अनुकूलता, परस्पर उपकारिता तथा हृदयग्राही समता विराजमान रहती है।

(क) वर्ण—विन्यास—वक्रता

इस वक्रता के अन्तर्गत व्यजन वर्ण के सौन्दर्यविषयक समस्त प्रकारों का विवेचन कुन्तक ने किया है। प्राचीन आलंकारिकों के द्वारा वर्णित अनुप्रास तथा यमक का अन्तर्भाव इस वक्रता के भीतर किया गया है। अनुप्रास तथा यमक साहित्य के सुप्रसिद्ध शब्दालंकार हैं। अतः उनके रूपवर्णन की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नही होती, परन्तु इन अलकारों के विषय मे कुन्तक की कई नई मान्यतायें हैं जो उनकी विशिष्ट आलोचनाशक्ति की प्रदर्शिका हैं।

अनुप्रास के सौन्दर्य के निमित्त आचार्य कुन्तक ने कतिपय नियमों का निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है:—

नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्याग—नूतनावर्तनोज्ज्वला॥

—व० जी० २।४

(१) अनुप्रास के सौष्ठव के लिए चाहिए—नातिनिर्बन्धविधान अर्थात् अनुप्रास के विधान में कवि को अत्यन्त निर्बन्ध या व्यसन नही रखना चाहिए। काव्य मे अनुप्रास के प्रयोग के लिए कवि को आग्रह नहीं दिखलाना चाहिए। अनुप्रास को कवि के बिना विशेष यत्न के ही निर्मित होना आवश्यक होता है। अनुप्रास के ऊपर आग्रह रखने से कवि अर्थ के सौन्दर्य पर दृष्टिपात नहीं रखता। वह काव्य के एक अंश पर इतनी ममता रखता है कि उसका अर्थरूपी अश बिल्कुल फीका पड़ जाता है। काव्य मे रहता है शब्द और अर्थ का साहित्य या सामञ्जस्य। उदररोग से पीड़ित व्यक्ति के समान काव्य का शब्द अंश तो खूब वृद्धिंगत तथा स्फीत

बन जाता है, परन्तु उसका द्वितीय—अर्थ—अंश सूख कर काँटा बन जाता है। ऐसी एकाङ्गी शब्दयोजना काव्य के महनीय अभिधान को धारण करने की योग्यता नही रखती[१]। उदाहरण के लिए इन पद्यो पर दृष्टि-पात कीजिए—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत् किं त्वदीयं मे ॥
अनुरणन्मणिमेखलमविरलसिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥

[पतिगृह जाने का निश्चय करनेवाली नायिका से उपनायक (जार) कह रहा है—हे आनन्दरस टपकानेवाली, मनोहर चन्द्रमा की छवि के समान मुखवाली, मधुरभाषिणी, लाल चरणोवाली तरुणी, यदि तू अपने पति के घर जाती है तो अत्यन्त शब्द करनेवाली मणियो की करधनी के और निरन्तर झनझनाते हुए नूपुरो के श्रवणावर्जक शब्द से युक्त तुम्हारा यह गमन क्यो मेरे चित्त मे अचानक उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है? इसे तो बतलाओ।]

कुन्तक की दृष्टि मे कवि ने अनुप्रास के निर्माण मे इतना आग्रह किया है कि शब्दार्थसामञ्जस्य नितान्त विघटित हो गया है। शब्दों की झकार पैर में बजनेवाले नूपुरों की झंकार का अनुरणन अवश्य करते हैं, परन्तु अर्थ की भी तो दशा देखिए। हृदयावर्जक अर्थ विद्यमान ही नही है। मम्मट ने भी इस पद्य के अलकार पर अपनी सम्मति दी है। प्राचीन आलकारिकों ने इसे अनुप्रासवैफल्य नामक दोष माना है। मम्मट ने इसे पूर्वस्वीकृत अपुष्टार्थ दोष के ही भीतर रखा है, क्योकि इस पद्य मे विचार करने पर भी वाच्य की

---

१ व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेः वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति।

—व० जी० पृ० ८४

कोई भी चारुता प्रतीत नही होती[1]। अतः वाच्यचारुत्व से विरहित वाचक-चारुत्व से चर्चित श्लोक को पूर्ण काव्य मानना काव्य का उपहासमात्र है।

(२) अनुप्रास की रचना पेशल—सुन्दर-अक्षरों से होनी चाहिए। अपेशल वर्णों का प्रयोग उसके चारुत्व का सर्वथा विनाशक होता है। जैसे **शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घरा-व्यक्तघोषान्** (सूर्य-शतक, पद्य ६) मे अनुप्रास का विधान कर्णकटु असुन्दर वर्णों के द्वारा किया गया नितान्त उद्वेजक है।

(३) अतः कवि के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह अनुप्रास मे चारुत्व का सम्पादन करे। कुन्तक का यह कहना है कि इसके लिए वह पूर्व आवृत्त वर्णों का परित्याग कर दे और नूतन वर्णों का ग्रहण करे, तभी वह कृतकार्य हो सकता है। ऐसे ललित अनुप्रासो के उदाहरण की कमी नही है। अतः अनुप्रास को काव्य के गुण तथा विशिष्ट मार्ग का अनुसन्धान करना नितान्त आवश्यक होता है। काव्य मे जिस मार्ग का अनुसरण कवि कर रहा है उसके गुणों के साथ अनुप्रास का पूर्ण सामञ्जस्य रखना ही इस लोकप्रिय अलङ्कार का अलकारत्व है। इसे ही प्राचीन आलोचक 'वृत्तिविचित्रता की सम्पत्ति' मानते हैं—

> वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी।
> वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः॥
>
> व० जी० २। ५

यमक के सौन्दर्य की उद्भावना के प्रति कुन्तक सर्वथा जागरूक हैं।

---

१ अत्र वाचस्य विचिन्त्यमानं न किञ्चिदपि चारुत्वं प्रतीयते।
इत्यपुष्टार्थता एव अनुप्रासस्य वैफल्यम्।

काव्यप्रकाश, दशम उल्लास।

उन्होंने यमक के सौष्ठवविधान के निमित्त तीन बातों का वर्णन किया है[१]—(क) (यमक) में आवश्यक है—प्रसादगुण, जिससे वाक्य के अर्थ की प्रतीति झटिति हो जाय; अर्थ की कदर्थना किसी भी प्रकार से न हो (प्रसादि)। (ख) यमक के शब्दों को कानों के लिए उद्वेजक न हो जाना चाहिए शब्दों का सौकुमार्य नितान्त आवश्यक होता है (श्रुतिपेशल)। (ग) तीसरी वस्तु है—औचित्ययोग। यमक को औचित्यपूर्ण होना ही चाहिए (औचित्ययुक्त), तभी यमक का यमकत्व सम्पन्न होता है। कालिदास के रघुवंश के वसन्तवर्णन मे तथा शिशुपालवध के ऋतुवर्णन मे कतिपय यमकों को कुन्तक ने नितान्त 'समर्पक' बतलाया है। अयत्नसिद्ध यमक का एक सुन्दर दृष्टान्त हम 'गीतगोविन्द' में पाते हैं—

कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्।
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम्॥
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवञ्चिता॥

(गीतगोविन्द, सर्ग ७)

इस गीत की प्रथम दोनों पंक्तियों में 'यौवनम्' का यमक कितना हृदयावर्जक है, इसे विशेषरूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं। रससिद्ध कवि की कविता में यमक इसी प्रकार नैसर्गिकरूप से स्वतः आ जाता है। उसके लिए कवि को किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नही रहती। इसका सुन्दर वर्णन आनन्दवर्धन ने बहुत ही अच्छे ढङ्ग से किया है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥

—ध्वन्यालोक २। १७

---

१ समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभि यत्॥

व० जी० २। ६

(ख) पदपूर्वार्धवक्रता

इसके अनेक भेदों में प्रथम भेद है (१) रूढिवैचित्र्यवक्रता अर्थात् रूढि की—अर्थात् परम्परागत अभिधान—की विचित्रता जहाँ लक्षित होती है। इस वक्रता का उपयोग नाना मार्मिक स्थितियों में किया जाता है। असम्भाव्यधर्म के आरोप से संवलित अथवा विद्यमान धर्म के अतिशय की विवक्षा होने पर यह वक्रता होती है। कवि कभी चाहता है कि किसी वस्तु का अलौकिक ढंग से तिरस्कार किया जाय अथवा अलौकिकरूप से उत्कर्ष दिखलाया जाय, इन दोनों अवस्थाओं में इस वक्रता का उपयोग होता है[१]। इस वक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने आनन्दवर्धन के द्वारा प्रस्तुत लक्षणमूलक ध्वनि के दोनों प्रकारों का अन्तर्भाव माना है। इसे स्वयं स्वीकार भी किया है[२]। लक्षणामूलक ध्वनि दो प्रकार की होती है—(१) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य तथा (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य। पहिले प्रकार मे शब्द का मौलिक अर्थ किसी अन्य अर्थ में संक्रमित (परिवर्तित) हो जाता है। अर्थात् सामान्य अर्थ विशिष्ट अर्थ में परिणत हो जाता है। दूसरे प्रभेद मे शब्द का मूल अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत होकर बिल्कुल परिहृत हो जाता है। इन दोनों ध्वनिप्रभेदों का अन्तर्भाव रूढिवैचित्र्यवक्रता के भीतर कुन्तक ने किया है। इस प्रसङ्ग में आनन्दवर्धन के द्वारा 'ध्वन्यालोक' में उदाहृत पद्यों को भी कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

> तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
> रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि[३] ॥

---

१ लोकोत्तरतिरस्कार—श्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया।
वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढिवैचित्र्यवक्रता ॥
—व० जी० २।६

२ व० जी० पृ० ८६

३ यह पद्य आनन्दवर्धन के अनुपलब्ध प्राकृतकाव्य 'विषमबाणलीला' का है। इसे आनन्द ने स्वयं ध्वन्यालोक (पृ० ६२) में अर्थान्तरसंक्रमित-ध्वनि के उदाहरण मे दिया है। इसका असली प्राकृतरूप यो है—

> ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति
> रइकिरणानुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं।

गुण तभी गुण कहलाते हैं जब वे सहृदयों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। रविकिरण से अनुगृहीत होने पर ही कमल कमल होते हैं। इस गाथा में द्वितीय कमलशब्द लक्ष्मीपात्रत्व आदि अनेक गुणों से युक्त कमल की द्योतना कर रहा है (कमलशब्दो लक्ष्मीपात्रत्वादि-धर्मान्तरशतचित्रतापरिणतं संज्ञिनमाह—लोचन)। कुन्तक की दृष्टि मे यहाँ कमलशब्द 'लोकोत्तरश्लाघा' की सूचना कर रहा है। अतः यह रूढिवैचित्र्यवक्रता हुआ।

रूढ शब्द द्वारा वाच्य अर्थ अपने मे स्वयं उत्कर्ष या अपकर्ष का विधान करता है। जैसे राम की यह प्रसिद्ध उक्ति—

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव[१]॥

यहाँ वक्ता राम ने अपने लिए स्वयं 'राम' का प्रयोग किया है। यह नितान्त वक्रतापूर्ण है। राम की वक्रता है—जलधर समय मे मेघो से आकाश के आच्छादित होने पर भी सहन की समर्थता, जनकसुता के दुःखद विरह के समय मे भी निर्लज्ज प्राणरक्षण तथा असम्भाव्य असाधारण क्रूरता। 'वैदेही' की भी वक्रता कितनी मार्मिक है। 'विदेह' को तो साधारण दशा में भी देह की सुध-बुध नही रहती। सीता ठहरी उसी विदेह की कन्या। अतः स्वभाव से ही उनकी कातरता स्फुट है, तिसपर ठहरा यह विविध वलाहक-सम्पन्न वर्षाकाल। इस असाधारण दशा मे सीता की कातरता क्या कही जाय? इसी अलौकिक कातरत्व की व्यञ्जना 'वैदेही' शब्द के द्वारा हो रही है। 'राम' और 'वैदेही' मे विद्यमान अन्तर का सूचक शब्द है—'तु'। अतः यहाँ कवि ने 'राम' और 'वैदेही' शब्दों के द्वारा रूढि की विचित्रता का प्रतिपादन किया है।

---

१ आनन्दवर्धन ने इसे 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' का उदाहरण दिया है।
ध्वन्या० पृ० ६१

(२) पर्यायवक्रता

संस्कृतभाषा में एक शब्द के अनेक पर्याय—समान अर्थ वाचकशब्द—विद्यमान हैं। साधारण पाठकों की दृष्टि मे ये एक अभिन्न समान अर्थ के द्योतक होते हैं। परन्तु विचार करने पर प्रत्येक पर्याय वस्तु के किसी विशिष्ट स्वरूप या लक्षण का ही प्रतिपादन करता है। अबला तथा नारी—समान अर्थ वाचक होने पर भी भिन्न हैं। धर्मकर्मों मे पति की सन्तत सहचारिणी होने से जो 'पत्नी' होती है, वही भरण के पात्र होने से भार्या कही जाती है। समानवाची होने पर भी पत्नी और भार्या अपनी विलक्षण अभिव्यङ्ग्य अर्थ के कारण नितान्त पृथक् हैं। उचित स्थान पर उचित पर्यायशब्द का प्रयोग पर्यायवक्रता कहलाता है। इसके अनेक प्रकार होते हैं—

(क) अभिधेयान्तरतमः—जो पर्याय शब्द अभिधेय वस्तु से नितान्त घनिष्ठ है अर्थात् जितनी घनिष्ठता के साथ वह शब्द वाच्य पदार्थ के सूक्ष्म रूप का उन्मीलन करता है, उतना और कोई भी पर्याय नही कर सकता।

(ख) अर्थातिशयपोषकः—अभिधेय अर्थ के अतिशय को पुष्ट करनेवाला पर्याय।

(ग) असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भित—किसी असम्भाव्य अर्थ की सूचना करने की योग्यता से जो गर्भित रहता है। आदि आदि। एक दो उदाहरण ही इस विषय मे पर्याप्त होंगे।

नभियोक्तुमनृत त्वमिष्यसे
कस्तपस्विविशिखेषु चादरः।
सन्ति भूभृति हि नः शराः परे
ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः॥

—किरात १३। ५८

[किरात तापसवेशधारी अर्जुन से कह रहा है कि अभियोग लगाने के लिए तुम्हें झूठा बोलना ठीक नही प्रतीत होता। तपस्वी के बाणों में हमारा

आदर ही क्या ? हमारे राजा के पास अन्य ऐसे बाण हैं जो वज्र धारण करनेवाले इन्द्र के पराक्रमधन है] इस पद्य में 'वज्रिणः' पद का सौन्दर्य समधिक है। इन्द्रबोधक अनेक नामों की सत्ता होने पर भी वज्री नाम के चुनाव में एक विशिष्ट तात्पर्य झलकता है। 'वज्री' का अर्थ है—वज्र धारण करनेवाला। जो बाण सन्तत वज्र से सम्पन्न रहनेवाले सुरपति के पराक्रमधन हैं उनकी लोकोत्तरता में क्या कोई सन्देह कर सकता है ? 'तपस्वी' शब्द भी अत्यन्त रमणीय है। क्योंकि सुभटों के बाणों मे कभी आदर रखना उचित माना भी जा सकता है, परन्तु सदा तपस्या में निरत रहनेवाले तापस के बाणो में बहु मान क्यों ? इस प्रकार इस पद्य मे 'वज्रिणः' पद में सुन्दर पर्याय-वक्रता विराजती है।

अलं महीपाल तव श्रमेण
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥

—रघु २। ३४

शंकर का अनुचर सिंह राजा दिलीप से कह रहा है—हे पृथ्वी के पालन करनेवाले राजा, इधर परिश्रम करना वृथा है। इधर बाण का फेंकना एकदम निष्फल है। वायु का वह वेग जो वृक्षों को जड़ से उखाड़ देने की शक्ति रखता है पर्वत पर कभी समर्थ नही होता। यहाँ 'महीपाल' शब्द की वक्रता पर ध्यान देना चाहिए। महीपाल समग्र पृथ्वी के पालन की क्षमता रखता है, परन्तु उससे गुरु वसिष्ठ की एक गाय की रक्षा सिद्ध न हो सकी। इसी असम्भाव्य अर्थ की सूचना यह आमंत्रणपद भली भाँति दे रहा है।

(३) उपचार वक्रता

उपचार शब्द का अर्थ विश्वनाथ कविराज के शब्दों मे इस प्रकार है: —अत्यन्तविशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थयगनम् उपचारः। अर्थात् अत्यन्त विभिन्न पदार्थों मे अत्यन्त सादृश्य के कारण उत्पन्न होनेवाली भेद-प्रतीति अथवा भेद-ज्ञान को ढक कर अभेद की प्रतीति उपचार कही जाती है जैसे मुख चन्द्रः। यहाँ मुख चन्द्रमा से नितान्त भिन्न है परन्तु आह्लादकत्व आदि गुण के कारण उसके ऊपर चन्द्रत्व का आरोप किया जाता है जिससे दोनो मे विद्यमान रहनेवाली भेदबुद्धि हट कर अभेद की प्रतीति होती है। कुन्तक[१] की दृष्टि मे भी उपचार यही है। अन्य वस्तु का साधारण धर्म जहाँ अधिक दूरवाले पदार्थ पर लेशमात्र सम्बन्ध से आरोपित किया जाता है वही उपचार होता है। दूसरी वस्तु को पहली वस्तु की अपेक्षा दूरान्तर होना चाहिए। दूरान्तर का तात्पर्य यह है कि दोनो मे देश की या काल की भिन्नता न होकर स्वभाव की भिन्नता होनी चाहिए जैसे अमूर्त पदार्थ मे मूर्त पदार्थ के धर्मों का आरोप। घन पदार्थ मे द्रव की कल्पना, अचेतन मे चेतन धर्म का अध्यारोप उपचार कहलाता है। उपचार की वक्रता होने से काव्य मे एक विचित्र सरसता आ जाती है। इसी वक्रता के ऊपर रूपक आदि अलकारों की सत्ता होती है। नाना प्रकार की वक्रताओं मे उपचारवक्रता की विशेष महत्ता है क्योकि रुय्यक के कथनानुसार इसी वक्रता के भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च अन्तर्भुक्त किया जाता है।:—

---

१ यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत्काञ्चित् वक्तुमुद्रक्त—वृत्तिताम्॥
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः।
उपचार—प्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते॥

व० जी० २।१३—१४

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां यत्र नक्तं,
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी,
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूः विक्लवास्ताः॥

मेघदूत पूर्वार्ध ३९

मीत के मन्दिर जात चलीं मिलिहें तहां केतिक राति मे नारी।
मारग सूझि जिन्हें न परे जब सूचिका—भेदि झुकै अँधियारी॥
कञ्चन रेख कसौटी सी दामिनि तू चमकाय दिखाइ अगारी।
कीजियो ना कहूँ मेघ की घोर मरें अबला अकुलाई विचारी॥

इस पद्य मे 'सूचिभेद्यैः' पद में उपचार वक्रता है। सूई के द्वारा मूर्त पदार्थ (ठोस वस्तु) मे ही छेद किया जा सकता है। परन्तु यहाँ महाकवि कालिदास अन्धकार को सूई के द्वारा भेद्य बतलाते हैं। अतः मूर्त पदार्थ के धर्म का अमूर्त पदार्थ के ऊपर यहाँ पर आरोप है। कवि का तात्पर्य यहा पर अन्धकार के अत्यन्त घने होने से है! अन्धकार घना होने से इतना ठोस है कि उसे कोई भी सूई से छेद कर सकता है।

स्निग्धश्यामलकान्तलिप्तवियतो, वेल्लद्बलाका घना,
वाता शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्द--केकाः कलाः।
कामं सन्तु, दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा! देवि धीरा भव।

[वर्षाकाल में सीता से वियुक्त राम की उक्ति—
चिकने और काले रंग के चमकवाले बादल, जिनमे बगुलों की पाँति खेल रही है आकाश मे भले छाये रहे। जलविन्दु से भरे पवन के ठण्ढे, ठण्ढे झोंके भी मनमाने बहते चले। आनन्दपूर्वक कूक मचाने-वाले मेघों के मित्र मयूरगण भी भले ही कूके। मैं तो कठोरहृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूँगा, परन्तु हाय! मेरी प्यारी सीता की क्या दशा होनी होगी। हे प्यारी! तुम ऐसी स्थिति में धैर्य धारण करो।]

यहाँ पर **'स्निग्ध-श्यामल-कान्तिलिप्त-वियत:'** पद मे उपचारवक्रता की कमनीयता आलोचकों के हृदय को अनुरंजित कर रही है। लेपन करने की शक्ति रखनेवाले नील आदिक मूर्त रंजक द्रव्य के द्वारा मूर्तिधारण करनेवाली वस्तु का ही लेपन किया जाता है। अतः लेपन स्पष्टतः मूर्त पदार्थ का धर्म है। लेपन द्रव्य तथा लेप्य वस्तु दोनों का मूर्त होना आवश्यक होता है; परन्तु यहाँ लेपन करनेवाली श्यामल कान्ति अमूर्त है तथा लेप्य पदार्थ आकाश भी अमूर्त ही है। इस प्रकार मूर्त धर्म का अमूर्त पदार्थ में आरोप काव्य-सौन्दर्य का नितान्त प्रतिपादक है। स्निग्ध शब्द भी उपचार-वक्र है। स्नेहन अर्थात् तैलयुक्त मूर्त पदार्थ ही स्निग्ध कहलाता है परन्तु यहाँ अमूर्त भी कान्ति स्निग्ध बतलाई गई है और यह उपचार से ही सम्भव है। 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इस पद्यांश में वक्ता स्वयं रामचन्द्र हैं। वे अपने लिए 'राम' शब्द का प्रयोग क्यों कर रहे हैं? कुन्तक का कहना है कि यह शब्द असाधारण क्रूरता का प्रतीक है। जो व्यक्ति अपनी प्रियतमा से वियुक्त होने पर भी, विविध उद्दीपनविभाव की स्थिति होने पर भी निर्लज्ज होकर अपनी प्राणरक्षा करता है उसकी क्रूरहृदयता की कहानी क्या कही जाय? 'वैदेही' शब्द का चुनाव भी बड़ा ही मार्मिक है। देह की सुध-बुध भुला देनेवाले राजर्षि विदेह की कन्या स्वभाव से ही सुकुमार तथा कातर हैं। तिसपर जलधर समय की उद्दीपक स्थिति मे उसकी कातरता की अधिकता स्वभावसिद्ध है। पूर्व पद से इस पद की विशेषता दिखलाने के लिये ही 'तु' शब्द का चमत्कारी प्रयोग कवि ने किया है। इस प्रकार राम और वैदेही शब्द मे कुन्तक के अनुसार रूढिवैचित्र्य-वक्रता पायी जाती है। आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने इस पद्य को ध्वनि के उदाहरण मे दिया है।

रूपकालङ्कार मे भी उपचारवक्रता विराजती है। इस प्रकार कुन्तक ने दो प्रकार की उपचारवक्रता की चर्चा की है। दोनो मे थोडा अन्तर भी है। प्रथम प्रकार में यत्किञ्चित् सादृश्य का आश्रय लेकर एक वस्तु के धर्मों का अध्यारोप दूसरी वस्तु में किया जाता है। द्वितीय प्रकार रूपकालंकार का मूल है। अतः वह अभेदकल्पना का सरस आधार है।

(४) विशेषणवक्रता

विशेषण की महिमा वाक्यविन्यास में अतुलनीय होती है। वाक्य के सौन्दर्य की स्फूर्ति कभी कभी एक नन्हे से विशेषण से इस ढग से हो जाती है कि उसके लिए अनेक लम्बे वाक्यों का विन्यास भी समर्थ नहीं होता। कुन्तक इस सौन्दर्य को **'विशेषणवक्रता'** के नाम से पुकारते हैं। उनका कहना है[१] कि कहीं विशेषण की, कहीं क्रिया की और कहीं कारक की महिमा से वाक्य में लावण्य का जो उन्मेष होता है, वह 'विशेषणवक्रता के नाम से अभिहित होता है। विशेषणवक्रता को वे काव्य में नितान्त उपादेय तथा रोचक मानते हैं। यह सचमुच प्रस्तुत औचित्य से समन्वित होने पर समग्र सत्काव्य का जीवित होता है क्योंकि इसके कारण रस अत्यन्त प्रकर्ष को प्राप्त कर लेता है[२]। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

> दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः,
> श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपकलिका. पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।
> किञ्चान्यत् कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने,
> हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते॥

राजशेखर—विद्धशालभञ्जिका २। २१

विरहविधुरा नायिका की दयनीय दशा की सरस सूचना है। उसके शरीर की गर्मी हाथ पर रखे हुए जल को गर्म कर रही है। अधिक आँसू पनाले से बहाने लायक हैं। साँसे झूलनेवाली चमकीली दीपकलिका की तरह हैं। उसका शरीर पाण्डुता में डूबा हुआ है और मैं क्या कहूँ? तुम्हारी राह देखते देखते वह पूरी रात जग

---

१ विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्य सा विशेषणवक्रता॥

व० जी० २। १५

२ एतदेव विशेषणवक्रत्व नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते, यस्मादनेनैव रसः परा परिपोषपदवीमवतार्यते।

वहीं पृ० १०५

बिता देती है, तब अपने-ऊपर गिरनेवाली चन्द्रकिरणों को वह अपने हाथों से छाते के समान रोके रहती है। ऐसी उसकी स्थिति है। इस कमनीय पद्य के पूर्वार्ध में दाह, बाष्प, श्वास तथा वपु का वर्णन है। इन वस्तुओं में स्वतः कोई कमनीयता नहीं है; जो कुछ कमनीयता उन्मीलित हो रही है वह इनके विशेषणों के ही द्वारा। दाह की विषमता का अनुमान हम इसी घटना से कर सकते हैं कि हाथों की पसरी पर रखा हुआ पानी चुरने लगता है। आँसुओं की अधिकता इतनी है कि वे पनालो से बहने की योग्यता रखते हैं। साँसे इतनी धधकती हैं जितनी झूलती हुई धधकती दीपशिखायें। शरीर की दशा क्या कही जाय? नायिका का पूरा शरीर पाण्डुता मे डूब गया है। डूब जाने पर आधेय वस्तु का पता नही चलता, केवल आधार वस्तु ही बच रहती है। ठीक इसी प्रकार उसके शरीर का पता नहीं चलता। केवल पीलेपन की ही छटा चारों ओर छाई रहती है। सचमुच इस श्लोक में विशेषण ने जो शोभा उत्पन्न कर दी है, वह बड़े बड़े लम्बे वाक्यों से भी नहीं हो सकता था। विप्रलम्भ का अतिशय परिपोष सुतरां अभिव्यक्त है। उचित विशेषण का प्रयोग लेखक की सहृदयता की सच्ची कसौटी है। कुन्तक का यह उक्ति बिल्कुल सच्ची है—

> स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः।
> रसस्वभावालङ्कारास्तद्विधेयं विशेषणम् ॥
>
> —व० जी० पृ० १०५

(५) संवृतिवक्रता

छिपाना भी एक विशिष्ट कला है। भावो की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उनका स्पष्ट अक्षरों मे प्रतिपादन उतना चमत्कारी नही हुआ करता जितना उनका संवरण—छिपा देना। अंग्रेजी की एक कहावत है Art lies in concealing art कला के संवरण करने मे कला का महत्त्व है। ऐसी ही विचित्रता काव्य मे भी प्रस्तुत की जा सकती है। जहाँ कही विचित्रता की विवक्षा के लिए कोई वस्तु सर्वनाम आदि शब्दों के द्वारा छिपा दी जाती है वहाँ होती है—संवृति वक्रता। 'संवृति' का अर्थ है—संवरण, छिपाना। संवृति के द्वारा उत्पन्न वक्रभाव को इस नाम से पुकारते हैं—

यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया ।
सर्वनामादिभिः कैश्चित् सोक्ता संवृतिवक्रता ॥

—व० जी० २ । १६

मवरण के अनेक प्रकार होते हैं। कहीं सातिशय वस्तु की अभिव्यक्ति के अवसर पर साक्षात् शब्दो के द्वारा अभिधान होने पर उसकी इयत्ता परिमित सी हो जाती है, उसका लौकिकपन ही फूट निकलता है। ऐसे स्थलों पर सवरण सर्वनाम के द्वारा सदा किया जाता है। कभी स्वानुभूत वस्तु की अभिव्यक्ति संवरण के द्वारा की जाती है।

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थरायाः
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥

—चौरपञ्चाशिका

नायक नायिका के किन्हीं अस्फुट शब्दो की मार्मिकता सूचित कर रहा है। वह कहता है कि उसकी आँखे नींद से बिल्कुल बन्द थीं। वह मद मे शिथिल थी। ऐसी दशा में उसने मुझसे कुछ अक्षर कहे जो न तो अर्थ-युक्त ही थे और न निरर्थक ही। उस कोमलाङ्गी के वे अक्षर मेरे हृदय मे आज भी— इतने दिनों के बीत जाने पर भी—कुछ ध्वनित कर रहे हैं। इस पद्य में 'किमपि' शब्द संवृतिवक्रता का परिचायक है। सुन्दरी के शब्दो को सुनकर वक्ता के चित्त में जो चमत्कार उत्पन्न हुआ वह अनुभव के द्वारा ही गम्य है। इसी अव्यपदेश्य चमत्कृति की सूचना 'किमपि' शब्द से हो रही है।

संवृतिवक्रता का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः
पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥

—कुमारसम्भव ५।८३

पार्वती कठिन तपश्चर्या मे संलग्न हैं। उनकी परीक्षा लेने के लिए उनके उपास्यदेव भगवान् शङ्कर ही ब्रह्मचारी के वेष में उपस्थित होकर शिव की निन्दा में प्रवृत्त होते हैं। पार्वती की सखी ने उनकी खूब भर्त्सना की। तिसपर भी वे बोलने के लिए फिर उद्यत हुए। इस पर पार्वती जी कह रही हैं— हे सखी, इसे रोके, इसे रोके। इस वटु के ओंठ हिल रहे हैं। जान पड़ता है कि यह कुछ फिर कहना चाहता है। वही पापी नहीं होता जो बड़ों की निन्दा करता है, बल्कि वह भी होता है जो उसकी निन्दामयी वाणी सुनता है। इस पद्य मे 'किमपि' शब्दों पर ध्यान दीजिए। यह किसी अश्रवणीय तथा अकल्पनीय वस्तु की द्योतना कर रहा है। इस वस्तु की व्यञ्जना अन्य-प्रकार से सुखरूपेण गम्य नहीं है।

(६) प्रत्ययवक्रता

प्रत्ययों मे कभी कभी औचित्य की पुष्टि करने मे इतनी अधिक क्षमता होती है कि उनके कारण पूरा पद्य रसस्निग्ध तथा भावपूर्ण बन जाता है। ऐसे स्थलों पर प्रत्ययवक्रता विराजती है।

प्रस्तुतौचित्य-विच्छित्तिं स्वमहिम्ना विकाशयन्।
प्रत्ययः पदमध्येऽन्यामुल्लासयति वक्रताम्॥

—व० जी० २।१७

'स्निग्धश्यामल' पद्य (पृ० ३८६) में मेघों के वर्णन के अवसर पर कवि कहता है—वेल्लद् बलाका घनाः अर्थात् मेघो मे बगुलों की पाँत खेल रही है। यहाँ 'वेल्लद्' शब्द मे शतृप्रत्यय है जो कार्य की वर्तमानता का सूचक है। बगुलों की पाँत अभीतक मेघों में खेल रही है जिससे उनमें शृङ्गाररस के उद्दीपन होने की सबसे अधिक योग्यता विद्यमान है।

मेघदूत का यक्ष अपनी प्रेयसी की भूयसी प्रशंसा कर मेघ से कह रहा है—

जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मात्
इत्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।

वाचालं मा न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति ।
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥

—मेघदूत ६३

[जानत हूँ मोमें लगी वाके मन की प्रीति ।
यातें प्रथम वियोग में ऐसी करतु प्रतीति ॥
अपन बड़ाई करि कछू मैं न बजावतु गाल ।
वेगि तुहू लखि लेहिगो मेरे कह्यौ हवाल ॥]

इस पद्य के **'सुभगंमन्यभावः'** पद मे प्रत्यय का विशिष्ट चमत्कार है। इस शब्द का अर्थ है—अपने आपको सुभग मानने का भाव। **सुभगंमन्यः** (**'आत्मानं सुभगं मन्यते' इति सुभगम्मन्यः सुभगमानी वा 'आत्ममाने खश्च' इति खश् मुमागमश्च।**) पद मे खश् प्रत्यय है और मुम् का आगम होता है। इसका अर्थ है अपने को सुभग (सुन्दर) माननेवाला व्यक्ति अर्थात् कुरूप होने पर भी अपने सौन्दर्य का झूठा अभिमानी पुरुष। यक्ष का अभिप्राय है कि मुझे अपने सौन्दर्य का झूठा अभिमानी मत समझो। मेरी प्रियतमा इस सौन्दर्य पर झूठें ही फूली नहीं रहती, प्रत्युत मैं स्वभाव से ही सुन्दर हूँ—मुझमे स्वाभाविक सुन्दरता का विलास है—इन भावों की सूचना इस पद्य का प्रत्यय ही दे रहा है। इसलिए यह प्रत्ययवक्रता का दृष्टान्त है।

(७) वृत्तिवक्रता

यहाँ 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग समास, तद्धित तथा सुब्धातु आदि व्याकरणशास्त्र मे प्रसिद्ध वृत्तियों के लिए किया गया है। जहाँ अव्ययीभाव आदि मुख्य वृत्तियों की रमणीयता विकसित होती है वहाँ यह वक्रता होती है—

अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता ।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ॥

—व० जी० २।१६

इस पद्य की वृत्तियों पर ध्यान दीजिए—

> तरुणिमनि कलयति कलाम्
> अनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे।
> अधिवसति सकल-ललना—
> मौलिमियं चकितहरिणी-चलनयना॥

[अर्थ—भयभीत मृग के समान चञ्चल नेत्रवाली वह नायिका सब सुन्दरी स्त्रियों की शिरोभूषण हो रही है, जब तरुणावस्था वृद्धि प्राप्त कर रही है, और भौहों का अग्रभाग कामदेव के धनुष के समीप रहकर उसके व्यापारो की शिक्षा प्राप्त कर रहा है। किसी युवति की युवावस्था में उदीयमान सौन्दर्य की अभिव्यक्ति यह कमनीय पद्य कर रहा है। कामदेव का धनुष गुरु है जिसके पास रहकर भौहों का अग्रभागरूपी शिष्य चञ्चलता की शिक्षा प्राप्त कर रहा है। गुरुशिष्य की यह कल्पना नितान्त कमनीय है। माणिक्यचन्द्र की यह समीक्षा नितान्त मार्मिक है कि गुरुरूप धनुष् इतना वक्र है, तब शिष्य की वक्रता का अनुमान किया जा सकता है—**एतेन उपाध्यायवक्रत्वे शिष्यस्यातीव वक्रत्वं ध्वन्यते—माणिक्यचन्द्र**]

इस पद्य मे 'तरुणिमनि' पद में 'त्व' प्रत्यय के स्थान पर 'इमनिच्' प्रत्यय किया गया है। 'तरुणत्व' और 'तरुणिमा'—दोनों का एक ही अर्थ है—जवानी, परन्तु 'तरुणत्व' में प्रौढता अभिव्यक्त होती है और 'तरुणिमा' मे कोमलता। सुन्दरी की कमनीयता के प्रसङ्ग पर मृदुलता के सूचक होने से 'तरुणिमा' पद दूसरे पद से नितान्त औचित्यपूर्ण है। 'अनुमदनधनुः' में अव्ययीभाव समास है। 'धनुःसमीपे' (धनुष् के पास) शब्द के द्वारा भी यही अर्थ वाच्य होता है, परन्तु तत्पुरुष समास में धनुष् शब्द हो जाता है गौण परन्तु अव्ययीभाव में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होने पर भी उत्तरपद का अर्थ थोडा ही अप्रधान रहता है। अतः उसकी मुख्यता सिद्ध करने के लिए अव्ययीभाव का प्रयोग ही नितान्त समीचीन है। 'ललना-मौलिम्' में कर्मभूत आधार है। यद्यपि यहाँ सप्तमी का प्रयोग होता (ललना मौलौ वसति), तो इससे अर्थ मे सौन्दर्य नहीं उत्पन्न होता। 'मस्तक पर रहता है' का अर्थ है मस्तक के एकदेश, एक भाग में वस्तु की स्थिति है, पूरे मस्तक

पर नहीं। परन्तु द्वितीया होने से तात्पर्य है कि जितना मस्तक है उतने स्थानों पर पूर्णरूप से उसका निवास है। द्वितीया में 'व्याप्ति' का भाव है जो नायिका के अलौकिकत्व का मुख्यरूपेण अभिव्यञ्जक है। अतः इस पद्य में अनेक वृत्तियों की वक्रता विराजमान है।

(८) भाववैचित्र्यवक्रता

'भाव' का अर्थ है क्रिया। क्रिया साध्यरूपा होती है अर्थात् किसी व्यापार का निष्पादन ही उसका ध्येय होता है। परन्तु कभी कभी चमत्कार उत्पन्न करने के अभिप्राय से भाव के साध्यरूप का तिरस्कार कर उसे सिद्धरूप में प्रदर्शित किया जाता है। वहीं यह वक्रता उत्पन्न होती है—

साध्यतामनादृत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते।
यत्र भावो भवत्येपा भाववैचित्र्यवक्रता॥

—व० जी० २। २०

उदाहरण के लिए यह पद्य प्रस्तुत किया जा रहा है —

पथि पथि शुकचञ्चूचारुरामाङ्कुराणा
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा॥

[अर्थ—मार्ग के प्रत्येक भाग में नये उगे हुए अंकुर सुग्गों की चोंच के समान मनोहर दिखलाई पड़ते हैं और प्रत्येक दिशा में लताओं को नचानेवाली वायु चल रही है। पुष्पों का बाण रखनेवाला कामदेव प्रत्येक मनुष्य पर बाणों को फेंक रहा है। प्रत्येक नगर में मानिनी स्त्रियों के मान धारण करने की चर्चा समाप्त हो गई।] इस पद्य के चतुर्थ चरण की क्रिया है विनिवर्तन, परन्तु उसे 'क्त' प्रत्यय के द्वारा व्यक्त किया गया है। 'क्त' प्रत्यय के जोड़ने से कोई भी क्रिया साध्य न होकर सिद्धरूप बन जाती है। सुबन्त पद 'सिद्ध' माने जाते हैं और तिङन्त पद 'साध्य'। परन्तु यहाँ कृत् प्रत्यय के जोड़ने से वह तिङन्त न होकर सुबन्त बन गया है। इसका अर्थ हुआ कि मानिनियों के मान की चर्चा बिल्कुल समाप्त

हो गई है। कार्य-कारण के सम्बन्ध का सहारा लेकर हम कह सकते हैं कि कामदेव के बाण छोड़ने पर मानिनियों की मान—चर्चा को समाप्त होना चाहिए था, परन्तु यहाँ तो बात उलटी ही दीख पड़ती है। बाण छोड़ने का काम अभी चल रहा है वर्तमानकाल मे, परन्तु इसका फल न मालूम कब से पहले ही सिद्ध हो चुका है। इसका तात्पर्य यह है कि कामदेव के बाण इतने सबल तथा पैने हैं कि उनके छोड़े जाने के पहिले ही मानिनियो के गुमान करने की बात एकदम समाप्त हो गई है !!! इतने सुन्दर अर्थ की अभिव्यञ्जना कर रहा है केवल 'विनिवृत्त' पद। यही है भाववैचित्र्यवक्रता का चमत्कार।

(६) लिङ्गवैचित्र्यवक्रता

(क) भिन्न लिङ्गवाले शब्दो का एक ही अधिष्ठान मे जहाँ सामानाधिकरण्य होता है वहाँ यह वक्रता विराजती है।

स्त्रीरत्नं तदगर्भसम्भवमितो लभ्यं च लीलायिता
तेनैषा मम फुल्लपंकजवनं जाता दृशा विंशातः।

रावण सीता के सौन्दर्य के कारण अपने आह्लाद का वर्णन कर रहा है कि यह मेरे बीसो नेत्र खिले हुए कमल के वन बन गये हैं। यहाँ 'विंशतिः फुल्लपङ्कजवनं जाता' इस वाक्य मे उद्देश्य स्त्रीलिङ्ग (विंशति) मे प्रयुक्त है और विधेय नपुंसक (वन) है। एक ही वाक्य मे सामानाधिकरण्य होने से यह लिग को विचित्रता है।

(ख) सस्कृत मे अनेक शब्द उभयलिगात्मक होते हैं—वे पुल्लिग या नपुंसक होने के अतिरिक्त स्त्रीलिंग मे भी प्रयुक्त होते हैं। अतः कोमलता या सुन्दरता की निष्पत्ति के लिए अन्य लिंगो का तिरस्कार कर जहाँ स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग किया जाता है वह भी काव्य इस वक्रता के अन्तर्गत आता है[1]। नाम्नैव स्त्रीति पेशलम्'—कुन्तक की यह उक्ति

---

१ सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गं च प्रयुज्यते।
शोभानिष्पत्तये यस्मान् नाम्नैव स्त्रीति पेशलम्॥

—व० जी० २। २२

बड़ी मार्मिक है। नाम से ही स्त्री पेशल होती है अर्थात् स्त्रीलिंगवाची पद स्वभाव से ही सुन्दर तथा रुचिर होते हैं। अतः उनका ऐसा प्रयोग काव्य की शोभा निष्पत्ति करता ही है—जैसे तटी शब्द का प्रयोग। संस्कृत में तट का प्रयोग तीनों लिङ्गों में किया जाता है। अतः सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के निमित्त 'तटः' या 'तटं' के स्थान पर 'तटी' का प्रयोग नितान्त सुन्दर है।

(ग) अर्थ के औचित्य का विचार कर जहाँ अन्य लिंग की अवहेलना करके किसी शब्द को विशिष्ट लिंग में प्रयोग करते हैं वहाँ भी लिङ्ग की वक्रता मान्य होती है[1]।

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता
तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः
शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥

—रघुवंश १३। २४

रामचन्द्र सीता से कह रहे हैं कि हे भीरु! तुम राक्षस के द्वारा जिधर हरण की गई थी, उसी मार्ग को लताओं ने बोलने में असमर्थ होने के कारण झुक जानेवाले पल्लवों से सम्पन्न अपनी शाखाओं से मुझे दया करके दिखलाया। यह कालिदासीय पद्य सौन्दर्य का निधान है। लताओं का आवर्जित पल्लववाली शाखाओं के द्वारा मार्ग का प्रदर्शन कितना उचित तथा स्वाभाविक है। लोक में भी जो पुरुष बिना बोले ही किसी को राह बतलाते हैं वे अपने हाथ को झुकाकर ही करते हैं। कुन्तक का कहना है कि वृक्ष के स्थान पर 'लता' का उल्लेख नितान्त रोचक तथा कवित्वमय है। स्त्री होने से लताओं में दया तथा कारुण्य के भाव की अधिकता है। पुरुषों में तो क्रूरता देखी जाती है—परन्तु स्त्रियों का क्या कहा जाय? वे तो कृपा की कमनीय मूर्ति होती हैं। इसीका निर्देशन 'लता' के प्रयोग से कवि कर रहा है।

---

१ विशिष्टं योज्यते लिङ्गम् अन्यस्मिन् संभवत्यपि।
यत्र विच्छित्तये साऽन्या वाच्यौचित्यानुसारतः॥

—वहीं २। २३

(१०) क्रियावक्रता

किसी वाक्य का चमत्कार जिस प्रकार सुभग विशेषण या सुन्दर पर्याय से झलक उठता है उसी प्रकार क्रिया की विचित्रता से भी खिल उठता है। क्रिया के सौन्दर्य की बड़ी महिमा है। वाक्य के अनेक दोषो को क्रिया की रमणीयता ढक लेती है। यह **क्रियावक्रता** कहलाती है। इसके अनेक प्रकार हो सकते हैं—

कर्तुरत्यन्तरंगत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता।
स्वविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता ॥
कर्मादिसंवृतिः पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारवः।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः ॥

—व० जी० २। २४-२५

(१) कर्तुरन्तरङ्गत्वम्—क्रिया जहाँ कर्ता के नितान्त अन्तरङ्ग होती है अर्थात् कर्ता के साथ क्रिया की अपूर्व मैत्री होती है—

क्रीडारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो—
लेखां विकृष्य विनिबध्य च मूर्ध्नि गौर्या।
किं शोभिताऽहमनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ॥

हरगौरी को क्रीडा-छटा का यह एक निदर्शन है। पार्वती ने एकान्त में हँसकर शशाङ्कमौलि शङ्कर के मस्तक से चन्द्रलेखा को खींचकर अपने सिर पर बाँध लिया और शिवजी से पूछने लगी कि कहिए, इस चन्द्रलेखा से मेरी शोभा बढ रही है या नहीं? कवि कहता है कि इस प्रश्न का उत्तररूप शिव जी का चुम्बन आपकी रक्षा करे। इस पद्य मे क्रिया का विशिष्ट चमत्कार है। उत्तर तो दिया जाता है शब्दो के ही द्वारा, परन्तु यहाँ पार्वतीजी के प्रश्न का उत्तर शिवजी ने चुम्बन के द्वारा दिया। कुन्तक का कहना है कि पार्वती की अलौकिक शोभा की अभिव्यक्ति चुम्बनव्यापार के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यापार से हो नही सकती थी। अतः यहाँ क्रिया कर्ता के नितान्त अन्तरङ्ग है।

(२) कर्त्रन्तरविचित्रता—जहाँ कर्ता अन्य कर्ता की अपेक्षा विचित्र हो। उस क्रिया के अन्य कर्ता जो कार्य साधन न कर सकते हों वही कार्य जहाँ सिद्ध किया जाय, वह यह दूसरे प्रकार के अन्तर्गत आता है। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के मंगलश्लोक को इस प्रसङ्ग में दृष्टान्त रूप से उपन्यस्त किया है—

स्वेच्छा-केसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः॥

[अपनी इच्छा से नरसिंह का रूप धारण करनेवाले मधुरिपु नारायण के, अपनी स्वच्छ शोभा के द्वारा चन्द्रमा को भी क्लिष्ट बनानेवाले तथा पीड़ितजनों के क्लेश को दूर करनेवाले, नख आप लोगों की रक्षा करें] इस पद्य का समग्र सौन्दर्य 'प्रपन्नार्तिच्छिदः' पद में सम्पुटित हो रहा है। लोक में नख छेदन क्रिया का सम्पादन अवश्य करता है, परन्तु यहाँ नख अन्य नखों से विचित्र कार्य का सम्पादन कर रहा है और वह कार्य है— पीडित जनों के क्लेश का छेदन। यही क्रिया की यहाँ वक्रता है।

(३) उपचारमनोज्ञता—'उपचार' होता है सादृश्य सम्बन्ध के द्वारा एक धर्म का दूसरी क्रिया में आरोप। इसके कारण क्रिया में नितान्त रमणीयता का संचार हो जाता है।

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ
प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च।
दृशोर्लीलारम्भाः स्फुटमपवदन्ते सरलताम्
अहो सारङ्गाक्ष्यास्तरुणिमनि गाढः परिचयः॥

जवानी से गाढ परिचय रखनेवाली किसी युवती की शरीरयष्टि का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन है। कवि कह रहा है कि उस मृगनयनी के अङ्ग छलकते हुए विमल सौन्दर्य के समुद्र में मानो तैर रहे हैं। तैरने की क्रिया चेतन पदार्थ ही करता है। चेतन व्यक्ति नदी के उस पार जाने के लिए उसे पार करता है। नायिका के अङ्गों के ऊपर भी यह चेतन व्यापार

आरोपित किया गया है। स्तन और जघन स्थूलता के अतिशय को प्रकट कर रहे हैं—'उन्मुद्रण' व्यापार की वक्रता विचार करने योग्य है। कोई भी व्यक्ति अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु को रक्षा के निमित्त किसी स्थान पर मुद्रित कर रखता है और उचित अवसर आने पर उसे खोलता है। ठीक यही दशा है स्तन तथा जघन की। इन्होंने नायिका की बाल्यावस्था मे स्थूलता को अवतक मुद्रित कर रखा था, परन्तु अब अवसर आने पर सचित निधि की तरह इसे खोलकर प्रकट कर रहे हैं। नेत्रों के लीलामय आरम्भ सरला को दूर कर रहे हैं अर्थात् बाल्यकाल की सरलता को हटाकर यौवनोचित विलास का विस्तार कर रहे हैं। यह कार्य उस चेतन व्यक्ति के कार्य की समता रखता है जो किसी स्थल पर प्रसार रखनेवाले भी व्यापार को हटाकर अपने मनोनुकूल व्यवहार की प्रतिष्ठा करता है। अतः इस पद्य के तीनों व्यापारों मे रुचिरता 'उपचार' के कारण आ गई है। यही इसकी विशिष्टता है।

(४) कर्मादिगुप्तिः—कर्मप्रभृति कारकों का जहाँ सवरण शोभा के अतिशय का कारण बनता है। अर्थात् कर्म आदि कारको का रूप स्पष्टतः प्रतिपादित न करके जहाँ 'किमपि' आदि पदों के द्वारा सवरण किया जाता है वहाँ काव्य मे विलक्षण चमत्कार उत्पन्न होता है—

नेत्रान्तरे मधुरमर्पयतीव किञ्चित्
कर्णान्तिके कथयतीव किमप्यपूर्वम्।
अन्तः समुल्लिखति किञ्चिदिवायताक्ष्या
रागालसे मनसि रम्यपदार्थलक्ष्मीः ॥

राग से आलसी मन मे दीर्घनयनी सुन्दरी की रमणीय पदार्थ की लक्ष्मी नेत्रों के भीतर मानो कुछ मधुरता अर्पित कर रही है। कानो के पास कोई अपूर्व वस्तु मानों कह रही है। हृदय के भीतर कुछ मानों लिख रही है। यहाँ 'किमपि' शब्द की द्योतना है—अनुभवगोचर पदार्थ, जो शब्दों के द्वारा यथार्थतः कहा नही जा सकता। अतः कर्मगुप्ति होने से क्रिया में स्वतः कमनीय वक्रभाव का उदय हो रहा है। इन क्रियाओं मे 'उपचारमनोहरता' भी विद्यमान ही है।

ग—पदपरार्धवक्रता

पद के पूर्वार्ध में निवास करनेवाली कतिपय वक्रताओं का उल्लेख किया गया है। अब पद के उत्तरार्ध मे विराजनेवाली वक्रताओं का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) कालवैचित्र्यवक्रता

फल की विचित्रता कभी कभी काव्य मे समधिक चमत्कार उत्पन्न करती है—

औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता॥

—व० जी० २।२६

उदाहरण के लिए गाथासप्तशती की यह प्रसिद्ध गाथा देखिए।

समविसमनिव्विसेसा समंतदो मंदमंदसंचारा।
अइरो होहिन्ति पहा मनोरहाण पि दुल्लघा॥

—गाथासप्तशती ६७५

[समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसंचाराः।
अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः॥]

वल्लभा के विरह से कातर,पथिक आगेवाले वर्षाकाल के समय का एक चित्र खींच रहा है—ऊँचे नीचे स्थानो का भेद जहाँ बिल्कुल मिट गया है, चारों ओर जहाँ मन्द मन्द सचार हो रहा है ऐसे मार्ग शीघ्र ही मनोरथों के लिए भी दुर्लङ्घ्य हो जावेगे। अर्थात् भविष्यकाल की चिन्ता से ही वह विरही इतना भयविह्वल हो रहा है कि कहा नहीं जा सकता। यहाँ 'भविष्यति' का कालवाचक प्रत्यय बड़ा ही चमत्कारी है। आनन्दवर्धन ने कालव्यंजकता के उदाहरण में इसे उद्धृत किया है (पृ० १५८) अभिनवगुप्त की यह टिप्पणी सचमुच बड़ी मार्मिक है—उत्प्रेक्ष्यमाणो वर्षासमयः कम्पकारी किमुत वर्तमान इति ध्वन्यते—अर्थात् वर्षाकाल की उत्प्रेक्षा से ही कम्प उत्पन्न हो जाता है, उसे वर्तमान होने पर कहना ही क्या? इसी अर्थ की व्यञ्जना इस काल से हो रही है। कुन्तक की भी यही मीमांसा है (पृ० १२२)

(२) कारकवक्रता

जहाँ किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कारकों में विपर्यय कर दिया जाता है वहाँ यह वक्रता समधिक रुचिर होती है—जहाँ अचेतन पदार्थ में चेतनत्व का अध्यारोप करने से चेतन की ही क्रिया का निवेश किया जाता है वहाँ रस के परिपोष होने पर कारकवक्रता होती है—

यत्र कारक सामान्यं प्राधान्येन निबध्यते।
तत्त्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः॥
परिपोषयितु काञ्चिद् भङ्गीभणितिरम्यताम्।
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता॥

—व० जी० २।२७, २८

उदाहरण—

स्तनद्वन्द्व मन्दं स्नपयति बलाद् वाष्पनिवहो
हठादन्तः कण्ठं लुठति सरसः पञ्चमरवः
शरज्ज्योत्स्नापाण्डुः पतति च कपोलः करतले
न जानीमस्तस्याः क इव हि विकारव्यतिकरः॥

प्रियतम के विरह मे किसी तन्वङ्गी की देहलता की कमनीय मुद्रा यहाँ उन्मीलत हो रही है। आँखों से आँसुओं की झड़ी दोनों स्तनो को धीरे धीरे नहला रही है। सरस पञ्चम रव कण्ठ के भीतर ही हठ से लोट रहा है। शरदजुन्हाई के समान पीला कपोल हथेली पर गिर रहा है। उस नायिका के हृदय में कितने विकारों का जमघट लगा हुआ है, यह हम नही जानते हैं। इस पद्य के प्रथम तीन चरणों में विभिन्न तीन व्यापारों का वर्णन है—नहलाना, लोटना तथा गिरना। ये तीनों व्यापार चेतन व्यक्ति के हैं, परन्तु कविप्रतिभावशात् अचेतन पदार्थों पर अध्यारोपित किये गये हैं। लोक की रीति यह है कि हम आँसुओ से नहलाते हैं, परन्तु यहाँ आँसुओं की धारा स्वय नहलाने का काम कर रही है स्पष्टतः ही करण के स्थान पर कर्ता का प्रयोग है। कपोल हथेली पर रखा जाता है—यहाँ वह स्वयं हथेली पर गिर रहा है। यह हुआ कर्म के स्थान पर कर्ता का प्रयोग। कारक-वक्रता का मनोज्ञ यह दृष्टान्त है। वह सुन्दरी विरह की वेदना से इतनी विवश

है, वेसुध है कि उसके वे अंग स्वयं अपने कार्या का निर्वाह कर रहे हैं, ऐसी दशा मे भला वह कुछ भी करने में समर्थ हो सकती है? नही, बिल्कुल नही। एक और भी बात है। उसके प्रत्यक्ष दिखलाई पड़नेवाले अंगों की यह विचित्र दशा है, तो उसके हृदय मे कितने विचित्र भाव उठते होंगे, यह तो कोई अनुभवी ही जान सकता है। विप्रलम्भशृङ्गार की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति इस कमनीय पद्य में की गई है। इस अभिव्यक्ति का मुख्य साधन है—कारकविपर्यय से उत्पन्न कारकवक्रता।

(३) सख्यावक्रता

कभी कभी एकवचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग करने से या इसकी उलटी दशा में बहुवचन के स्थान पर एकवचन या द्विवचन के प्रयोग करने से काव्य मे विवक्षित अर्थ की प्रतीति सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाती है—ऐसे स्थलो मे संख्यावक्रता होती है।

> कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्य विवक्षा परतन्त्रिताः।
> यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः॥
>
> —व० जी० २।२६

कालिदास का यह पद्य संख्यावक्रता का सुन्दर निदर्शन है—

> चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपुथमती,
> रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
> करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
> वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।
>
> —शाकुन्तल १।२४

राजा दुष्यन्त भ्रमर से उलाहना दे रहा है कि तुम शकुन्तला के पास जाकर उनके कानों में न जाने कौन सी प्रेमभरी बाते कह आते हो, काँपते हुए नेत्रों के कोनों को तथा कमनीय अधरों को छूते हो। अतः तुम तो धन्य हो, परन्तु हम लोग तत्त्व की खोज में लगे रहने से बे मौत मारे गये। यहाँ राजा वक्ता अकेले ही खड़ा है। अतः एकवचन 'अह' का प्रयोग साधारण-तया उचित प्रतीत होता है, परन्तु वैसा न कर बहुवचन का प्रयोग किया गया

है—आशय है तटस्थता की प्रतीति। 'अहं' कहने से अन्तरगता का द्योतन होता, परन्तु राजा अपनी उदासीनता प्रकट करना चाहता है। और इस निमित्त ही उसने 'वयं'—बहुवचन का प्रयोग किया है। इसी प्रकार शास्त्राणि चक्षुर्नवम् (बालरामायण १।३६) मे शास्त्रों को नवीन नेत्र कहा गया है। एक स्थल पर बहुवचन तथा एकवचन के सामानाधिकरण्य से नितान्त रुचिरता की उत्पत्ति हो रही है।

(४) पुरुषवक्रता

जहाँ विचित्रता के सम्पादन के लिए पुरुषों मे विपर्यय किया जाता है वहाँ यह वक्रता होती है अर्थात् उत्तम पुरुष या मध्यम पुरुष के स्थान पर सुन्दरता के लिए जहाँ प्रथम पुरुष का प्रयोग किया जाता है, वहाँ पुरुषवक्रता की स्थिति होती है—

> प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते।
> यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता॥
>
> —व० जी० २।३०

ब्रह्मचारी के रूप मे भगवान् शकर पार्वती से पूछ रहे हैं—

> अतोऽत्र किञ्चित् भवतीं बहुक्षमां
> द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
> अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने
> न चेद् रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि॥
>
> —कुमार ५।४०

हे तपस्विनी, यदि उसी अपनेपन के नाते मे ब्राह्मण होने की ढिठाई करके आपसे कुछ ऐसी-वैसी बाते यह जन पूछ बैठे, तो आप बुरा न मानियेगा और यदि कोई छिपाने की बात न हो तो आप कृपा करके उत्तर भी दे दीजियेगा। यहाँ वक्ता शकर अपने आपको लक्षित कर रहे हैं। अतः उत्तम-पुरुष का प्रयोग वाञ्छनीय था। पर उसके स्थान पर अयं जनः अन्य पुरुष का प्रयोग बड़ा-ही मार्मिक है। यह तटस्थता की प्रतीति कर रहा है। 'अहं' के प्रयोग से वाक्य मे विशेष रूक्षता हो जाती है क्योंकि इससे अधिकार क

व्यञ्जना होती है। परन्तु 'अयं जनः' नितान्त मृदुल तथा कमनीय प्रयोग है—इसमें न तो रूक्षता है और न अधिकारव्यञ्जना। फलतः यह पुरुषविपर्यय सार्थक, सरस तथा उचित है।

(५) उपग्रहवक्रता

'उपग्रह' शब्द धातुओं के पद का सूचक है। यह संस्कृतभाषा की ही विशेषता है कि उसकी धातुओ में दो पद होते हैं परस्मैपद तथा आत्मनेपद। अधिकाश धातुओं का इन्ही मे से एक ही पद में प्रयोग होता है, परन्तु कतिपय धातु उभयपदी होते हैं। अब जहाँ अर्थ के औचित्य के कारण एक ही विशिष्ट पद में कवि किसी क्रियापद का प्रयोग करता है, वहाँ होती है—उपग्रहवक्रता।

पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम् ॥

—व० जी० २।२१

कालिदास के इस पद्य की समीक्षा कीजिए—

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान् मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निविडोऽपि मुष्टिः।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः
प्रौढप्रिया-नयनविभ्रमचेष्टितानि ॥

—रघुवंश ६।५८

[राजा दशरथ की मृगया का वर्णन है। वे दूसरे हरिनो पर बाण चलाना चाहते थे और उन्होंने बाण की चुटकी कान तक खीच भी ली थी पर जब उन्होंने उन हरिणों की डरी हुई चंचल आँखों को देखा, तब उन्हे प्रौढ़ प्रियतमा के चपल नेत्रों के विलासों का स्मरण हो आया और उनकी जोर से बाँधी गई भी मूँठ खुल गई] इस पद्य के 'बिभिदे'—आत्मनेपदी धातु पर दृष्टिपात कीजिये। सस्कृत में 'कर्मकर्तृवाच्य' का सूचक है यह आत्मनेपद। इसकी व्यञ्जना बड़ी ही मार्मिक तथा मधुर है!! विलासवती प्रियतमा के नयन-विभ्रमों की स्मृति आते ही राजा की चित्तवृत्ति परवश हो गयी—उन्होंने आत्म-स्मृति भुला दी। शरीर पर किसी प्रकार का बन्धन ही न रहा। बस, झट-पट

वह मूँठ आपसे आप खुल गयी जिसे राजा ने बड़े जोर से कसकर बाँधा था। इतने गम्भीर तथा सुन्दर भावों की व्यञ्जना कर रहा है--'विभिदे' का आत्मनेपद। उपग्रहवक्रता का निःसन्देह यह नितान्त शोभन दृष्टान्त है।

(६) प्रत्ययवक्रता

छोटे छोटे प्रत्ययों का प्रयोग भी बड़ा से बड़ा चमत्कार पैदा कर देता है[1]। देखिये, तरप् प्रत्यय का यह प्रयोग कितना सुन्दर तथा हृदयंगम किया गया है !!!

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुनः
यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः॥

कवि और आलोचक के तारतम्य का अभिव्यञ्जक यह पद्य बड़ा ही मार्मिक है। वक्ता कह रहा है कि मैं इन दो प्रकार के कवियों की वन्दना कर रहा हूँ। प्रथम कवि वह है जो वस्तु मे छिपे हुए सूक्ष्म सुन्दर तत्त्व को वाणी के द्वारा खीच निकालता है और दूसरा कवि वह है जो वाणी के द्वारा कमनीयरूप की सृष्टि बाहर करने मे समर्थ होता है। ये दोनो कवि अपने अपने क्षेत्र में नितान्त प्रभावशाली हैं, परन्तु इनसे अधिक वन्दना करता हूँ उस आलोचक की जो इनके परिश्रम को जाननेवाला है और इनके भार के ढोने की क्षमता रखता है अर्थात् आलोचक इन दोनों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि इनके मर्म को समझाने की वह क्षमता रखता है—इनकी कविता के छिपे हुए अभिप्राय की व्याख्या करने मे समर्थ होता है।

इस सुभग पद्य के 'वन्देतराम्' पद में तर प्रत्यय नितान्त रोचक तथा महत्वशाली है। दो वस्तुओं के तारतम्य के अवसर पर इसका प्रयोग किया है। इस प्रत्यय से तात्पर्य यह है कि कविजनों की अपेक्षा आलोचक का दर्जा कहीं अधिक महत्त्वशाली तथा अधिक मान्य है। यही है प्रत्यय की वक्रता।

---

१ विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम्।
यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता॥
—व० जी० २।३२

(७) पदवक्रता

संस्कृत व्याकरण के अनुसार पद चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। नाम का अर्थ है संज्ञावाची पद। 'आख्यात' कहते हैं धातु को। धातु से पूर्व आनेवाले प्र, परा आदि की संज्ञा 'उपसर्ग' है और अव्ययमात्र को निपात के नाम से पुकारते हैं। अब तक पद के दो प्रकारों (नाम और आख्यात) की वक्रता की चर्चा की गई है। उपसर्ग और निपात भी इसी प्रकार रसोद्दीपन करने में नितान्त समर्थ होते हैं। वाक्य में जीवितरूप से जो रसादि स्फुरित होता है उसकी द्योतना जब उपसर्ग और निपात करते हैं तब काव्य में विचित्र चमत्कार उत्पन्न हो जाता है—यही है **पदवक्रता:—**

> **रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।**
> **वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पदवक्रता॥**

—व० जी० २। ३३

दृष्टान्त—

> **अयमेकपदे तया वियोगः**
> **प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।**
> **नववारिधरोदयादहोभि-**
> **र्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः॥**

[एक ओर तो उस प्रियतमा के दुःखद विरह सहने का समय उपस्थित हुआ और दूसरी ओर वे दिन आ गये, जो नवीन मेघ के उदय से प्रचण्ड धूप से रहित होकर वर्षाऋतु के कारण मन को मुग्ध करनेवाले होंगे] यहाँ पर दो क्रियाओं का युगपद् सान्निध्य है—उपनतः और भवितव्य का, 'उपस्थित हुआ' और 'होंगे' इन क्रियाओं का। अतः मम्मट यहाँ पर समुच्चयालङ्कार मान कर ही सन्तोष करते हैं (**स त्वन्यो युगपद् या गुण-क्रियाः**), परन्तु कुन्तक की दृष्टि बड़ी पैनी है—उनकी साहित्यिक सूझ निराली है। उनका कहना है कि प्रियाविरह और वर्षाकाल की समकालिकता के सूचक हैं दो 'च' पद जो क्रमशः द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में उपन्यस्त किये गये हैं। जिस प्रकार आग की ज्वाला को प्रदीप्त

करने का श्रेय होता है वायु के झोंके को और इन दोनों का समागम नितान्त उत्तेजनक होता है, उसी प्रकार वर्षाकाल और विरह का परस्पर सहयोग है। प्रिया से विरह तो अन्य ऋतुओं में भी दुःखद होता ही है, परन्तु वर्षाकाल में तो वह निःसन्देह अत्यन्त दुष्कर तथा कष्टप्रद हो जाता है। इस प्रकार रस के उद्दीपन की योग्यता 'च' द्वय में है। कवि प्रियविरह को 'सुदुःसह' बतलाता है अर्थात् 'सह' से पूर्व 'सु' और 'दुः' निपातों के योग से विरह के अशक्य-प्रतीकार होने की व्यञ्जना हो रही है। यहाँ निपात की वक्रता नितान्त चमत्कारिणी है।

कालिदास के इस पद्य पर दृष्टिपात कीजिए—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्तात्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥

—पूर्वमेघ, श्लोक १५

[सोहत पूरब ओर यह रतनजाल अनुमान।
निकसत बाँबी ते भलो इन्द्रचाप रुचिदान॥
इंद्रचाप रुचिदान जासु मिलि तो तनु कारो।
पावत है छबि अधिक लगत नैनन को प्यारो॥
मोर चन्द्रिका संग सुभग जैसे मन मोहत।
गोपवेष गोविन्द बहुत श्यामल तन सोहत॥]

यक्ष मेघ से कह रहा है—देखो, यह सामने बाँबी के ऊपर उठा हुआ इन्द्रधनुष का एक टुकड़ा ऐसा सुन्दर दिखलाई पड़ता है मानों बहुत से रत्नों की चमक एक साथ यहाँ लाकर उपस्थित कर दी गयी हो। इस इन्द्रधनुष से सजा हुआ तुम्हारा साँवला शरीर अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहा है—जान पड़ता है कि मोर मुकुट पहिने हुए ग्वाले का वेश बनाये हुए श्रीकृष्णजी आकर सामने खड़े हो गये हों।

इस पद्य में अतितरां पद की चारुता नितान्त अभिराम है। 'अतितरां' का अर्थ है—अत्यधिक। इसका अभिप्राय यह है कि मेघ तो स्वभाव से

ही सुन्दर होता है, परन्तु इन्द्रधनुष से सजाये जाने पर उसकी शोभा और भी अधिक बढ़ जाती है। स्वभाव से सुन्दर पदार्थ को रमणीय आभूषण से सजाने पर उसकी शोभा अत्यधिक हो ही जाती है। गोपवेष-धारी वृन्दावनविहारी कृष्ण की शोभा तो स्वतः ही अधिक है। परन्तु जब उनके सिर पर मोरपंख विराजने लगता है, तब उनकी शोभा अत्यधिक अवश्य ही हो जाती है। इस प्रकार भूषण से अधिक शोभा की वृद्धि की तथा वस्तु की स्वभाव-रमणीयता की सूचना यह छोटा सा अतितरां पद दे रहा है। इस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कालिदास ने अन्यत्र की है—

केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः
किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः।

—रघुवंश

नवीन मेघ अकेले भी सुन्दर होता ही है, पर इन्द्रधनुष से लाञ्छित होने पर उसकी शोभावृद्धि क्या कही जाय? इतने कमनीय भावों की अभिव्यक्ति केवल 'अतितरा' पद कर रहा है।

कुन्तक ने पदापरार्धवक्रता के अन्तर्गत जिन प्रभेदों का वर्णन अबतक किया है उनका प्रतिपादन ध्वनि के प्रसङ्ग में स्वयं आनन्दवर्धन ने किया है—

सुप्तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥

—ध्वन्या० ३।१६

अर्थात् असंलक्ष्यक्रमध्वनि अर्थात् रसभावादि ध्वनि सुप् (नाम-प्रत्यय) तिङ् (धातु-प्रत्यय), वचनविशेष, सम्बन्धविशेष, कारकशक्ति, कृत्, तद्धित तथा समास की विशिष्टता के द्वारा द्योतित किया जाता है। 'समासैश्च' में चकार से उपसर्ग, निपात, काल आदि के प्रयोग से भी रसध्वनि उत्पन्न होती है[1]। यहाँ आनन्दवर्धन ध्वनि के साधक जिन प्रकारों का निर्देश किया है कुन्तक ने इनका ग्रहण अपने ग्रन्थ में भी किया है।

---

१ चशब्दात् निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।
—ध्वन्या० पृ० १५३।

जो आनन्द की दृष्टि में ध्वनि के सम्पादक हैं वे ही कुन्तक के मत में वक्रता के उत्पादक हैं। एक ही तत्त्व ध्वनि तथा वक्रता के नाम से पुकारा जाता है। आनन्दवर्धन ने पूर्वनिर्दिष्ट जिस 'अयमेकपदे तया वियोगः' पद्य मे चकार-द्वय के कारण रसध्वनि निर्दिष्ट की है (पृ० १५६) उसे ही कुन्तक ने पदवक्रता का मनोरम दृष्टान्त माना है (वक्रोक्तिजीवित पृ० १३०)। इसी प्रकार कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तल के पद्य 'मुहुरङ्गुलिसंवृताधरौष्ठम्' को दोनों आचार्यो ने अपने ग्रन्थो में उद्धृत किया है—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरौष्ठं
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः
कथमुन्नमितं न चुम्बितं तु॥
—शाकुन्तल ३। २३

इस पद्य मे 'तु' निपात को आनन्दवर्धन राजा के पश्चात्ताप का विशेषसूचक मानते हैं। राजा दुष्यन्त का यह पश्चात्तापप्रदर्शन उसकी गाढ़ अनुरक्ति का अभिव्यञ्जक है। शकुन्तला के साथ प्रथम मिलन के अनन्तर वह अपनी रसलिप्सा प्रकट कर रहा है। वह कहता है कि सुन्दर पलकोंवाली शकुन्तला के उस मुख को उठाकर मैं चूम भी नही पाया जिसके ओठ को वह बार बार अपनी अँगुलियों से ढकती रहती थी, जो बार बार 'नही नही' कहते हुए भी सुन्दर लग रहा था और जिसे वह बार बार अपने कन्धे की ओर मोड़ती जाती थी। मीठी वस्तु यदि लगातार परिश्रम के बाद होठों के पास आ जाय और यदि उसका आस्वाद न लिया जाय, तो वह कितनी व्यथा, बेचैनी तथा पीड़ा पैदा करती है। यही दशा इस समय भी उपस्थित है। 'तु' शब्द इस विषम पश्चात्ताप, सरस हृदय तथा सराग चित्त का मुख्य अभिव्यञ्जक है। आनन्दवर्धन यही मानते हैं (पृ० १५६) और कुन्तक भी यही स्वीकार करते हैं[1] (पृ० १३१)

---

१ अत्र नायकस्य प्रथमाभिलाषविवशवृत्तेरनुभवस्मृतिसमुल्लसित तत्काल समुचित-तद्वदनेन्दुसौन्दर्यस्य पूर्वपरिचुम्बनस्खलितसमुद्दीपितपश्चात्ताप-वशावेशनद्योतनपरः 'तु' शब्दः कामपि वाक्यवक्रतामुद्योजयति।
—व० जी० १०। १३१

घ—वाक्यवक्रता

पद की द्विविध वक्रता के अनन्तर दूसरी वक्रता होती है वाक्य की। इसके भी अनन्त भेद हैं, परन्तु प्रधानरूप से अलंकार का विधान इसी वक्रता के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। कुन्तक का अलकारो के सामान्यरूप तथा विशिष्टरूप का विवेचन बड़ा ही मार्मिक तथा प्रामाणिक है।

वक्रोक्ति और अलंकार

अलंकार—आनन्दवर्धन ने ही अलकार की मूल भावना का निर्देश इन शब्दों में किया है—'**अलंकारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः**' अर्थात् अलकार काव्य में चारुता का कारण होता है। अभिनवगुप्त ने भी अलकार को सदा ही **विच्छित्तिप्रकार** स्वीकार किया है, परन्तु कुन्तक ने अलंकार के स्वरूप में दो बातो पर विशेष जोर दिया है—(क) **वैचित्र्य** और (ख) **कविप्रतिभा-निर्वर्तितत्व**। ये दोनों लक्षण काव्य की मूल कल्पना के साथ नितान्त सम्बद्ध हैं। अलंकार में भी इनका अस्तित्व रहता ही है। अलंकार को विचित्र, चारुत्वसम्पन्न होना ही चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि वह कवि की प्रतिभा के द्वारा प्रस्तुत किया जाय। प्रतिभाशाली कवि ही अपने अलौकिक कविव्यापार के द्वारा वस्तुओं के वर्णन मे वह चमत्कार उत्पन्न करता है जिसका आस्वाद सहृदय व्यक्ति के चित्त को आकृष्ट करता है। इसीलिए अलंकार के प्रसङ्ग मे विच्छित्ति, चारु, सुन्दर आदि विशेषणों का प्रयोग भिन्न भिन्न आलंकारिकों ने अपने ग्रन्थों मे किया है। हम बारंबार कहते आये हैं कि अलंकार विच्छितिविशेष है—**वैचित्र्यमलंकारः**। यदि विच्छित्ति की सत्ता न रहे, तो वहाँ अलंकार भी कथमपि प्रस्तुत नही हो सकता। एक दो दृष्टान्त इसके लिए पर्याप्त होंगे।

सहोक्ति अलंकार में एक धर्म का सम्बन्ध दो वस्तुओं के साथ एक ही समय में किया जाता है। भामह के शब्दों[1] में सहोक्ति वहाँ होता है जहाँ दो

---

१ तुल्यकाले क्रिये तत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा॥
—काव्यालंकार ३।३६

वस्तुओ में एक ही समय निवास करनेवाली दो क्रियाये एक ही पद के द्वारा प्रकट की जाय। परन्तु इसे वैचित्र्यमूलक ही होना चाहिए। लोक में हम कहते हैं कि 'गुरु जी के साथ शिष्य भी आये'; यहाँ पर 'आना' क्रिया का निवास दो वस्तुओ मे स्पष्टतः दीख पड़ता है। तो क्या यह सहोक्ति अलंकार हो गया ? बिल्कुल नही। अलंकारसामान्य का मूल रूप विच्छित्ति ही यहाँ विद्यमान नही है। यदि कहा जाय कि 'उस दरिद्र की दीन दशा ने उस सज्जन के नेत्रो से आँसुओं को निकाला और साथ ही साथ उनके पाकेट से रुमाल को' तो प्रस्तुत रस को तीव्र तथा हृदयंगम बनाने के कारण यह सहोक्ति सचमुच बड़ी स्वाभाविक तथा चारुतामयी है। इसे काव्य का भूषण कहने में कौन आलोचक हिचकेगा ?

औपम्य की चमत्कृति तो जयदेव के इस कमनीय पद्य मे दृष्टिगोचर हो रहा ही—

त्वद्-वाम्येन सम समग्रमधुना तिग्मांशुरस्तंगतो,
गोविन्दस्य मनोरथेन च समं प्राप्तं तमः सान्द्रताम्।
कोकानां करुणस्वनेन सदृशी दीर्घा मदभ्यर्थना,
तन्मुग्धे विफलं विलम्बनमसौ रम्योऽभिसारक्षणः ॥

—गीतगोविन्द ५।४

वामता तेरी के संग हे वाम पतङ्ग भयो असतंगत जैसो,
मैन मनोरथ मोहन के सँग आनि छयो तिमिराकर तैसो।
बीनती मोरी औ कोक की बाणी सुनी अवलम्ब विलम्बब कैसो,
सार पसारि दियो अपनो निसिहार समै अभिसार न ऐसो ॥

—गीतगोविन्दादर्श पृ० ७७

दूती राधाजी से कृष्णजी का अभिसार करने की प्रार्थना कर रही है। वह कहती है कि तेरी वामता के अस्त होने के साथ ही साथ वह तीखी किरणोवाला सूर्य भी अस्तगत हो गया। गोविन्द के मनोरथ के साथ अन्न-अन्धकार गाढ हो गया है। कोक के करुणस्वन के समान हमारी भी अभ्यर्थना दीर्घ है। हे मुग्धे ! अब विलम्ब करना व्यर्थ है। अभिसार करने के लिए यही सुन्दर अवसर है। इस पद्य के तीनों चरणों मे औपम्य विराज-

सादृश्य है, परन्तु अनन्वय मे सादृश्य से भिन्न नवीन चमत्कार उत्पन्न हो जाता है जो उस वस्तु की अलौकिकता बतलाने में समर्थ होता है। फलतः अनन्वय उपमा से भिन्न होता है। अतः अलकार इसी चमत्कृति के आधायक होने पर ही अपना रूप धारण करते हैं, अन्यथा नही। पण्डितराज के शब्द हैं—

सौन्दर्यं च चमत्कृत्याधायकत्वम् । चमत्कृतिश्च आनन्दविशेषः सहृदयहृदयप्रमाणकः । अनन्वयेच 'गगनं गगनाकारम्' इत्यत्र सादृश्यस्य द्वितीयसब्रह्मचारिनिवर्तनमात्रार्थमुपात्तत्वेन स्वयमप्रतिष्ठानात् अचमत्कारितैव ।

—रसगंगाधर पृ० १५७

अतः कुन्तक की दृष्टि में अलकार का स्वरूप होगा—**कविप्रतिभात्मकस्य विच्छित्तिविशेषात्मकस्य अलंकारेणोक्तत्वात्** अर्थात् कवि की अलोकसामान्य प्रतिभा के द्वारा उत्थापित विच्छित्तिविशेष—चमत्कार का एक प्रकार। अलकार की सामान्य कल्पना के अनन्तर कुन्तक ने भिन्न भिन्न अलंकारो के स्वरूप की बड़ी ही सुन्दर विवेचना की है।

वाक्यवक्रता के भीतर **वस्तुवक्रता** का भी अन्तर्भाव होता है। इसी वक्रता के विचार प्रसङ्ग मे कुन्तक ने स्वभावोक्ति के रूप का पर्याप्त समीक्षण किया है जिसका सारांश हम पीछे दे आये हैं। किसी वस्तु का स्वभाव कथन काव्यशरीर ही होता है। शरीर को ही अलंकारों से सजाया जाता है। अधिकरण के ऊपर ही आधेय की स्थिति रहती है। किसी वस्तु का स्वभाव-कथन वह आधार है जिसके उपर शोभाधायक सामग्री अपनी चारुता दिखला सकती है। किसी वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का होता है—स्वभाव प्राधान्य और रसप्राधान्य। प्रथम प्रकार मे उसके स्वभाव की ही वर्णना रहती है और दूसरे प्रकार मे रस का चमत्कार रहता है। कुन्तक रसात्मक वर्णन की चारुता पर अपना बड़ा आग्रह दिखलाते हैं। इस प्रसङ्ग में उन्होंने विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक से उन्मत्त पुरुरवा की उक्तियों को उद्धृत किया है—

तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनी
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥

—विक्रमोर्वशीय ४ ।२

[प्रियतमा उर्वशी के तीव्र वियोग से सन्तप्त पुरुरवा विचार कर रहा है—कहीं वह क्रोध में आकर अपने दैवी प्रभाव से छिप न गई हो, परन्तु आजतक वह कभी इतनी देर तक क्रोध नही करती थी। वह कहीं स्वर्ग न चली गई हो? परन्तु उसका मन मुझमे नितान्त स्निग्ध है—वह मुझे जी जान से प्यार करती है। देवताओं के शत्रु राक्षस भी उसे मेरे सामने से हरकर नही ले जा सकते। फिर भी वह मुझे बिल्कुल ही दिखलाई नही दे रही है। कैसा मेरा दुर्भाग्य है।]

इस पद्य मे प्रियतमा के विरह से विधुर नायक की मानसिक दशा का बडा ही मार्मिक वैज्ञानिक चित्रण है। एक बार उसके हृदय को अभिभूत कर लेता है प्रेम, तदनन्तर उसका मस्तिष्क— बुद्धि तत्त्व-अपनी प्रभुता जमाता है। बेचारे नायक के हृदय में विभिन्न भावो का सघर्ष देखने ही लायक है। कुन्तक की सम्मति में शोभन रति आदि भावो के परिपोष से सुन्दर स्वरूप-वर्णन काव्य का मुख्य शरीर होता है—

मुख्यमक्लिष्टरत्यादि-परिपोष-मनोहरम् ।
स्वजात्युचित हेवाक-समुल्लेखोज्ज्वलं परम् ॥

व० जी० ३ । ७

यही कुन्तक ने रसवद् अलंकार की भी बड़ी छानबीन की है। वे इसे अलकार न मानकर अलकार्य ही मानते हैं। इस प्रसङ्ग में वक्रोक्तिजीवित-कार ने प्राचीन अलंकारिकों की धारणाओं का खूब खण्डन किया है। उनका कथन है कि रसवत् अलंकार में रसपेशल स्निग्धवस्तु का वर्णन पाया जाता है। यह रसात्मक स्वभाव काव्य का मुख्य शरीर है, उसे अलंकार-कोटि में मान बैठना सरासर भूल है। इस रसवत् में सरस स्वभाव के अति-

रिक्त कौन सी वस्तु ही प्रतीत होती है कि उसका विवेचन या नामकरण स्वतन्त्ररूप से किया जाय—

अलंकारो न रसवत् परस्या-प्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥

—व० जी० ३ । १०

प्रेय अलंकार की भी परीक्षा इसी प्रकार की है । इसे भी वे अलंकार्य ही मानते हैं । अतः अलंकार्य वस्तु को अलंकार मानना नितान्त असम्भव है । क्या कोई मनुष्य अपने कन्धों पर कहीं सवार होता है ? बिल्कुल नहीं । अलंकार स्वतः काव्यशरीर से बाह्य वस्तु होता है, परन्तु इन अलंकारों में ऐसी दशा नही है । अतः यह भी अलंकार्य ही है, अलंकरण नही —

यदेवालंकार्यं तदेवालंकरणमिति प्रेयसो रसवतश्च स्वात्मनि क्रियाविरोधात्—'आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति' इति स्थितमेव ।

—व० जी० पृ० १६६

इसी प्रकार प्राचीन अलकारों के स्वरूप की मार्मिक आलोचना हमारे ग्रन्थकार ने की है । स्थानाभाव के कारण इनका विवरण प्रस्तुत नहीं किया जाता, परन्तु इतना तो स्मरण रखना होगा कि कुन्तक अनेक अलंकारों में दो प्रभेद मानते हैं—वाच्य और प्रतीयमान । वाच्य अलंकार तो वहाँ होगा जहाँ अभिधा के द्वारा उस अलंकार की सूचना होगी और प्रतीयमान अलंकार तब होगा जब व्यञ्जना के द्वारा वह अभिव्यक्त किया जाय । उदाहरण के लिए **व्यतिरेक** अलंकार को ले सकते हैं । वे इस अलकार को शाब्द और प्रतीयमान भेद से दो प्रकार का मानते हैं । इसी प्रकार अन्य अलंकारो में भी इन भेदों की सत्ता रहती है । मैंने कई बार कहा है कि अभिधावादी कुन्तक के यहा व्यञ्जना का तिरस्कार कथमपि नही होता, प्रत्युत उनके अभिधाव्यापार के अन्तर्गत द्योतन तथा व्यञ्जन दोनों का सुन्दर समावेश किया गया है ।

अलंकारविषयक कसौटी पर कसे जाने से अनेक अलंकारो की अलंकारता क्षीण हो जाती है । अतः कुन्तक उन्हे कभी तो अलंकारकोटि से ही

बाहर फेंक देते हैं और कभी उन्हे ऊपर उठाकर अलंकार्य कोटि मे बैठा देते हैं। इसलिए वे 'यथासंख्य' को अलंकार नही मानते (भणिति-वैचित्र्य विरहान्न काञ्चिदत्र कान्तिर्विद्यते पृ० २२०)। उधर आशीः और विशेषोक्ति को वे अलंकार्य मानते हैं। हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकारों की स्वतन्त्र सत्ता प्राचीनों ने कभी मानी थी, परन्तु वक्रोक्ति के सिद्धान्त के साथ इनका सामञ्जस्य नहीं जुटता। न इनमे कोई चमत्कार ही है और न कोई कल्पना ही जो इन्हे काव्यशोभाधायक होने की योग्यता प्रदान करती। फलतः कुन्तक इन्हे अलंकारश्रेणी से बहिर्भुक्त मानते हैं।

(ङ)—प्रकरणवक्रता

अब तक वक्रोक्ति की जितनी चर्चा की गई है उससे बहुतों की यह धारणा बँध गई होगी कि कुन्तक अलकार तथा चपल शब्दप्रयोग को ही काव्य में आदरणीय मानते हैं, परन्तु ऐसी बात नहीं है। वक्रोक्ति की कल्पना नितान्त व्यापक, तलस्पर्शी तथा अन्तरग है। इसी की ओर हम संकेत करते आये हैं। अब इस व्यापकता की परीक्षा आप स्वय कीजिए और देखिये कि वक्रोक्ति का यह तत्त्व काव्यजगत् मे कितना उदात्त तथा महनीय है।

प्रबन्ध के एकदेश को 'प्रकरण' कहते हैं। प्रकरणों के ही परस्पर सहयोग से प्रबन्ध की प्रकृष्टता सम्पन्न होती है। अश के दोषयुक्त होने पर अशी कभी दोपमुक्त नही हो सकता। अश के सौन्दर्य के ऊपर ही अशी का सौन्दर्य निर्भर रहता है। इसीलिए प्रबन्धवक्रता से पूर्व ही कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता की समीक्षा की है। प्रकरण को सरस, उपादेय तथा सुन्दर बनानेवाले अनेक प्रसङ्ग होते हैं। इनमे कतिपय प्रसङ्गो की चर्चा यहाँ की जा रही है।

(१) जिस प्रसङ्ग से नायक के चरित्र मे दीप्ति उत्पन्न होती है, सौन्दर्य का उन्मीलन होता है, लालित्य का विकास होता है वह प्रकरणवक्रता का अन्यतम प्रकार है। उदाहरण के लिए रघुवंश के पंचमसर्ग मे वर्णित रघु तथा कौत्स का प्रसङ्ग। महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के निमित्त महाराज रघु के पास आता है। यज्ञ मे सर्वस्व दान दे देने के कारण

राजा का कोष उस समय क्षीण हो गया है, परन्तु कौत्स की इच्छापूर्ति के लिए रघु अपने सामन्तभूत कुबेर के ऊपर आक्रमण करने जाता है। उसी समय रात को सुवर्णवृष्टि से उसका कोष भर जाता है। राजा कोष की अतुल सम्पत्ति देने के लिए आग्रह करता है परन्तु कौत्स गुरुदक्षिणा से अधिक लेने के लिए तैयार ही नही है। इस प्रकार कालिदास ने रघु को आदर्श दाता तथा कौत्स को आदर्श पात्र के रूप मे अंकित कर रघु के चरित को नितान्त उन्नत तथा उदात्त बना दिया है। अयोध्यावासियों के हृदय मे इन दोनो व्यक्तियो के प्रति उदारता की अभिव्यक्ति कालिदास ने सुन्दर शब्दों मे की है:—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूताम् अभिवन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिक — निःस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

—रघु ५।३१

[साकेत के निवासी जनो के लिए वे दोनो जन प्रशंसनीय आचरण वाले थे। एक तो था याचक कौत्स, जो गुरु को दी जानेवाली दक्षिणा से अधिक में स्पृहा नहीं रखता था और दूसरा था दाता रघु, जो अर्थी की इच्छा से अधिक देनेवाला था]

(२) प्रकरण को रसनिर्भर होना चाहिए जिसके सौन्दर्य से पूरा प्रबन्ध रसपेशल हो जाय। इसके लिए कविजन असद्वस्तु—मूल मे अविद्यमान वस्तु—की भी नवीन कल्पना कर अपने प्रबन्ध की चारुता बढ़ाते हैं। प्रबन्ध को उचित तथा सरस करने के लिए अपनी कल्पना के बल पर नये नये प्रकरणों की उद्भावना एकदम आवश्यक होती है। जैसे शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में दुर्वासा का शाप। मूल महाभारत मे सर्वथा अभाव होने पर भी कालिदास ने इस घटना का उल्लेख कर अपने नाटक को महनीय तथा भावपूर्ण बना दिया है। महाभारत का दुष्यन्त शकुन्तला के परिणय को जान बूझकर भूल जाता है। अपने सभासदो के सामने अपने अन्या-याचरण को स्वीकृत करने की हिम्मत उसमे नही है। वह एकदम निकम्मा

है, आश्रम में भी अन्याय से विरत नहीं होता, परन्तु कालिदास ने दुर्वासा-शाप की अवतारणा कर उसका चरित्र नितान्त विशुद्ध तथा उदात्त बना दिया है। दुष्यन्त की शकुन्तला विवाह की विस्मृति शापजन्य है, जान बूझकर अन्यायजन्य नहीं है। बेचारे के ऊपर ऋषि का शाप मँडरा रहा था, करता तो क्या करता? इसी कारण इस प्रकरण का सौन्दर्य शाकुन्तल के वस्तुविन्यास में विशेषरूपेण उन्मीलित होता है।

(३) कभी कभी मूल इतिवृत्त के अनुचित प्रकरण का परिवर्तन कर कविजन नवीन प्रकरण की कल्पना किया करते हैं[१]। सहृदयों के हृदयानुरञ्जन के लिए ऐसा परिवर्तन सर्वथा उचित होता ही है। इसीलिए धनञ्जय का कवियों के लिए आदेश है—

यत् तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥

—दशरूपक ३।२४

नाटक मे वस्तु नायक या रस के लिए अनुचित हो या विरुद्ध हो उसे या तो छोड़ देना चाहिए अथवा उसका दूसरे रूप मे परिवर्तन कर देना चाहिए। मायूराज नामक किसी कवि ने 'उदात्त राघव' नामक नाटक में इन दोनो आदेशों का एकत्र पालन किया है। प्राचीन काल में विख्यात होने पर भी यह नाटक आजकल कहीं उपलब्ध नहीं होता। इसमें कवि ने छद्म से वालिवध का प्रसङ्ग बिल्कुल छोड़ दिया है तथा मारीच-वध की घटना में किञ्चित् परिवर्तन प्रस्तुत किया है। रामायण के कथा पुरुष मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के लिए स्वय मारीचवध के लिए जाना तथा उनकी प्राणरक्षा के लिए जनकनन्दिनी का लक्ष्मण को भेजना—

---

१ इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि कथावैचित्र्यवर्त्मनि।
उत्पाद्यलवलावण्यादन्या भवति वक्रता॥
तथा यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम्।
भाति प्रकरणं काष्ठाधिरूढरसनिर्भरम्॥

व० जी० ४। ३,४

दोनो घटनायें उदात्त चरित्र के प्रतिकूल हैं। अनुचर की सन्निधि में क्या प्रधान पुरुष का किसी कार्य में स्वयं अग्रसर होना उचित है? सर्वातिशायी राम के प्राणपरित्राण की अनुज के द्वारा कल्पना करना क्या जानकी के लिए उचित है? इसीलिए कवि ने इस नाटक मे इस घटना को किञ्चित् परिवर्तित कर दिखलाया है कि मारीचमृग के मारने के लिए लक्ष्मण जाते हैं और उनकी रक्षा के लिए कातर सीता राम को भेज रही है। कुन्तक इस इतिवृत्तपरिवृत्ति को औचित्यमयी होने से प्रकरण-वक्रता का एक विशिष्ट प्रकार मानते हैं[1]।

(४) प्रबन्ध में अनेक प्रकरण निबद्ध किये जाते हैं। इनमे परस्पर उपकार्योपकारभाव होना चाहिए। नाटक का वस्तुविन्यास इतना सुन्दर होना चाहिए कि उसकी प्रत्येक घटना एक ही कार्य के साथ सामञ्जस्य रखे। उसमे एक दूसरे को आगे बढ़ाने तथा पुष्ट करने की योग्यता सन्तत विद्यमान होनी चाहिए। यह प्रकरण का अन्यतम प्रकार है। इसे अरस्तू 'कार्यान्वय' 'या कार्यैकता' (unity of action) के नाम से पुकारते हैं—

प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान्।
उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरन्॥
असामान्यसमुल्लेख-प्रतिभाप्रतिभासिनः।
सूते नूतनवक्रत्वरहस्यं कस्यचित् कवेः॥

—व० जी० ४।५, ६

कुन्तक ने इस वक्रता के उदाहरण मे उत्तररामचरित के प्रथम अंक में वर्णित 'चित्रदर्शन' का निर्देश किया है! इस दृश्य का उपयोग उत्तर-चरित के कथानक के विकास मे बड़ा ही घनिष्ठ है। इसमे वर्णित घटनाओं का विकास धीरे धीरे नाटक के अन्य भागो मे दृष्टिगोचर होता है, एक घटना लीजिए। जृम्भक अस्त्र का चित्र देखकर राम कहते हैं—'हे सीते, ये अस्त्र सर्वथा तुम्हारे सन्तान के पास स्वय जायँगे'। इस वाक्य का प्रभाव नाटक के पञ्चम अंक मे दृष्टिगोचर होता है जब लव चन्द्रकेतु के

१ द्रष्टव्य वक्रोक्तिजीवित पृ० ४२ और २२५।

साथ युद्ध करने के लिए उद्यत होता है। सैन्यों के विपुल भयङ्कर आक्रमण को तुरन्त शान्त कर देने के अभिप्राय से वह जृम्भकास्त्रों का प्रयोग करता है और इन्हीं अस्त्रों की सहायता से लव कुश के रामचन्द्र के पुत्र होने की बात स्पष्टतः प्रमाणित होती है। राम इसी अंक में गंगा तथा पृथ्वी देवी से सीता की रक्षा करने का आग्रह करते हैं और इस आग्रह का निर्वाह नाटक के अगले अंक मे है। राम की प्रार्थना करने पर ही भागीरथी तथा पृथ्वी ने सीता की रक्षा की तथा उनके बच्चों को महर्षि वाल्मीकि को शिक्षा तथा दीक्षा के लिए समर्पित कर दिया। अतः यह दृश्य नाटक के वस्तुविकास के साथ पुंखानुपुंखरूप से सम्बद्ध है और यही है **'कार्यान्वय'** का प्रदर्शन।

(५) कभी कवि एक सामान्य कथानक को रसमय तथा स्निग्ध बनाने के लिए उसका विस्तार कर देता है और अवान्तर नवीन घटनाओं के सन्निवेश से उसे पुष्ट तथा शोभन बनाता है। यह भी प्रकरणवक्रता का ही प्रकार है—

प्रतिप्रकरणं प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः।
एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः॥
अन्यूननूतनोल्लेख—रसालंकरणोज्ज्वलः।
बध्नाति वक्रतोद्भेदभङ्गीमुत्पादिताद्भुताम्॥

—व० जी० ४।७-८

उदाहरण के लिए रघुवंश के नवम अंक में मृगयावर्णन को लीजिए। यदि कवि की इच्छा होती, तो एक सामान्य वाक्य में कह सकता था कि राजा दशरथ ने प्रमाद से वृद्ध तपस्वी के पुत्र को मार डाला, परन्तु क्या इससे कथानक मे चमत्कृति आती? रस का समुचित उन्मीलन होता? अतः काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से ही कालिदास ने प्रथमतः वसन्त के सुखद आगमन का सरस वर्णन किया है, तदनन्तर कवि मृगया का स्वभावपेशल यथार्थ विवरण प्रस्तुत करता है और इसीके अन्त मे अभीष्ट वस्तु की भी सूचना दे देता है। राजा इस अभिशाप को वरदान ही मान रहा है क्योंकि पुत्र का मुख न देखनेवाले व्यक्ति के लिए पुत्रशोक से मृत्यु का शाप शाप नहीं है, वरदान है। कवि ने राजा के भावों को बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है—

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥

—रघु० ६।८०

दशरथ का कथन अन्ध तापस के प्रति । हे मुने, मुझे आजतक पुत्र के मुख-कमल का दर्शन तक नही हुआ है । इसलिए मै आपके शाप को वरदान ही समझता हूँ, क्योंकि इसी बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा । लकड़ी से धधकती हुई आग कृषियोग्य जङ्गल को भले ही जला डाले, परन्तु वह जमीन इतनी उपजाऊ बना देती है कि आगे उसमें बड़ी अच्छी उपज होती है । इस तात्पर्य की पुष्टि के लिए नवम सर्ग की समग्र घटनाओं का एकत्र वर्णन है ।

(६) कभी कभी नाटक मे किसी विशिष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए एक प्रकरण के भीतर दूसरा प्रकरण अभिनीत किया जाता है—नाटक के भीतर नाटक किया जाता है । इसका नाम है—गर्भाङ्क । गर्भाङ्क की योजना भी वक्रता का ही एक प्रकार है—

सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः ।
तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम् ॥
क्वचित् प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम् ।
सर्वप्रबन्धसर्वस्वकल्पं पुष्णाति वक्रताम् ॥

—व० जी० ४।१२-१३

महाकवि राजशेखर ने 'बालरामायण' के तृतीय अङ्क में 'सीतास्वयम्बर' नामक गर्भाङ्क का निवेश किया है और भवभूति ने उत्तररामचरित के सप्तम अङ्क में भी ऐसा ही गर्भाङ्क प्रस्तुत किया है । भवभूति का गूढ अभिप्राय है—भगवती जनकनन्दिनी-सीता के चरित्र की विशुद्धि दिखलाना । 'उत्तररामचरित' भावो का सङ्घर्ष दिखलानेवाला उदात्त नाटक है । एक ओर राम के हृदय में सीता के प्रति अप्रतिम अनुराग लहरें मार रहा है, दूसरी ओर प्रजा-

नुरञ्जन व्रत की निष्ठा उद्वेलित हो रही है। प्रेम और धर्म, काम तथा नीति का महान् संघर्ष भवभूति के नाटक का मेरुदण्ड है। प्रजा लोगों को सीता के चरित्र में सन्देह है। अतः उन्हीके आग्रह पर राम ने जानकी की पवित्रता से भरपूर परिचित होने पर भी उनका परित्याग कर दिया है। राम को तथा जगत् के समग्र प्राणियों के सामने सीताचरित्र की उदात्तता तथा परिशुद्धि दिखलाना ही इस गर्भाङ्क का उद्देश्य है। सीता को पृथ्वी देवी के साथ पाताललोक में भेजकर भवभूति वाल्मीकि की रामायणी कथा का पूर्णतया अनुसरण करते हैं। तदनन्तर पाताललोक से निष्कलङ्क सीता आती हैं और गंगा तथा पृथ्वी के प्रामाण्य पर प्रजा नतमस्तक होकर उन्हे ग्रहण करती है। अरुन्धती के आग्रह पर मूर्च्छित रामचन्द्र को सीता अपने पाणि-स्पर्श से पुनरुज्जीवित करती हैं—

> त्वरस्व वत्से वैदेहि! मुञ्च शालीनशीलताम्।
> एहि जीवय मे वत्स प्रियस्पर्शेन पाणिना॥
> [तजि संकोच सकज्ज निज बेटी जनक दुलारी।
> आइ पर्यौ कर्तव्य तिहारौ करौ सीघ्रता भारी॥
> आओ अपनो मृदुल पाणि अब रामसरीर छियाऔ।
> जैसे बनै जतन करि वैसे मेरो वत्स जियाऔ॥
>
> —सत्यनारायण कविरत्न]

राम-सीता के पुनर्मिलन के सम्पादन मे इस गर्भाङ्क की भूयसी महत्ता है। अतः करुण तथा अद्भुतरसों से मण्डित यह गर्भाङ्क प्रबन्धार्थ की चारुता निःसन्देह सम्पादित कर रहा है।

(च) प्रबन्धवक्रता

प्रबन्धवक्रोक्ति काव्य की सबसे अधिक व्यापक वक्रोक्ति है। इसका आश्रय न अक्षर है, न पद; न वाक्य और न वाक्यार्थ; प्रत्युत आदि से अन्त तक संवलित समग्र काव्य तथा नाटक ही इस वक्रोक्ति का आधार-स्थल है। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक की समीक्षादृष्टि संकीर्ण न होकर नितान्त उदार है। वह काव्य के भिन्न भिन्न अशो के सौन्दर्यबोध मे जिस प्रकार

समर्थ होती हैं, उसी प्रकार समग्र काव्य के गुणदोषविवेचन में भी क्रियाशील है। प्रबन्धवक्रता के अनेक प्रकारों मे एक दो का उल्लेख ही यहाँ पर्याप्त होगा।

(१) जहाँ कवि मूल कथानक के रस को बदल कर नवीन चमत्कारी रस का आविर्भाव करता है जिससे कथामूर्ति आमूल रसस्निग्ध हो जाती है तथा श्रोताओं का विशेष अनुरञ्जन होता है, वहाँ प्रबन्धवक्रता विराजती है—

> इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया।
> रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्॥
> तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः
> विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता॥
>
> —व० जी० ४।१६-१७

वेणीसंहार महाभारत की कथा पर आश्रित है, परन्तु भट्ट नारायण ने मूल शान्तरस को श्रोताओं का विशेष आनन्ददायक न मानकर उसके स्थान पर वीररस का ओजस्वी उन्मीलन किया है। भवभूति का उत्तररामचरित भी वाल्मीकीय रामायण पर ही अवलम्बित है, परन्तु रामायण है करुणरस-प्रधान काव्य। शोकावसायी नाटक मे न तो श्रोताओं का चित्त ही रमता है और न उसका स्थायीप्रभाव पर ही पड़ता है। अतः भारतीय नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने शोकान्त रूपक (अंग्रेजी की ट्रैजिड़ी) का निषेध किया है। भवभूति ने भी कारुण्य से आप्लुत घटनाओं का निदर्शन करने पर भी उत्तररामचरित मे शृङ्गार को ही अगिरस बनाया है। करुण अगरस ही है। यह साभिप्राय रसपरिवृत्ति कविकला की चरम कसौटी है।

(२) कभी कभी कथानक का समग्र भाग रसमय नही होता। आदिम अंश अधिक सरस तथा हृदयग्राही होता है, उत्तर अश उतना सरस नहीं होता। कवि का कार्य है कि विरस अश को छोड़कर सरस अंश का ग्रहण तथा उपपादन अपने काव्यग्रन्थ मे करे। कवि किसी इतिहास का चाकर नही है कि वह उपात्त इतिहास का पूरा निर्वाह अपनी कविता मे अवश्य ही करे। कवि स्वतन्त्र होता है। नायक के विजय तथा उत्कर्ष को प्रदर्शित करनेवाले कथाभाग का वर्णन ही उसका ध्येय होता है। इसीलिए वह विरस

कथाभाग की अवहेलना कर सरस भाग का ही विस्तृत निरूपण करता है। आनन्दवर्धन ने बहुत पहिले ही इतिवृत्तकार तथा काव्यकार के भेद को प्रदर्शित कर दिया है। इतिवृत्तकार का मुख्य उद्देश्य होता है कथा को ठीक ठीक कहना जिसे सुनकर श्रोता का कौतूहल बढ़ता है और वह पूछता है—"फिर क्या हुआ?" कवि का यह उद्देश्य कभी नहीं होता। रस का उन्मीलन, नायक का उत्कर्ष दिखलाना ही उसका अन्तिम ध्येय होता है। इसीलिए वह नीरस या विरस कथाभाग को छोड़कर सरस भाग को उपादान रूप से ग्रहण करता है। प्रबन्ध-वक्रता का यह अन्यतम प्रकार है—

> त्रैलोक्याभिनवोल्लेख नायकोत्कर्षपोषिणा।
> इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्॥
> तदुत्तरकथावर्ति — विसरस्वजिहासया।
> कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्य वक्रता॥

महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य के कथानक की परीक्षा कीजिए। कवि के ही निर्देशों से पता चलता है कि उसे दुर्योधन के नाश तक का कथाभाग निबद्ध करना अभीष्ट है, परन्तु पाशुपतास्त्र की प्राप्ति तक ही उसने अपने काव्य में निर्मित किया। क्यों? नायक के उत्कर्षक होने के कारण! अर्जुन की तपस्या, किरात वेषधारी शिव से भयानक संग्राम, अर्जुन के विपुल पराक्रम से प्रसन्न होकर शिव का स्वकीय अस्त्र का दान—ये ही घटनायें नायक अर्जुन के अनुपम विक्रम के उल्लेख के लिए पर्याप्त हैं—अतः भारवि ने अपने कथानक को यहीं तक सीमि कर अपनी विशद कल्पना को चरितार्थ किया है।

(२) कविजन एक ही कमनी फल की प्राप्ति के उद्देश्य से कथानक आरम्भ करते हैं परन्तु नायक अप बुद्धिवैभव से अन्य भी फलों की प्राप्ति कर लेता है जिससे उसकी महिमा विशेषरूप से बढ़ जाती है। ऐसा प्रसङ्ग भी प्रबन्धवक्रता का अन्यतम निदर्शन है। जैसे नागानन्द में नायक जीमूतवाहन केवल पिता की सेवा के लिए जगल में जाता है, परन्तु उसका वहीं 'मलयवती' नामक गन्धर्वकन्या से विवाह होता है। वह शंखचूड़ नामक

प्रयोग करने से काव्यरीति विशिष्ट और कवित्वपूर्ण होती है[1] इस वाक्य में 'कथन के सामान्यप्रकार से पृथक् होनेवाली प्रत्येक वस्तु'—'everything that deviates from the ordinary modes of speech'—वक्रोक्ति का प्रकारान्तर से सूचक है। अरस्तू के इस नियम के लिए महत्त्वपूर्ण कारण विद्यमान है। साधारण जनों की जो भाषा होती है, बोलचाल का जो ढंग होता है, वस्तुनिर्देश करने की जो परिपाटी होती है वह साधारण-कोटिवाले व्यवहार पर आश्रित रहती है। वह केवल लोकव्यवहार के ही लिए प्रयुक्त होती है। उसका कार्य केवल सामान्य जनों के साधारण भावों का ही प्रकाशन होता है। अतः उन प्रयोगो से काव्यरीति कवित्वपूर्ण न होकर नीरस 'गद्यात्मक' प्रतीत होती है[2]। काव्य में न तो उससे चमत्कार उत्पन्न होता है और न सरसता का उदय होता है। वह केवल बातचीत के लिए उपयुक्त होता है, काव्य के कमनीय भावो का प्रकाशक नही हो सकता।

(२) अरस्तू ने उदाहरण देकर वक्रोक्ति की सुन्दरता प्रदर्शित की है। उन्होंने दिखलाया है कि नाटककार एसकिलस की कविता में जो बात नीरस तथा फीकी जान पड़ती है वही वक्रोक्ति के विधान से यूरीपीडीज के यहाँ नितान्त रोचक तथा सरस हो गई है। इस प्रसङ्ग में अरस्तू ने एरिफ्रेडीज (Ariphrades) नामक किसी आलकारिक की दिल्लगी उड़ाई है जो अपने आपको महामति तथा बुद्धिमान् समझकर उन नाटककर्ताओं का उपहास किया करते थे जिन्होंने साधारण लोकव्यवहार से विभिन्न भाषा का प्रयोग अपने नाटकों मे किया है। अरस्तू ने स्पष्टतः लिखा है कि

---

1 The *Diction* becomes distinguished and non-prosaic by the use of unfamiliar terms, i. e. strange words, metaphors lengthened forms, and *everything that deviates from the ordinary modes of speech.*

—Poetics sec 22 पृ० ७५

2 Their deviation from the ordinary words will, by making the language unlike that in general use, give it a non-prosaic appearance.

वही पृ० ७६

बेचारे एरिफ्रेडीज इस सच्ची बात को बिल्कुल ही नहीं जानते थे कि वक्रोक्ति के प्रयोग से रीति में चमत्कृति उत्पन्न हो जाती है और वह नीरस गद्योचित होने की अपेक्षा सरस पद्योचित रूप में विराजने लगती है[1]।

(३) अरस्तू ने काव्य में प्रयुक्त होनेवाले संज्ञापदों के आठ भेद स्वीकार किये हैं। और इन आठों प्रकारों के उपयोग तथा व्यवहार का भी सुन्दर निर्देश किया है (पोइटिक्स, परिच्छेद २१)। इनमें प्रथम दोनों भेदों का उल्लेख किया जा रहा है। कुछ संज्ञापद ऐसे होते हैं जो किसी वस्तु के सामान्यतः वाचक होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो उस वस्तु के लिए अपरिचित वाचक कहे जाते हैं। पहले को वे कहते है साधारण शब्द (Ordinary word), और दूसरे को अपरिचित या विशिष्ट शब्द (strange word)। किसी देश में साधारण लोक के व्यवहार में जिन शब्दों का प्रयोग होता है वे प्रथम प्रकार के हैं और जो उस देश में साधारणतया व्यवहृत न होकर किसी अन्य देश में प्रयुक्त होते हैं वे दूसरे प्रकार के हैं[2]। इस भेद को समझाने के लिए अरस्तू ने उदाहरण भी दिया है। स्पष्ट है कि अरस्तू का द्वितीय प्रकार का संज्ञापद वक्रोक्ति के ही प्रकार के अन्तर्गत आता है।

(४) अरस्तू ने इन विशिष्ट संज्ञापदों के महत्त्व का कारण अपने दूसरे ग्रन्थ में समझाया है। अपने 'रेटारिक' नामक ग्रन्थ में खण्ड ३, परि० २,

---

1 Ariphrades used to ridicule the tragedians for introducing expressions unknown in the language of common life .. and the like. The mere fact of their not being in ordinary speech gives the Diction a non-prosaic character but Ariphrades was unaware of that It is a great thing, indeed, to make a proper use of these poetical forms.

—Poetics sec 22 पृ० ७८

2 By the *ordinary* word I mean that in a general use in a country; and by a *strange* word, one in use elsewhere.

—Poetics sec. 21 पृ० ७१

पृ० २२६) वे लिखते हैं—"ऐसे प्रयोग का कारण यह है कि इससे शैली में विशेषतर उदात्तता तथा ओजस्विता का संचार होता है। साधारण लोगों का ढंग यह है कि वे अपने देशवासियों की अपेक्षा विदेशियों की विशेष प्रशंसा करते हैं—वे उस वस्तु की विशिष्ट प्रशंसा करते हैं जिसके विषय में वे बहुत ही कम जानते हैं। ठीक यही दशा रीति की भी होती है। अतएव भाषा को वैदेशिक, अपरिचित प्रकार से मण्डित करना नितान्त उचित होता है। जो वस्तु साधारण प्रकार से विचित्र होती है, लोकव्यवहार से पृथक् होती है उसकी हम प्रशंसा करते हैं। आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली वस्तु में हम आनन्द का बोध करते हैं।...साधारण जीवन से पृथक्भूत वस्तुओं तथा व्यक्तियों के चित्रण में एक विशेष आनन्द आता है[1]।"

वक्रोक्ति के विषय में अरस्तू की ये कल्पनाएं हैं। इनसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वे काव्य में अतिशय कथन, अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति के गौरव तथा महत्त्व से भलीभाँति परिचित हैं। वक्रोक्ति को अरस्तू काव्य में नितान्त उपादेय तथा रोचक साधन मानते हैं। वक्रोक्ति से रीति उदात्त, सरस तथा काव्योचित बन जाती है तथा काव्य में विशिष्ट चमत्कार की उत्पत्ति होती है। अरस्तू का यह विवेचन सूत्रस्थानीय है। अवान्तर आलोचकों का विवेचन एक प्रकार से इसीका भाष्य है।

---

1. The reason is that such variation imparts greater dignity to style, for the people have the same feeling about style as about foreigners in comparison with their fellow citizens—*they admire most what they know least* ..We all admire anything which is out of the way, and there is a certain pleasure in the object of *wonder*.

—Rhetoric III 2 (Welldon's translation p. 229)

लाञ्जिनस

लाञ्जिनस का आलोचनाग्रन्थ—On the sublime—पाश्चात्य जगत् के आलोचनाग्रन्थों में नितान्त महनीय तथा महत्त्वपूर्ण है। लाञ्जिनस की दृष्टि में काव्य का सार चमत्कृतिसाधक पदार्थ होता है—**भव्यता** sublimity भव्यता ही कविता का सर्वस्व है। भव्यता से हीन कविता नीरस और फीकी होती है। वह सहृदयों के हृदय को चमत्कृत करने की क्षमता से सर्वथा हीन होती है। भव्यता से भूषित कविता हमारे मस्तिष्क को ही अनुकूल नहीं बनाती, बल्कि वह हृदय को आनन्दसागर की लहरिका से उद्वेलित बना डालती है। कविता हमारे हृदय को उछालकर निम्नदेश से कहीं ऊपर उठा देती है—कविता के इस महनीय गुण का वर्णन लाञ्जिनस ने ही सर्वप्रथम किया है। परन्तु यह **भव्यता** कब होती है? जो वस्तु साधारण से विलक्षण होती है - अलौकिक होती है वह श्रोताओं के मस्तिष्क को ही अनुकूल तथा ऋजु नहीं बनाती, प्रत्युत उनको आह्लादित कर आनन्दमग्न बना देती है[1]। लाञ्जिनस की यह उक्ति बड़ी मार्मिक तथा महत्त्वशाली है।

लाञ्जिनस के मत में वही काव्य वास्तव में महत्त्वशाली होता है जो किसी वस्तु के विषय मे नवीन विचार करने के लिए सामग्री प्रस्तुत करे, जिसके प्रभाव को रोकना नितान्त असम्भव हो जाय; जिसकी स्मृति प्रबल हो तथा अमिटरूप से अंकित हो। इसे आप निश्चित समझिये कि **भव्यता** का यही सच्चा सुन्दर प्रभाव होता है कि वह **सदा** प्रसन्न करती है और सबको प्रसन्न करती है[2]। 'सदा प्रसन्न करना और सबको प्रसन्न करना' —एक प्रकार से रस की ही ओर संकेत है।

---

1 For what is out of the common leads an audience, not to pursuasion, but to ecstasy (or transport).

—Longinus.

2 That is really great, which gives much food for fresh reflection, which is hard, nay impossible to resist, of which the memory is strong and indelible. You may take it that those are beautiful and genuine effects of sublimity *which please always* and *which please all.*

—Longinus.

लांगिनस ने इस भव्यता के पाँच स्रोत-या मूल कारण बतलाये हैं—

स्वाभाविक—(१) उदात्त विचारों का ग्रहण;

(२) उन्नत भावों की अभिव्यक्ति।

कृत्रिम (३) अलकार (शब्द का या अर्थ का)

(४) रीति

(५) निर्माण

इन्ही पाँचों साधन' पर दृष्टि रखने से वक्ता या कवि की रचना भव्यता से भूषित बनकर चमत्कार उत्पन्न करती है। लांगिनस ने भव्यता के लक्षण में लोक को अतिक्रमण करने की (out-of the common) जो बात लिखी है वह वक्रोक्ति की ओर भी सकेत है। अलौकिकत्व की कल्पना काव्य में सर्वत्र विराजती है—अर्थ में, अर्थप्रकटन की शैली मे, शब्द में, अलंकार मे। शाब्दिक अलौकिकता वक्रोक्ति का ही नामान्तर है। अलौकिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए लोकव्यवहृत शब्दो से काम नही चलता। इसीलिए लोकव्यवहार से भिन्नता रखनेवाले शब्दों का प्रयोग प्रत्येक भाषा का महाकवि अपने काव्य मे करता है। इस प्रकार लागिनस की **भव्यता** की भावना के साथ वक्रोक्ति का नितान्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अरस्तू ने वक्रोक्ति की कल्पना ग्रीस के महाकवि होमर के काव्यों के अनुशीलन से उद्भावित की है। पाश्चात्यमत मे महाकाव्य—एपिक—दो प्रकार के होते है—(१) **विकसित महाकाव्य** (Epic of growth) और (२) **कलापूर्ण महाकाव्य** (Epic of Art). विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियो मे अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर वृद्धिगत वर्तमान रूप मे आया है। यह प्राचीन गाथाओं के आधार पर निर्मित महाकाव्य होता है। होमर के 'इलियड' और 'ऑडिसी' नामक युगल महाकाव्य इस श्रेणी मे आते हैं। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की अलौकिक प्रतिभा का फल है, परन्तु कालगणना के अनुसार वे होमर से भी प्राचीन हैं। गाथाचक्रो के रूप में वे प्राचीनकाल से बन्दीजनो के द्वारा गाये जाते थे। **'कलापूर्ण महाकाव्य'** वह है जिसे एक ही कवि अपनी प्रतिभा से गढ़कर तैयार करता है। इसमें प्रथम श्रेणी के महाकाव्यों के

समग्र गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु यह रहता है एक ही कवि की प्रौढ प्रतिभा का विलास। जैसे लैटिनभाषा में वर्जिल (Virgil) कवि के द्वारा रचित 'इनीड' महाकाव्य तथा अंग्रेजी में मिल्टनरचित काव्य 'पैरेडाइस लास्ट' (Paradise Lost) और 'पैरेडाइस रीगेण्ड' (Paradise Regained)। प्रथम श्रेणी के महाकाव्यों में वक्रोक्ति का सर्वथा अस्तित्व था। द्वितीय प्रकार के काव्यो के रचयिता ने अपने काव्यों को परिष्कृत तथा पुष्ट करने के लिए इसी वक्रोक्ति का विधान अपनी रचनाओं में किया है। होमर के महाकाव्यों में सौन्दर्यसाधन की अन्य सामग्री भी विद्यमान है। इनका भी पर्याप्त उपयोग इन महाकाव्यों में किया गया है। उदात्त नाटककारों की रचनाओ की भी यही दशा है—वक्रोक्ति से सम्पन्नता इनका प्रधान लक्षण है।

डा० जानसन

अंग्रेजी साहित्य मे १८ वीं शताब्दी के आलोचको ने अरस्तू के द्वारा व्याख्यात वक्रोक्ति के तत्व का उन्मीलन इङ्गलैण्ड के महाकवियों के काव्यों में बडी सुन्दरता के साथ किया है। डा० जानसन (Dr. Johnson १७०६-१७८४) इस युग के अग्रगण्य आलोचक थे। इन्होंने 'अंग्रेजी के कवियों की जीवनी' नामक ग्रन्थ में इस प्रसङ्ग पर प्रकरणवश बहुत कुछ लिखा है। वे कहते हैं कि " भाषा अर्थ का, विचार का परिधान है। यदि उदात्त कार्य के करने के अवसर पर ऐसा वस्त्र धारण किया जाय, जो ग्रामीण जन अपने साधारण गवई के कामों के अवसर पर पहना करते हैं तो क्या यह समुचित होगा? इसी प्रकार अत्यन्त शौर्यसम्पन्न भाव अपने प्रभाव को खो बैठता है और नितान्त उदात्त विचार अपने सौन्दर्य से विरहित हो जाता है यदि उसके प्रकाशन के निमित्त साधारण शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जो शब्द क्षुद्र तथा साधारण अवसरों पर प्रयुक्त होते हैं, और ग्रामीण लोगों के द्वारा प्रयुक्त होने से जो महत्त्वहीन तथा नीच बन गये हैं उनका प्रयोग उदात्त अवसरों पर अथवा उदात्त भावों की अभिव्यञ्जना के

लिए कभी नही करना चाहिए[1] "। इस समीक्षा से स्पष्ट है कि जानसन साधारण जनों के द्वारा प्रयुक्त होनेवाले शब्दो मे एक प्रकार की हीनता, अनौचित्य या क्षुद्रता का भाव स्वीकार करते हैं। इसीलिए उनका लोकसामान्य से पृथक् कथन के ऊपर इतना आग्रह है। डा० जानसन की वक्रोक्ति के काव्य में विधान पर इसीलिए समधिक श्रद्धा है।

एडिसन

एडिसन (Addison १६७२—१७१६ ई०) ने मिल्टन के पैरेडाइस लास्ट नामक महनीय काव्य के ऊपर विस्तृत तथा प्रामाणिक समीक्षा की है। इसमें महाकाव्य की भाषा तथा भाव, कथा तथा कल्पना का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन उपलब्ध होता है। एडिसन ने भी महाकाव्य की भाषा को प्रसादमयी तथा भव्यतासम्पन्न होने पर आग्रह दिखलाया है। लोकव्यवहार में आनेवाले शब्दों का प्रयोग काव्य में अभीष्ट नही होता। इसका सुन्दर कारण हम इस आलोचना में पाते हैं। इनका कहना है कि "जो शब्द रोजमर्रे के व्यवहार में, बातचीत मे, अकसर आते हैं वे हमारे कानों के लिए अत्यन्त परिचित होते हैं और साधारण पामर जनो के मुँह में रहने के कारण इनमे एक प्रकार की क्षुद्रता उत्पन्न होती है। इसलिए कवि को

---

1. Language is the dress of thought, and as the noblest mein or most graceful action would be degraded and obscured by a garb appropriated to the gross employments of rustics or mechanics, so the most heroic sentiments will lose their efficacy, and the most splendid ideas drop their magnificience, if they are conveyed by words used commonly upon low and trivial occasions, de *based by vulgar mouths*, and contaminated by inalegant applications.

—Johnson: Lives of the English Poets (Cowley)

ऐसे पामरोचित शब्दप्रयोग से सदा सचेत रहना चाहिए[1]"। इस प्रकार की शब्दावली कवियों के काव्य में प्रयुक्त न होनी चाहिए। एडिसन की समीक्षा का मर्म यह है कि साधारण बोलचाल के शब्द हमारे लिए बिल्कुल परिचित होते हैं और इसीलिए वे अनुदात्त तथा अशोभन होते हैं। 'अति-परिचयादवज्ञा' वाली कहावत शब्दों के विषय में भी उतनी ही सत्य होती है जितनी वह व्यक्तियों तथा अन्य पदार्थों के विषय मे होती है। अतः ऐसे साधारण कथन का प्रयोग काव्य में अभीष्ट नही होता। इसलिए वे वक्रोक्ति के प्रयोग के पक्षपाती हैं। वक्रोक्ति के प्रकारों का अन्त नहीं है।

(२) महाकाव्य की भाषा को प्रसन्न होने के अतिरिक्त भव्य भी होना चाहिए और इसके लिए आवश्यक होता है बोलचाल के साधारण शब्दों से उनका पार्थक्य, विचित्र भावभङ्गी का सम्पादन। परन्तु इस विषय में कवि को सदा जागरूक रहना चाहिए। ऐसा न हो कि लोकव्यवहार से हटकर चलने मे कहीं वह अस्वाभाविक पद-प्रयोग के गड्ढे मे गिर न जाय। और उसके शब्द प्रसन्न होने की अपेक्षा कर्कश तथा दुर्बोध न हो जाँय। भव्यता के दो प्रकार होते हैं—सच्ची भव्यता और झूठी भव्यता।

---

1 Since it often happens that the most obvious phrases, and those that *are used in ordinary conversation*, become too familiar to the ear, and contract a kind of meanness by passing through the mouths of the vulgar, a poet should take particular care to guard himself against *idiomatic ways of speaking.*

—Addison.

2 It is therefore not sufficient that the language of an epic be perspicuous, unless it be also *sublime.* To this end it ought to *deviate from the common forms and ordinary phrases of speech.* The judgment of a poet very much discovers itself *in shunning the common roads of expression* without falling into such ways of speech as may seem stiff and unnatural, he must not swell into a false sublime by endeavouring to avoid the other extreme.

—Addison (On Milton)

कभी कभी कविजन भव्यता लाने के लिए ऐसी बातें कह डालते हैं, ऐसे पदों का विन्यास कर डालते हैं कि जो अस्वाभाविक, नीरस तथा फीकी होती हैं। यह झूठी भव्यता है जिससे कवि को सर्वदा सावधान रहना चाहिए। काव्य का पारखी विशुद्ध भव्यता के विधान पर आग्रह रखता है। अतः उसीका सम्पादन काव्य में अभीष्ट होता है और इसके लिए वक्रोक्ति का विधान ही एकमात्र साधन है। हर्ड (R. Hurd) ने भी इसका समर्थन किया है[१]।

उस प्रकार एडिसन ने प्रामाणिकरूप से दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अरस्तू ने महाकाव्य में उदात्तता तथा भव्यतासम्पादन के जिन साधनों का वर्णन अपने आलोचनाग्रन्थों में किया वे सब मिल्टन के विख्यात महाकाव्य में विद्यमान हैं। वक्रोक्ति का विधान ऐसे साधनो में अन्यतम है। इस तरह पाश्चात्य-जगत् के आलोचकों की दृष्टि मे वक्रोक्ति काव्य में नितान्त आवश्यक होती है। ऐसी दशा १८ वीं शताब्दी के अन्तिम कालतक विद्यमान रही, परन्तु १६ वी शताब्दी के आरम्भ में जब उल्लासवाद (रोमाण्टिसिजम Romanticism) का जन्म हुआ तब वक्रोक्ति के विषय में कवियों की भावना एकदम बदल गई।

---

1 We may expect them, in the language or style of poetry, a choice of such words as are most sonorous and expressive and such an arrangement of them as throws the discourse out of the ordinary and common phrase of conversation...A construction of words which is not vulgar, is therefore more suited to the ends of poetry than one which we are *every day accustomed to in familiar discourse.*

—Hurd : Idea of Universal Poetry.

वर्ड्सवर्थ

उल्लासवाद के जन्मदाताओं में महाकवि वर्ड्सवर्थ Wordsworth (१७७०-१८५० ई०) का स्थान प्रमुख है। उनके (Lyrical Ballads नामक) कवितासंग्रह के प्रकाशन से अंग्रेजी कविता के इतिहास में नवीन युग का आरम्भ होता है। उन्होंने इस संग्रह की विस्तृत भूमिका में कविता के स्वरूप, विषय तथा भाषा के विषय में मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत की है। काव्यभाषा की परीक्षा कर जो सिद्धान्त उद्भावित किये गये उन्होंने वक्रोक्ति की भावना को अस्तङ्गत कर दिया। वर्ड्सवर्थ का कहना है—

कविता का विषय होना चाहिए प्रकृति का यथार्थ निरूपण तथा प्रकृति के साथ सामञ्जस्य रखनेवाले ग्रामीणजनों के जीवन का चित्रण। अबतक कविजनों ने अपनी कोमल कला का भाजन विशाल नगर की अट्टालिकाओं में रहनेवाले धनी-मानी व्यक्तियों के जीवन को बनाया था, परन्तु इस व्यापार में स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता का ही राज्य विराजता है। नगर का जीवन ठहरा कृत्रिम। अतः वहाँ के निवासी धनियों के चरितचित्रण करने में कवि प्रकृति की लीला से बहुत दूर हट जाता है। प्रकृति के शोभन तथा स्थायीभावो का चित्रण कवि को अभीष्ट होता है और इस आवश्यकता की पूर्ति तभी हो सकती है जब कवि शहर से मुड़कर गाँव की ओर चले, कृत्रिम जीवन को छोड़कर स्वाभाविक जीवन—स्वतन्त्र वायुमण्डल में रहनेवाले व्यक्तियों की ओर झुके। तभी उसे प्रकृति से पूर्ण सामञ्जस्य प्राप्त हो सकता है।

कविता की इस विषयसमीक्षा के अनुकूल होनी चाहिये उसकी भाषा। विषय के अनुरूप ही काव्यभाषा का विधान न्याय्य होता है[१]। कविता की

---

1 The language of these men of humble and rustic life has been adopted because such men hourly communicate with the best objects from which the best part of the language is originally derived...such a language, arising out of repeated experience and regular

भाषा, प्रयोग, रीतिविन्यास साधारण जनों की बोलचाल के पास होना चाहिए। भाषा के विधान में स्वाभाविकता का पुट अवश्य होना चाहिए। कविजन अपनी नीरस कविता को सजाने तथा शोभन बनाने के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग करते आये हैं जिनमें कृत्रिमता, स्वच्छन्दता तथा मनमानी कल्पना के लिए स्थान रहता है। वे लोकव्यवहार से पृथक् (अर्थात् वक्रोक्ति) शब्दप्रयोग को ही काव्य में कलात्मक मानते आये हैं; परन्तु यह नितान्त अनुचित है। कवि का लक्ष्य साधारण पाठकों के हृदय का स्पर्श करना—उनके मर्म को रसस्निग्ध तथा सरस बनाना होता है। और इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब जनसाधारण के परिचित भाव उन्हीकी बोधगम्य साधारण भाषा में निबद्ध किये जॉय। इसलिए उल्लासवादी कवियों ने पूर्व कवियो के ढंग—वक्रोक्तिविधान—का सर्वथा तिरस्कार कर काव्यभाषा के लिए एक नवीन पद्धति का आविष्कार किया।

उल्लासवादी कवियों ने काव्य में वक्रोक्तिविधान की बड़ी दिल्लगी उड़ाई है। वे कहते हैं कि ऐसा विधान केवल क्षणिक आस्वाद के प्रेमी तथा क्षणिक क्षुधा के अभ्यासी पाठकों को ही तृप्ति कर सकता है। इससे सच्चे आह्लाद के रसिक पाठकों का कल्याण तथा मनोरञ्जन कभी नहीं हो सकता। इसीलिए वर्ड्सवर्थ का स्पष्ट कहना है कि मैंने साधारण जीवन से अपनी कविता के विषयो को चुना है और भाषा भी मनुष्यों की सच्ची भाषा का समीप-

---

feelings is a more permanent, and a far more philosophical language, than that which is frequently substituted for it by poets, who think that they are conferring honour upon themselves and their art, in proportion as they separate themselves from the sympathies of men and indulge in arbitrary and capricious habits of expression, in order to furnish food for fickle tastes and fickle appetites, of their own creation.

—Wordsworth: Lyrical Ballads.

वर्ती बनाया है[1]। उल्लासवादी आलोचकों ने १९वी शताब्दी में इस प्रकार वक्रोक्ति की भावना के ऊपर विशाल तथा भयानक आक्रमण करना शुरू किया। फल यही हुआ जो प्रायः किसी मौलिक तत्त्व के उच्छेदन के अवसर पर हुआ करता है। कुछ काल के लिए वक्रोक्ति का आदर कविजनों के हाथों अवश्य कम हो गया। गत शताब्दी की आलोचना इतनी विरुद्ध थी कि वक्रोक्ति का उसने सर्वनाश ही कर डाला। परन्तु वक्रोक्ति की भावना बालू की भीतपर खड़ी होनेवाली भावना नही है। फलतः इस नवीन युग मे वक्रोक्ति द्विगुणित उत्साह तथा स्फूर्ति से फिर आलोचनाक्षेत्र मे आ गई है। अब इसका नाम है—अभिव्यञ्जनावाद (एक्सप्रेसनिजम Expressionism)। इस नवीन वाद के सिद्धान्त तथा स्वरूप को समझना अब आवश्यक है।

(११)

वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावाद

वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावाद में परस्पर कितना साम्य अथवा वैषम्य है? इस समस्या का सुलझाना नितान्त आवश्यक है। हिन्दी के एक मान्य आधुनिक आलोचक ने चलते ढग पर जब से कह दिया कि अभिव्यञ्जनावाद वक्रोक्तिवाद का ही पश्चिमी सस्करण है, तब से यह धारणा साहित्यसमाज में बद्धमूल सी हो गई है कि दोनों एक ही तत्त्व के भिन्न भिन्न अभिधान हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। दोनों में यदि साम्य है तो बहुत थोड़ा। हमने सप्रमाण दिखलाया है कि वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक काव्य में कविव्यापार को प्राधान्य देते हैं और अभिव्यञ्जनावादी बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) भी अभिव्यञ्जना व्यापार को ही काव्य में मुख्य मानते हैं। परन्तु फिर भी ये दोनों वस्तुएँ एक नही हैं। कुन्तक भारतीय आलोचनाशास्त्र के उन्नायक आचार्यों में अन्यतम हैं। अतः उनकी वक्रोक्ति भारतीय आलोचना के विस्तृत क्षेत्र के भीतर ही अपनी स्थिति धारण करती है। काव्य में चम-

---

1 This is why I have chosen subjects from common life and endeavoured to bring my *language near to the real language of men.*

—वहीं।

त्कारवादी होने पर भी उनका चमत्कारवाद बालरुचिवाले कवियों और पाठकों को रुचिकर होनेवाला चमत्कारवाद नहीं है। वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानने पर भी कुन्तक रस और ध्वनि के प्रसिद्ध सिद्धान्तों से पराङ्मुख नहीं हैं। वे काव्य में रस के महत्त्व से पूर्ण परिचित हैं—वे मानते हैं कि रस के उन्मीलन के द्वारा काव्य श्रोताओं के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करता है। परन्तु वे इस रस को वक्रता के अनेक प्रकारों के भीतर आनेवाले महनीय काव्यतत्त्व मानते हैं। कुन्तक **अभिधावादी** आचार्य हैं, परन्तु उनकी अभिधा संकीर्णरूपा शक्ति नहीं है, प्रत्युत अभिधा के भीतर वे द्योतना और व्यञ्जना का स्पष्टरूप से अन्तर्भाव मानते हैं। उनका वाच्य अर्थ केवल संकीर्ण अभिधा के द्वारा अभिधीयमान अर्थ नहीं है, प्रत्युत यह द्योत्य और व्यङ्ग्य अर्थ का भी प्रतिनिधित्व करता है। कुन्तक तो रस के इतने भारी भक्त हैं कि अलङ्कार के आद्य आचार्य भामह के भी मत का तिरस्कार कर वे रससम्पन्न अलङ्कार—रसवद् अलङ्कार—को काव्य का भूषणसाधक अलङ्कार न मानकर वे उसे काव्य का साक्षात् रूपाधायक मानते हैं। अर्थात् वक्रोक्तिकार के मत से रसवद् अलंकार अलंकार न होकर वस्तुतः अलंकार्य है। निष्कर्ष यह है कि कुन्तक भारतीय आलोचनाशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों-रस, ध्वनि, गुण, रीति, अलंकार आदि—को काव्य में आवश्यक मानते हैं। प्राचीनों से उनकी विशेषता यही है कि वे इन समस्त तत्त्वों को वक्रोक्ति के व्यापक तत्त्व के भीतर मानते हैं। बस, उनसे तथा अन्य आलंकारिकों से मतभेद है तो यही है। यह होना स्वाभाविक ही है। जैसा इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में हमने दिखलाया है वक्रोक्ति रस-ध्वनि-अनुमिति के बृहत् त्रिकोण के भीतर एक लघुवृत्त है जो इन तीनों भुजाओं को स्पर्श करता हुआ निष्पन्न हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि वक्रोक्ति बृहत्त्रिकोण तथा लघुत्रिकोण का सामञ्जस्यमूलक काव्यतत्त्व है। उक्तिवैचित्र्य पर कुन्तक का आग्रह अवश्य है, परन्तु फिर भी अपनी आलोचना के भीतर ही वक्रोक्ति एक सम्प्रदाय है—कुन्तक भारतीय हैं और उनका सम्प्रदाय भी भारतीयता से स्निग्ध है। क्या इसे प्रमाणों से पुष्ट करने की अब अधिक आवश्यकता है?

अब **अभिव्यञ्जनावाद** के समीक्षण की ओर आइये और देखिये कि

इसमें कितनी अभारतीयता भरी पड़ी है। अभिव्यञ्जनावाद यूरोपीय आलोचना-शास्त्र का एक सामान्य सम्प्रदाय है जिसकी ओर उस देश के आलोचकों की भी श्रद्धामयी दृष्टि नहीं है। कतिपय नवीन आलोचक उसे समधिक महत्त्व अवश्य प्रदान करते हैं, परन्तु वहीं के मान्य आलोचकों की दृष्टि में यह काव्य में अथवा ललित कला में कथमपि उपादेय तत्त्व नहीं माना जाता। अभिव्यञ्जनावाद यूरोपीय आलोचनापद्धति का एक प्ररोहमात्र है। वह वहाँ की ही भावनाओ से ओतप्रोत है। भारतीय आलोचना की दृष्टि से समीक्षा करने पर अनेक दोषों की सत्ता उसे नितान्त अनुपादेय, एकदेशी तथा कृत्रिम बता रही है। भारतीय आलोचकों ने काव्य के जिस आनन्दमय रूप की परीक्षा की तथा उसकी वैज्ञानिक व्याख्या की वह इसमें देखने को नहीं मिलती। तात्पर्य यह है कि अभिव्यञ्जनावाद में काव्य तथा कला के लिये न तो किसी नैतिक आधार का प्रयोजन मान्य है और न हृदय के भावों का समर्थरूप से रमणीय अनुसन्धान है। वह कोरा चमत्कारवाद ही सिद्ध होता है। वह पूर्णरूपेण अभारतीय है—भारतीय सिद्धान्तों के न मानने से नितान्त उपेक्षणीय तथा एकदेशीय है। अतः वक्रोक्तिवाद के साथ उसकी समता बतलाना एकदम अनुचित है। अभिव्यञ्जनावाद के ठीक रूप को समझने के लिए उसके व्याख्याता क्रोचे के कतिपय मान्यता तथा धारणा से परिचित होना बहुत आवश्यक है। कुन्तक तथा क्रोचे मे यह अन्तर अवश्य है कि क्रोचे प्रथमतः दार्शनिक हैं और अनन्तर आलोचक, परन्तु कुन्तक सर्वथा आलोचक ही आलोचक हैं। उनका दार्शनिक आधार वही है जो समग्र भारतीय रसशास्त्र का है। अतः उन्हे अपने दार्शनिक आधार की चिन्ता नहीं है। इसके विपरीत क्रोचे ने अपने कलासिद्धान्त के लिए दार्शनिक आधार बड़ी छानबीन के साथ खड़ा किया है। अब इसे समझना जरूरी है।

क्रोचे

अभिव्यञ्जनावाद के पुरस्कर्ता का नाम है बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce)। उनका जन्म इटली के विख्यात नगर नेपुल्स में सन् १८६६ ई० में हुआ था और मृत्यु हाल ही में महायुद्ध के समय कभी हुई है। ये आज के पाश्चात्य दार्शनिकों मे अपनी मौलिक कल्पना और उच्च तत्त्वविचार के कारण विशेषरूप से विख्यात हैं। इटली देश के तो वे सर्वश्रेष्ठ तत्त्वविचारक हैं ही जिनकी ख्याति तथा विचारधारा स्वदेश के चहारदिवारी को पार कर पश्चिमी जगत् के अन्य देशों में भी समभावेन आदृत हो रही है। उनका जन्म एक उच्च मान्य घराने में हुआ था। उन्होंने विश्वविद्यालय के भीतर शिक्षक का पद कभी स्वीकार नही किया। अतः उनके तत्त्वज्ञान के सर्वतोमुखी विकास में किसी प्रकार का बाहरी दबाव या प्रभाव नही पड़ा। उन्होंने अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित किया। मुसोलिनी के समय में वे राज्य के शिक्षामन्त्री भी थे, परन्तु स्वतन्त्रता के प्रेमी के लिए परतन्त्रता की वेड़ी में जकडना मान्य नही था। फलतः वे राजकार्य से अलग हो गये और अपने विचारों को विकसित तथा पल्लवित करने में भी अपने जीवन का सदुपयोग किया। इनके विचारो की पश्चिमी जगत् मे धाक सी जमी हुई है। वे अपने दर्शन को 'मन का दर्शन' (Philosophy of spirit or mind) के नाम से पुकारते हैं। इस दर्शन के चार भाग हैं अथवा इस दर्शन की व्याख्या में इन्होंने चार प्रमुख ग्रन्थ लिखे हैं—(१) सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetic as science of Expression and General Linguistic) (२) तर्कशास्त्र, (Logic as the science of Pure Concept); (३) व्यवहार दर्शन (Philosophy of Practice-Economics and Ethics), (४) इतिहास का सिद्धान्त (The Theory and History of History)। इसके अतिरिक्त इनके लेखों का संग्रह भी काफ़ी बड़ा और उपादेय है। प्रमुख ग्रन्थो का अंग्रेजी भाषा मे अनुवाद डगलस ऐन्स्ली (Douglas Ainslie) ने किया है और बड़े प्रामाणिक रूप से किया है।

मानस व्यापार

क्रोचे मुख्यतया दार्शनिक हैं और आलोचनाशास्त्र उनके दर्शन का एक अशमात्र है और प्रथम अंश है। फलतः वे गौणरूपेण आलोचक हैं। उनकी दृष्टि में इस जगत् में जितनी सत्तायें विद्यमान हैं अथवा वे साँचा जिन्हे सत्यता अपनी अभिव्यक्ति के निमित्त ग्रहण किया करती है मन में ही विद्यमान रहते हैं। यह मानसरूप सत्यता या सत्तारूपी मन एक व्यापार रूप ही है जिसके भिन्न भिन्न रूप तो होते हैं परन्तु उन्हे हम अलग अलग नहीं कर सकते[1]। क्रोचे के लिए सत्ता मानसव्यापाररूप है। इसे हम एक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं। सन्ध्याकाल में पश्चिमी गगन में लालिमा छाई हुई है। चरागाहो से लौटनेवाले गोप-बालको का दृश्य अतीव सुहावना प्रतीत हो रहा है। आकाश मे काले काले बादल रक्तरंजित आभा से व्याप्त हो रहे हैं। सान्ध्य नीड मे जानेवाले पक्षियो का कलरव कान को अतीव सुखद जान पड़ता है। वे इधर से उधर उडते हैं; लाल पिण्ड के समान एक दिशा से दूसरी दिशा मे गिरते हैं। इस सुहावने दृश्य की व्याख्या यदि की जाय, तो यह समग्र दृश्य मन के व्यापाररूप मे ही परिस्फुरित होता है। मन ही अपने विविध व्यापारों के बल पर वह वस्तु निर्मित करता है जिसे हम 'सत्ता' के नाम से पुकारते हैं।

हमारे नैयायिकों ने इस मानसव्यापार को तीन भागो में बाँटा है जानाति, इच्छति, यतते—ज्ञान, इच्छा और यत्न। पहिले मनुष्य किसी वस्तु को जानता है अनन्तर उसे पाने की इच्छा करता है और तब उसकी

---

1 Every form which reality assumes or can assume for us has its ground within mind. There is not and there cannot be a reality that is not mind. This mind which is reality or this reality which is mind is an *activity* the forms of which we may distinguish but we cannot separate them.

—Wildon Carr The Philosophy of Benedetto Croce.

प्राप्ति के लिए यत्न करता है। क्रोचे ने अन्तिम दोनों व्यापारों को एकत्र सम्मिलित कर मन के दो व्यापार माने हैं (१) ज्ञान या प्रज्ञा तथा (२) क्रिया या संकल्प। पहला व्यपार मन का सैद्धान्तिक व्यापार है और दूसरा उसका व्यावहारिक व्यापार है अर्थात् ज्ञान प्राथमिक व्यापार है और इसीके आधार पर क्रिया अवलम्बित रहती है। प्रज्ञा मनका सैद्धान्तिक व्यापार है और संकल्प उसका व्यावहारिक व्यापार है। इन दोनों के भी दो अवान्तर भेद हैं। ज्ञान के दो प्रकार होते हैं—

(१) कलासम्बन्धी ज्ञान या स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intiution), कल्पना में उद्भूत ज्ञान, व्यक्ति का संकेतग्रह अर्थात् किसी एक विशिष्ट वस्तु का ज्ञान।

(२) तर्क सम्बन्धी ज्ञान या प्रमा (Concept) निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान, भिन्न भिन्न व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान; जाति का संकेतग्रह।

ज्ञान के इन प्रकारो के उपर दो शास्त्र अवलम्बित रहते हैं। स्वयं-प्रकाश ज्ञान के उपर आश्रित रहता है—सौदर्यशास्त्र या कला और प्रमा पर अवलम्बित रहता है—तर्कशास्त्र। इन दोनों में भी स्वयंप्रकाश ज्ञान सबसे सीधा तथा सबसे पहिला मानस व्यापार है जिसमें बिना विचार किये हुए ही, बुद्धि का विशेष उपयोग के बिना भी, ज्ञान उत्पन्न दोता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्रोचे के मत में सौन्दर्यशास्त्र तर्क पर अवलम्बित नही रहता परन्तु तर्क-शास्त्र सौन्दर्यशास्त्र पर अवश्यमेव आश्रित रहता है।

इसी प्रकार संकल्पात्मक व्यापार के भी दो भेद हैं—(१) योग-क्षेम की भावना से क्रिया (economic activity) तथा (२) मगल या कल्याण की भावना से क्रिया, आचार शास्त्रानुमत क्रिया (ethic activity)। इस तरह मानसव्यापाररूपिणी सत्ता के चार स्तर (ग्रेड) हैं जिनके द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करती है—(१) सुन्दरं, (२) सत्यं, (३) प्रेयः, (४) श्रेयः। क्रोचे के अनुसार वास्तव सत्ता के ये ही चार स्तर या श्रेणियाँ हैं—Beauty सौन्दर्य, Truth सत्य, Usefulness प्रेयः, Goodness शिवं या श्रेयः। तालिकारूप से इनका विवरण यों होगा।
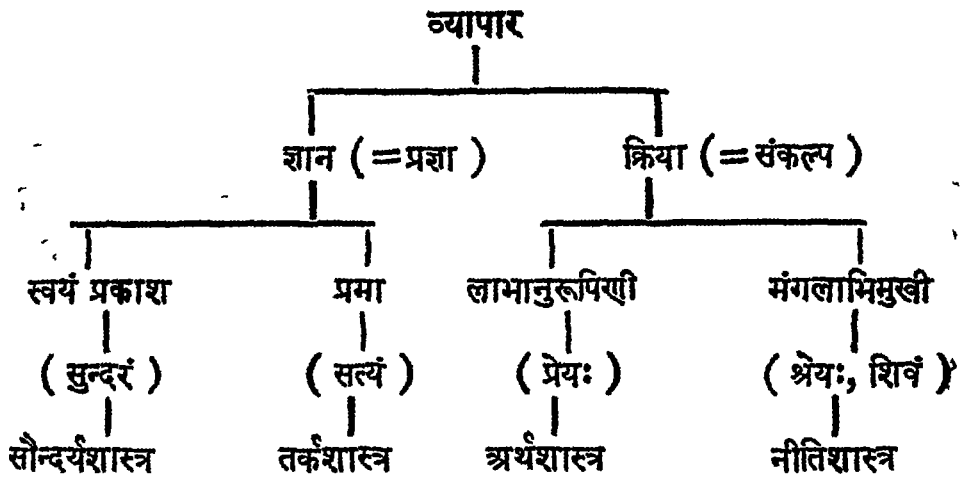
क्रोचे के विचार से ज्ञान मन का प्रथम तथा मुख्य व्यापार है तथा उसी-के आश्रय पर रहकर क्रिया अपना स्वरूप विस्तार करती है। मन की जीवनी शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है क्रिया मे। और इस विशाल विश्व में इतिहास ही क्रिया की संगति लगाता है तथा उसकी याथातथ्येन पूर्णरूप से व्याख्या करता है। अतः इनकी दृष्टि में इतिहास का समस्त विद्याओं में नितान्त महनीय तथा उदात्त स्थान है। ससार की घटनाओं का मूल्य निर्धारण करना, उनकी सत्यता तथा असत्यता का निश्चय करना तथा उनके प्रभाव को यथार्थ रूप से समझना यही है इतिहास का काम। क्रोचे के मत में ऐतिहासिक निर्णयपर पहुंचना ही दर्शन का काम है। दर्शन ऐसी वस्तु नहीं है जो इस भूतल से सम्बन्ध विच्छेद कर कल्पना के लोक में विचरण करती है, प्रत्युत वह ठोस जगत् की घटनाओ का मूल्यांकन करनेवाला महनीय शास्त्र है[१]।

---

1 The life of mind is revealed in action and the interpretation of action is history ..History is a judgment on events and the historical judgment and philosophical judgment are identical. Philosophy is methodology—the science of the formation of the historical judgment.

—Wildon carr वही पृ० ११४

स्वयंप्रकाश ज्ञान

स्वयप्रकाश ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान—प्रतिभाजन्य ज्ञान का स्वरूप जानना नितान्त आवश्यक है। यही प्रातिभ ज्ञान कला की निर्मिति का मुख्य कारण या आधार है। हमारे मन का आदिम व्यापार है—यही प्रतिभान (इनट्यूइशन Intuition) अर्थात् व्यक्ति के विषय मे हमारा स्वतः समुद्भूत ज्ञान। सायकाल में आकाशचारी रगभरे बादलो पर दृष्टिपात करते ही हमारा मन नाना प्रकार की मूर्तियाँ गढ़ने लगता है। किसी काले मेघ को देखकर प्रतीत होता है मानो भारी बोझ से लदा हुआ ऊँट धीरे धीरे अपना रास्ता तय कर रहा है या सूँढ़ ऊपर उठाये हुए कोई बड़ा डीलडौल वाला हाथी मन्द-मन्द गति से आगे बढ़ रहा है। यही है मूर्ति-विधान (Image-forming) और यही है हमारे मन का प्रथम, आदिम व्यापार। प्रतिभान विशुद्ध तब होता है, जब हमे उस वस्तु के विषय में न तो साँच-झूठ का ज्ञान होता है, न वास्तव काल्पनिक का, न जाग्रत् या स्वप्न का। बस, हमारा मन मूर्तिमात्र गढ़ कर तैयार कर लेता है; उसके रूप की छानबीन में प्रवृत्त नही होता कि वह वस्तु कैसी है? सच्ची है या झूठी? वास्तव है या काल्पनिक? इस जगत् की ठोस वस्तु है या स्वप्नलोक से सम्बद्ध है? विशुद्ध प्रतिभान की यही सच्ची पहिचान है।

स्वयप्रकाश ज्ञान का अभिप्राय है मन मे आप से आप उठी हुई मूर्ति-भावना; बुद्धि की बिना क्रिया हुए ही जो मूर्तिविधान हम करते हैं वही 'स्वयंप्रकाश' ज्ञान कहलाता है। यह कल्पना आत्मा की अपनी निजी क्रिया है जो दृश्य जगत् के नानारूपो तथा व्यापारों को ग्रहण कर अपना कार्य किया करती है। यह कल्पना ही मानव मस्तिष्क का सौन्दर्यबोधात्मक व्यापार (Aesthetic activity) है जिसके अनुसार मनुष्य जगत् मे सौन्दर्य का बोध करता है। क्रोचे के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से ही कलाकार तथा दार्शनिक होता है। सर्वप्रथम वह कवि या कलाकार होता है। तदनन्तर वह कवि होने के कारण ही दार्शनिक होता है। मनुष्य जगत् को समझता है और उसे बदलता है। जानता है और इसीलिए वह बदल सकता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के संकल्प का आश्रय उसका ज्ञान है।

यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) कल्पना Imagination जिसके द्वारा मूर्ति का विधान किया जाता है। (२) विचार Thought जिसके द्वारा वह इन मूर्तियों का जातिज्ञान के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। कल्पना-शक्ति सौन्दर्यबोधात्मक व्यापार है और इसीके कारण मनुष्य कलाकार बनता है। विचारशक्ति के द्वारा वह तत्त्ववेत्ता बनता है[1]। इसी सौन्दर्य-बोधात्मक व्यापार अथवा कल्पना से कला का जन्म होता है। कलाकार की दृष्टि की दो विशेषतायें क्रोचे की दृष्टि में स्पष्ट लक्षित होती हैं—

(क) कलाकार की दृष्टि स्वयंप्रकाश ज्ञान पर आश्रित रहती है—अर्थात् वस्तुओं को सीधे-सादे रूप मे ग्रहण करती है। वे जिस रूप में हैं उसी रूप में उनका ग्रहण कलाकार करता है। वह बुद्धि के द्वारा उनमें नमक-मिर्च मिलाकर उनका बौद्धिकरूप निर्माण नहीं करता।

(ख) कलाकार की दृष्टि गीतिकाव्य के समान उसके अन्तस्तल से उत्पन्न होती है और जिस वस्तु की अभिव्यक्ति करती है वह अन्तरंग होती है, बाह्य नहीं।

कल्पना

इन धारणाओं का तात्पर्य यह है कि कल्पना शक्ति की ही कलाकार के लिए नितान्त आवश्यकता होती है, क्योंकि इसीके द्वारा वह मूर्तियों का विधान करता है तथा इसीके सहारे वह वस्तुओं के सौन्दर्य का बोध करता है। क्रोचे कल्पना को स्वतन्त्रशक्ति मानने मे बड़ा आग्रह दिखलाते हैं। अपने रूप के विषय में तथा क्रिया के विषय में कल्पना विचारात्मक व्यापार से नितान्त स्वतन्त्र तथा पृथग्भूत व्यापार है। हम पहले कह आये हैं कि मन का पहला व्यापार होता है—मूर्तविधान (Image-forming) और पश्चाद्वर्ती व्यापार है—विचारात्मक व्यवसाय। इस व्यवसाय में

1 It is intuitive, it takes things in their simplicity, and just as they are The other that it is lyrical, it springs forth from within and gives expression to what is internal, not external.

अग्रसर होने वाला मन वस्तुस्वरूप की उत्कृष्ट जानकारी के लिए उसके रूप की अन्य रूपों से तुलना करता है और व्याख्या तथा समीक्षण आदि नाना प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहता है। क्रोचे के अनुसार तार्किक बुद्धि का उपयोग जिस प्रमा के उद्भव में साधन बनता है वह प्रथम मानस व्यापार न होकर अवान्तरवर्ती मानस व्यापार है। कल्पना के बल पर मूर्तविधान सम्पन्न होने पर ही तार्किक बुद्धि अपनी क्रीड़ा दिखलाती है। अतः क्रोचे की दृष्टि मे कल्पना विचारशक्ति से भिन्न स्वतन्त्र शक्ति है और कला की जननी होने के अतिरिक्त वह हमारे मन का प्रथम व्यापार है।

क्रोचे ने अपने 'सौन्दर्य शास्त्र' में कल्पना की व्यापक तथा प्रभावशालिनी सत्ता पर अत्यधिक जोर दिया है। 'कल्पना' है वह शक्ति जो मूर्तियों का आविष्कार करती है, उनका निर्माण करती है और उन्हे गढती है। सौन्दर्य का बोध करनेवाली शक्ति यदि कोई है तो वह 'कल्पना' ही है। सत्ता के चार पक्षों मे दो उदात्त पक्ष होते हैं---कलापक्ष तथा बोधपक्ष। इनमें कल्पना का सम्बन्ध सत्ता के कलापक्ष से है, बोधपक्ष से नहीं। वस्तु के सौन्दर्य का उन्मीलन कलाकार की कल्पना का ही कमनीय व्यापार है। क्रोचे के शब्दों में हम कह सकते हैं कि सत्य के कलापक्ष का परिचायक व्यापार ही मन का सौन्दर्यबोधात्मक व्यापार है—यह सत्य को हमारे सामने सद्यः एकाकार विशिष्ट वस्तु के रूप में स्फुरित करता है जो तार्किक बुद्धि के व्यापार से सर्वथा स्वतन्त्र तथा अनियन्त्रित रहता है[१]।

कला पर शासन करनेवाली वस्तु कल्पना ही है। इसकी सम्पत्ति है केवल मूर्तियों या प्रतीकों का पुञ्ज। कल्पना पदार्थों का न तो वर्गीकरण करती है कि कौन पदार्थ किस वर्ग या श्रेणी के अन्तर्भुक्त होता है और न उन्हे वास्तव या काल्पनिक घोषित करने के बखेड़े में खडी रहती है, यह न

---

1 The aesthetic activity—the activity which gives us the artistic aspect of reality, which presents reality to us as a single, immediate, individual, thing, free as yet from every logical or conceptual element—is a faculty of imagination

—Willdon Carr पृ० ५४

उन्हे गुणों के द्वारा विशिष्ट बनाती है और न उनका लक्षण ही प्रस्तुत करती है। यह उनकी अनुभूति करती है और उन्हे हमारे सामने मूर्तरूप में अभिव्यक्त करती है। कला वस्तुतः स्वयंप्रकाश ज्ञान है—यह वह स्वय-प्रकाश ज्ञान है जो सत्ता की वास्तव प्रतीति करता है और जिसके ऊपर अभी तक प्रमा या प्रतिबोध का व्यापार प्रभविष्णु नहीं होता। इसीलिए क्रोचे इस स्वयंप्रकाश ज्ञान को 'विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान' की संज्ञा देते हैं[१]।

इस विवेचन से क्रोचे की 'कल्पना' विषयक भावना का स्पष्टीकरण किञ्चित्मात्रा मे हो सकता है। प्रातिभ ज्ञान को प्रथम मानस व्यापार होने के कारण क्रोचे के मत में प्रत्येक मनुष्य कलाकार या कवि है चाहे इसका परिचय उसे हो या न हो। कला का महत्त्व इसीमें है कि वह हमारी जीवन लता का मूल है, वह न फूल है और न फल। अतः कौन ऐसा आलोचक होगा कि कला के इस मौलिकरूप से परिचित होकर उसकी महत्ता मानव समाज मे अगीकार न करे? लैटिन भाषा की ही कहावत है—poeta nascitur non fit कवि पैदा होते हैं, वे गढ़े नही जाते। क्रोचे इसे परिवर्तित कर कहते हैं—homo nascitur poeta 'मनुष्यो जन्मना कविः' मनुष्य काव पैदा होता है—कोई बड़ा कवि होता है, कोई छोटा कवि। यह केवल गुणातिरेक के कारण अन्तर है, परन्तु है प्रत्येक मनुष्य, कवि। स्पष्ट है कि क्रोचे मानव जीवन में कल्पना की महत्ता के प्रकृष्ट पारखी तत्त्वज्ञानी हैं। अतः इसी कल्पना पर आश्रित होनेवाली कला मानव जीवन मे सब-से अधिक, सबसे प्रथम और सबसे व्यापक प्रभाव डालनेवाली वस्तु है; इसमें तनिक भी सशय नही।

अभिव्यञ्जना

स्वयंप्रकाश ज्ञान की पहिचान क्या है? इसकी पहिचान यही है कि उत्पन्न होने पर वह कोई न कोई रूप या साँचा (Form) अवश्य ग्रहण करेगा अर्थात् वह अपने आपको किसी न किसी साँचे मे प्रकट अवश्य करेगा और इस विशिष्ट रूप का ही नाम है—अभिव्यञ्जना Expression. प्रातिभ ज्ञान का यही शुद्ध रूप है अभिव्यञ्जना, वह न इससे कुछ अधिक है और न कुछ कम। अभिव्यञ्जना क्या है? यह वह साँचा है जिसमे मन

अपने प्रातिभ ज्ञान को ढालता है अथवा वह साँचा है जो प्रातिभ ज्ञान अपने को प्रकट करने के अवसर पर ग्रहण करता है। द्रव्य के बिना न तो कोई साँचा रह सकता है और न साँचे के बिना द्रव्य। दोनो का आपस मे नितान्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। ठीक इसी प्रकार स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) और अभिव्यञ्जना (Expresion) मे भी नितान्त गाढ़ ऐक्य है अर्थात् एक दूसरे के बिना टिक नहीं सकता। यदि जगत् के नाना रूपों या द्रव्यो का उपादान ग्रहण कर स्वयंप्रकाश ज्ञान उन्मीलित हुआ है तो उसीके साथ अभिव्यञ्जना भी अवश्यमेव सम्पन्न हुई होगी। यह कहना बिलकुल गलत है कि हममे प्रातिभ ज्ञान तो है, पर हम उसे अभिव्यक्त नही कर सकते। स्वयंप्रकाश ज्ञान की सत्ता की अनुमापक ही होती है **अभिव्यञ्जना**। यदि वस्तु की अभिव्यञ्जना सुन्दर नही हुई तो आप निश्चय मानिये उसका प्रातिभ ज्ञान भी कथमपि सुन्दर नही हो सकता। क्रोचे की कला भावना का यही मूल सूत्र है **प्रातिभ ज्ञान तथा अभिव्यञ्जना का समीकरण**। इसी मूल आधार पर उनका भावना का भव्य प्रासाद खड़ा है। इसी सूत्र का भाष्यरूप है उनका सौन्दर्यशास्त्रविषयक महान् तथा महनीय ग्रन्थ।

क्रोचे के अनुसार प्रत्येक सौन्दर्यमय वस्तु के दो आधार होते हैं—द्रव्य (matter) तथा साँचा (Form)। द्रव्य दृश्य जगत् के नाना रूप व्यापार हैं। इसी द्रव्य के सहारे आत्मा की क्रिया मूर्तरूप मे अपना प्रकाश करती है। द्रव्य वह उपादान है या सामग्री है जिसका आश्रय लेकर आत्मा अपनी निजी शक्ति के द्वारा मूर्तविधान प्रस्तुत करता है। मनुष्य की आत्मा द्रव्य का निर्माण नही करती, केवल उसकी प्रतीति करती है। सौन्दर्यसत्ता के विषय में भिन्न भिन्न आलोचकों के तीन मत हैं—कुछ लोग उसे द्रव्य में मानते हैं। अन्य लोग द्रव्य और साँचे के संयोग में सौन्दर्यभावना मानते हैं अर्थात् संस्कार तथा अभिव्यञ्जना के सयोग को ही सर्वतोभावेन सुन्दर मानते हैं। परन्तु क्रोचे साँचे को सौन्दर्य का आधार स्वीकार करते हैं।[1]

---

1 The aesthetic fact is form and nothing but form.

—क्रोचे : सौन्दर्यशास्त्र पृ० २६

उनका कहना है कि आत्मा अपनी स्वतन्त्र क्रिया कल्पना के सहारे रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ा करती है और उस साँचे में स्थूल द्रव्य को ढालकर अपनी रचना को अभिव्यक्त करती है। कला के क्षेत्र मे यही 'साँचा' ही सब कुछ है, द्रव्य का कोई भी महत्त्व नही है। यह साँचा आत्मा की कृति है। अतः आध्यात्मिक वस्तु होने के कारण सर्वदा एकरस तथा स्थिर होता है। उसकी अभिव्यञ्जना में अवश्यमेव जो नानात्व दृष्टिगोचर होता है वह द्रव्य के कारण ही होता है। क्योंकि द्रव्य सन्तत परिवर्तनशील होने के कारण बदला करता है तथा अनेकत्व धारण करता है।

अभिव्यञ्जना भौतिक नहीं होती, मानसिक होती है। जिस समय हम स्पष्टरीति से, विशदता के साथ किसी मूर्ति की कल्पना करते हैं अथवा हम किसी सङ्गीत के स्वरूप को ग्रहण करते हैं, उसी समय अभिव्यञ्जना का उदय होता है और वह अभिव्यञ्जना पूर्ण होती है। उस अभिव्यञ्जना के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता ही नही होती। परन्तु लोक व्यवहार इसका विरोध करता है। लोक का अनुभव है कि अभिव्यञ्जना बाहर होती है। किसी रमणीय दृश्य के दृष्टिगत होते ही प्रतिभाशाली कवि के मुख से कमनीय पद्यों का प्रवाह स्वतः प्रवाहित होता है जिसे हमारे श्रवण सुनकर आनन्दित होते हैं। यही है लोक का अनुभव। यह स्पष्ट ही बाह्य अभिव्यक्ति है। परन्तु क्रोचे का कहना है कि इस बाहरी अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यञ्जना का प्रयोग कथमपि उचित और प्रामाणिक नहीं है। अभिव्यञ्जना अभ्यन्तर होती है, बाहर में नहीं। बाह्य प्रयोग करते ही हम कला-लोक से हटकर व्यवहार-जगत् में आ धमकते हैं। बाह्य अभिव्यक्ति आन्तर अभिव्यक्ति का ही स्पष्टतर प्रकाशन है। यदि हम किसी संगीत के विषय को लेकर व्यक्तरूप से गाते हैं, तो हम उसी वस्तु को बाहर गाते हैं

जिसे हम पहिले भीतर गा चुके हैं; यदि हम वस्तु के अनुभव के अनन्तर कुछ जोरो से कहते हैं, तो हम पहिले ही अपने मन में कहे हुए विषय को ही बाहर निकालते हैं[1]। कहने का अभिप्राय यही है कि बाह्य अभिव्यक्ति आन्तर अभिव्यञ्जना का ही विशदतर प्रकटीकरण है। परन्तु कला का सम्बन्ध भीतरी अभिव्यञ्जना से ही है। बाह्य अभिव्यञ्जना से उसका कोई भी लेना-देना नही है।

यही अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है। क्रोचे का यही विशिष्ट मत[2] है कि **सौन्दर्य सफल अभिव्यञ्जना है अथवा केवल अभिव्यञ्जना है, न अधिक और न कुछ कम, क्योंकि अभिव्यञ्जना यदि सफल नहीं होती तो अभिव्यञ्जना ही नही होती।** सौन्दर्य से उसका अभिप्राय केवल अभिव्यञ्जना के सौन्दर्य से है, उक्ति के सौन्दर्य से है, किसी प्रकृत वस्तु के सौन्दर्य से नही। वास्तविक वस्तु मे क्या कही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है? सौन्दर्यबोध करनेवाली मानसिक क्रिया केवल कल्पना है और इस कल्पना की सहायता के बिना क्रोचे प्रकृति में कहीं भी सौन्दर्य मानने के लिए प्रस्तुत नही हैं। अतः प्रकृति के पदार्थों में सौन्दर्य ढूँढने का प्रयत्न नितान्त निष्फल है। जो कुछ सौन्दर्य होता है वह केवल अभिव्यञ्जना में या उक्तिरूप मे निवास करता है। यदि कोई वस्तु 'सुन्दर कही जा

---

1 When we have mastered the internal word, when we have vividly and clearly conceived a figure or a statue, when we have found a musical theme, expression is born and is complete; nothing more is needed ... what we then do is say aloud what we have already said within, sing aloud what we have already sung within

—क्रोचे

2 We may define 'beauty as *successful expression*, or better, as *expression* and nothing more, because expression, when it is not successful is not expression.

—क्रोचे एसथेटिक पृ० १२६

सकती है तो उक्ति ही; असुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही। सारा चमत्कार उक्ति का है; समग्र सौन्दर्य अभिव्यञ्जना का है। तब भौतिक पदार्थों का सौन्दर्यकल्पना में उपयोग क्या है? फिर क्या कारण है कि लोग 'प्रकृति की छटा या सुन्दरता' कहा करते हैं? इसका उत्तर क्रोचे के अनुसार यह है कि काव्य की उक्तियों के निर्माण मे प्रकृति के क्षेत्र से बहुत-सी सामग्री का उपयोग बहुत दिनो से होता चला आ रहा है। बाह्य पदार्थ सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मे सहायकमात्र हैं, उन में स्वतः सौन्दर्य का भान नही होता। कला की कृतियाँ—कविता, चित्र, संगीत, आदि—केवल उत्तेजक होती हैं जो हमलोगों में सौन्दर्यात्मक अभिव्यञ्जना को प्रकट करती हैं और यही कलात्मक अभिव्यञ्जना ही वस्तुतः सुन्दर कही जा सकती है, न कि यह उद्दीपन सामग्री जो सौन्दर्य के बोध को उद्दीप्तमात्र करती है। सच्ची बात यह है—

सुन्दर कोई भौतिक तथ्य नहीं है; सौन्दर्य प्रस्तुत द्रव्यों मे नहीं रहता, यह सम्पूर्ण रूप से मनुष्य के मानस व्यापार से ही सम्बन्ध रखता है और यह व्यापार मानसिक या आध्यात्मिक तत्त्व है[1]।

कला का मूल्य

सौन्दर्यबोधात्मक व्यापार के द्वारा हमे जिस वस्तु के सौन्दर्य का बोध होता है उसका मूल्य सफल अभिव्यञ्जना में ही है। परन्तु कला-जगत् की कथा निराली है। बहुत दिनों से कला के समीक्षक 'सुन्दर' के साथ 'सत्य' तथा 'शिवं' को एक सूत्र मे अनुस्यूत करते आये हैं। 'सत्य शिवं सुन्दरम्'—उनके कला के मूल्याङ्कन का मेरुदण्ड है। परन्तु क्रोचे इस मेरुदण्ड पर दण्डप्रहार करता है। उसका कहना है कि इस सूत्र वाक्य मे विभिन्न मानस व्यापार के द्वारा सिद्ध वस्तुओं के मूल्यों का विचित्र मिश्रण

---

1 The beautiful is not a physical fact, beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity, and this is a mental or spiritual fact.

Wildon Carr Philosophy of Croce पृ० १६४

कर दिया गया है। मनुष्यों के विभिन्न मानस व्यापारो का वर्णन ऊपर किया गया है। काव्य या कला का मूल्य 'सुन्दर' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। बुद्धिसम्बन्धी मूल्य 'सत्य' शब्द द्वारा, योगक्षेमसम्बन्धी (economic) मूल्य 'उपयोगी', 'लाभप्रद' आदि शब्द द्वारा तथा नीति या धर्मसम्बन्धी मूल्य 'कल्याणकारी' या 'शुभ' (शिवं) शब्दो के द्वारा प्रकट किया जाता है। चारों का क्षेत्र भिन्न भिन्न है, परन्तु लोकव्यवहार में इस सूक्ष्म भेद का तिरस्कार कर हम कह उठते हैं—'बौद्धिक सौन्दर्य' या 'नैतिक सौन्दर्य'। 'असुन्दर' शब्द का भी इसी प्रकार व्यवहार पाया जाता है। हम 'असुन्दर सत्य' असुन्दर क्रिया' आदि शब्दों का सर्वत्र लोक मे व्यवहार करते हैं, परन्तु वस्तुतत्त्व नितान्त भिन्न है। सुन्दर-असुन्दर की कल्पना कला के क्षेत्र मे ही न्याय्य है; सत्यासत्य का विवेचन तर्कशास्त्र मे अवसरप्राप्त होता है; उपयोगी-अनुपयोगी का विचार अर्थशास्त्र जैसे व्यावहारिकशास्त्र मे किया जाता है तथा 'मंगल-अमंगल' की समीक्षा धार्मिक-जगत् या नैतिक संसार में ही शोभा देती है। फलतः कला का मूल्य सौंदर्य ही है उसे कल्याणकारी तथा सत्य बतलाना नितान्त अनुचित है—दूसरे के क्षेत्र मे अनधिकार प्रवेश है। क्रोचे के अनुसार इसी कारण कला का मूल्य कला ही है। सत्यं या शिवं के साथ कला का गठबन्धन कथमपि उपादेय नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार क्रोचे का समग्र आग्रह अभिव्यञ्जना को ही सौन्दर्य के प्रतीक मानने मे हैं और इसका विकाश होता है कला मे या कविता मे। सुन्दर की कल्पना से ही असुन्दर की भावना भी सम्बद्ध है। बाह्य वस्तुओं को जो लोग सुन्दर तथा असुन्दर मानते आये हें उनकी व्याख्या ठीक नही जमती। कुछ लोगो ने कहा कि काव्य आदि कलाओं में असुन्दर और बीभत्स वस्तुएँ सुंदर को और झलकाने के लिए ही रखी जाती हैं, परन्तु क्रोचे के अनुसार यह व्यर्थ का झमेला है, जो उक्ति में सौदर्य की कल्पना मान लेने से झट-पट दूर हो सकता है।

विज्ञ पाठकों को बतलाने की अब आवश्यकता नही है कि क्रोचे की दृष्टि में कल्पना का महत्त्व कितना अधिक है। यह मानवमन की प्रथम

सहजशक्ति है जिससे कोई भी मनुष्य वञ्चित नहीं है। प्रत्येक मनुष्य इस कल्पनाशक्ति का उपयोग कर कला की साधना में प्रवृत्त हो सकता है। कला भी हमारे जीवन के संग घनिष्ठता के साथ अनुस्यूत है। हम पहले ही कह आये हैं कि क्रोचे प्रत्येक मनुष्य को स्वभाव से ही, प्रकृति से ही, कलाकार अथवा कवि मानता है। 'मानवो जन्मना कविः'—उसका एतद्विषयक सूत्र माना जा सकता है। कला की सृष्टि को लक्ष्य कर साधारण मानव तथा प्रतिभा-सम्पन्न कवि में कोई भी अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का चित्त कोमल कल्पना का क्रीडास्थल है। परन्तु फिर भी अन्तर है ही? तभी तो जगत् में सफल कलाकारों की संख्या अँगुलियों पर गिनने लायक है। क्यों? इसका क्या कारण है? क्रोचे कहता है—अन्तर है दृष्टि का[1], चित्रकार जिस दृष्टि से किसी वस्तु को देखता है, साधारण जन उसकी केवल अनुभूतिमात्र करता है या उस वस्तु के अन्तस्तल में प्रवेश न कर वह केवल बाहर ही बाहर देखता है। इसी दृष्टिभेद से अभिव्यञ्जना में भी अन्तर है। अभिव्यञ्जना का पार्थक्य इस बात का प्रमाण है कि **'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे'** तथा **'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः'** के कवियों की दृष्टि भिन्न है। यही कारण है कि स्वाभाविक रीति से कवित्वसम्पन्न होने पर भी कल्पना की तीव्रता के अभाव के कारण जगत् में कालिदास तथा भवभूति जैसे मान्य कवियों की गणना केवल अँगुलियों पर ही की जाती है।

अभिव्यञ्जना के विषय में हम पहले कह आये हैं। संक्षेप में उनकी रूप-विवेचना के प्रसङ्ग में एक दो बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। अभिव्यञ्जना का प्रयोग दो प्रकार का मिलता है—लौकिक तथा शास्त्रीय। साधारणतः लोग कवि के शब्दों को, गायक के स्वरों को, चित्रकार के खींचे गये रेखाचित्रों को ही अभिव्यञ्जना मानते हैं। भावों की अभिव्यक्ति—जैसे भय से काँपना, क्रोध से आँखें लाल करना, हँसी में चेहरे का खिल उठना—

---

1 The painter is painter because he sees what others only feel or see through but do not see.

—Croce.

को भी लोग अभिव्यञ्जना मानते हैं। परन्तु ये हैं भौतिक **अभिव्यञ्जनायें**। इनका सम्बन्ध कलात्मक अभिव्यञ्जनाओं से नहीं होता। याद रखना चाहिए कि भौतिक अभिव्यञ्जनायें कलाशून्य होती हैं, कलापूर्ण नहीं। कला की वास्तविक अभिव्यञ्जना तो मानसिक सत्ता रखती है—वह तो एक आध्यात्मिक क्रिया है। भौतिक अभिव्यञ्जनायें जैसे शब्द, रंग, भौतिक-रूप, चेष्टा आदि उस आध्यात्मिक वस्तु को प्रकाशित करनेवाली होती हैं। उनका भी महत्त्व है, परन्तु वे कलात्मिका नहीं हैं। वे लौकिक अभिव्यक्तियाँ हैं, मानसिक नहीं[१]। क्रोचे कहता है कि क्रोध का शिकार बननेवाला आदमी जो स्वाभाविक शारीरिक अभिव्यक्तियाँ करता है और जो आदमी कलात्मक दृष्टि से क्रोध की अभिव्यञ्जना करता है—इन दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है। किसी प्रियजन के वियोग के अवसर पर प्राणी जिन चेष्टाओं को करता है, जो रोदन करता है तथा शारीरिक भावभङ्गी दिखलाता है तथा वही मनुष्य दूसरे क्षण मे जिन शब्दों या गीत के द्वारा अपनी व्यथा का चित्रण करता है— क्या ये दोनों एक हैं? नहीं, बिल्कुल नहीं।

कला की अभिव्यञ्जना को क्रोचे ने इस प्रकार चार भागो में विभक्त कर इस क्रम से दिखलाया है[२]—

(१) **अन्तःसंस्कार**—वस्तु के सामने आते ही द्रष्टा या श्रोता के चित्त पर तज्जन्य सस्कार उत्पन्न होते हैं। यह है पहली सीढ़ी।

(२) **अभिव्यञ्जना** (अथवा आध्यात्मिक कलापरक योजना या

---

1 Croce—*Aesthetic* पृ० १५४-१५५

2 The complete process of aesthetic production can be symbolised in four steps; a, impressions; b, expression or spiritual aesthetic synthesis; c, hedonistic accomponiment or the pleasure of the beautiful; d, translation of the aesthetic feat into physical phenomena (sounds; tones, movements etc,).

—Croce : Aesthetic p. 156.

कल्पना)। संस्कार के उद्बोधनमात्र से हमारे मन में जो अभिव्यञ्जना स्वतः आविर्भूत हो जाती है। यही सच्ची कलापरक अभिव्यञ्जना होती है।

(३) सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषङ्गिक आनन्द—सौन्दर्य-बोध के अनन्तर चित्त में जो आनन्द उत्पन्न होता है। इससे हम पूर्णतया परिचित हैं। किसी सुन्दर वस्तु या चित्र के देखने से या सुन्दर गायन के सुनने से हमारे चित्त में आनन्द स्वय उत्पन्न हो जाता है। इसीसे साधारण-तया सौन्दर्य के साथ आनन्द की भावना सर्वदा संयुक्त दीख पड़ती है।

(४) कल्पना का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण—शब्द, स्वर, गति, रेखाविधान, रंगविधान आदि के द्वारा आध्यात्मिक वस्तु को कलाकार भौतिक जगत् में अवतीर्ण करता है जिससे वह सामान्य जनता के लिए बोधगम्य होता है। इन चारों के पूरा होने पर अभिव्यञ्जना का विधान पूर्ण होता है, परन्तु वस्तुतः इनमें द्वितीय प्रक्रिया ही अभिव्यञ्जना का सच्चा रूप है।

कला का स्वरूप

कला के यथार्थ रूप को जानने के लिए यह आवश्यक है कि उसका उन अनेक वस्तुओं से अन्तर समझ लिया जाय जिनके साथ उसका सादृश्य प्रायः स्वीकार किया जाता है—

(१) कला तत्वज्ञान नहीं है—तत्त्वज्ञान जाति का तार्किक रीति से सम्पन्न विचार या ज्ञान है, परतु कला किसी वस्तु का स्वतः आविर्भूत बिना सोचे-समझे उत्पन्न होनेवाला प्रातिभज्ञान है[१]। क्रोचे के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—जाति का ज्ञान और व्यक्ति का ज्ञान; जाति का संकेत तथा व्यक्ति का संकेतग्रह। इन में जाति का तार्किक ज्ञान अर्थात् तर्कप्रणाली के अनुसार निर्णीत ज्ञान तत्त्वज्ञान का विषय है, परन्तु व्यक्ति का स्वतः उत्पन्न होनेवाला प्रतिभान कला का विषय है। व्यक्ति का संकेतग्रहण है—

1 Philosophy is the logical thinking of the universal categories of being, while art is the unreflective intuition of being. —Croce

'यह जल है,' 'यह कमल है', 'यह तालाब है', जहाँ विशिष्ट जल, विशिष्ट कमल तथा विशिष्ट तालाब का ज्ञान होता है—यह स्वतः आविर्भूत ज्ञान होता है कला में। जाति का संकेतग्रह है—'जल' 'कमल', 'तालाब' आदि जहाँ उन वस्तुओं के सामान्यभूता जाति का ग्रहण वक्ता को अभीष्ट होता है। दोनों के ज्ञान मे मूलतः विभेद है। अतः क्रोचे की सम्मति मे कला तथा तत्त्वज्ञान में ऐक्य नही है।

(२) **कला इतिहास नहीं है।** इतिहास का कार्य कला के कार्य से नितान्त भिन्न है। इतिहास सत्य तथा असत्य, साँच और झूठ, वास्तविक और काल्पनिक के समीक्षणात्मक विभेद को स्वीकार करता है[1]। इतिहास किसी घटना के निर्देशमात्र से सन्तोष नही करता, प्रत्युत वह अपनी युक्तियों के सहारे निर्णय करता है कि उस समय इस घटना का होना सम्भव था या नहीं, यह घटना सच्ची है या झूठी, वस्तुतः हुई थी या नही? घटना के सत्यासत्य के विवेचन करने में ही इतिहास का इतिहासत्व है। कला का यह काम नही। वह साँच-झूठ के झमेले मे नही पड़ती। अपनी कल्पना के सहारे वस्तु का मूर्तविधान करनेवाला कलाकार इस बखेड़े मे पडता ही नही कि वह वस्तु सत्य या असत्य? वस्तु-जगत् मे उसकी स्थिति सभावनीय है या असंभावनीय?

(३) **कला प्राकृतिक विज्ञान नही है।** प्राकृतिक विज्ञान बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यो का निर्णय अपना लक्ष्य मानता है। बाह्य प्रकृति की विशालता तथा विषमता पदे पदे हमको आश्चर्य मे डालती रहती है। वैज्ञानिक इन विविध घटनाओं को एकत्र कर उनके भीतर क्रियाशील नियमो को बाहर निकालता है। इस प्रकार अमूर्त विधान या अमूर्त नियमों का निर्धारण प्राकृतिक-विज्ञान का महनीय कार्य है, परन्तु कला का काम मूर्त विधानों का सम्पादन है। अतः दोनों मे कार्यगत भेद स्पष्ट है।

(४) **कला कपोलकल्पना की क्रीडा नहीं है।** कपोलकल्पना से मेरा अभिप्राय उस भाव से है जिसे अंग्रेजी मे **फैन्सी** (fancy) शब्द के द्वारा

---

1 History implies the critical distinction of reality and unreality.

वाच्य किया जाता है। कपोलकल्पना मे बुद्धि का आधार यथासम्भव नितान्त अल्प रहता है। कपोलकल्पनावाले व्यक्ति की दृष्टि एक मूर्ति से दूसरी मूर्ति तक घूमा करती है। वह सदा विचित्रता तथा विविधता की खोज मे लगी रहती है। वह कौतूहल या तज्जन्य आनन्द ढूंढने करने में व्यस्त रहती है। बाल्यावस्था में हमारी जो विचित्र कल्पनायें—मनगढन्त धारणायें हुआ करती हैं, उनका समावेश फैन्सी के ही अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। कला कविकल्पना—भावुककल्पना की खेल है। विशुद्ध कल्पना में बुद्धि का आधार बना रहता है। उसका कथमपि तिरस्कार नहीं किया जाता। कवि नवीन बातों की—उत्प्रेक्षाओं की घटना में संलग्न रहता है, परन्तु उसकी ये उत्प्रेक्षण बुद्धि की कसौटी पर कसे जाने से नितान्त निर्मूल सिद्ध नहीं होते। कवि-कल्पना में बुद्धितत्त्व बिल्कुल उपेक्षणीय नहीं होता। कलाकार नई नई सृष्टि करता रहता है, परन्तु उसकी ये सृष्टियाँ बौद्धिक-जगत् के लिए उपहास की सामग्री नहीं बनतीं, प्रत्युत बुद्धि उनकी सत्ता के लिए प्रमाण खोजकर उपस्थित करने मे नहीं चूकती। क्रोचे के अनुसार कला मे कल्पना अपना विलास प्रस्तुत करती है।

(५) **कला शिक्षण या वक्तृता नही है**। कला का उद्देश्य शिक्षण नहीं है और इसलिए वह वक्तृता के समान नही होती। किसी विषय पर भाषण करनेवाला व्यक्ति किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रतिपादन करने में सन्तत उद्योगशील रहता है। वक्ता का मुख्य कार्य यही होता है कि वह श्रोताओं के हृदय को किसी वस्तु को सिखाकर अपनी ओर आकृष्ट करे। क्रोचे का मत है कि जो वस्तु शिक्षण देती है वह कलात्मिका नही मानी जा सकती। शिक्षण का काम तो नीतिशास्त्र का है। ससार मे किस मार्ग से चलना चाहिए ? किन बातों के मानने से हमारा कल्याण हो सकता है ? किन नियमों के पालन से हम अपने जीवन में सफलता प्राप्त कर सकते हैं ? इन वस्तुओं का निर्धारण नीतिशास्त्र करता है। कला का इन वस्तुओं से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता है।

(६) कला को उन दूसरी वस्तुओं के साथ भी मिश्रित नही करना चाहिए, जो किसी विशिष्ट फल के उत्पादन मे क्रियाशील रहते हैं चाहे यह

फल सुख, आनन्द, उपभोग तथा उपयोग है, या कल्याण है, या पुण्य है[1]। साधारणतः समझा जाता है कि कला की वस्तु आनन्द उत्पन्न करती है, वह स्वतः कल्याणकारक होती है या पुण्य उत्पादन में सक्षम होती है परन्तु क्रोचे इस बात को मानने के लिए तैयार नही है। कला का मूल्य आँकने के लिए हमें अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही होती। कला स्वतः पूर्ण होती है। 'कला का उद्देश्य कला ही है', श्रोता के हृदय में आनन्द उत्पन्न करना न तो कवि को अभीष्ट है और न दर्शक के चित्त में किसी चित्र के द्वारा आनन्द का उदय करना चित्रकार को पसन्द है। संगीत एक कला है। संगीत के द्वारा कलावन्त किसी श्रोता के हृदय को आनन्द से तन्मय बनाना नहीं चाहता, वह तो वीणा के तारों के ऊपर अपनी अँगुलियाँ घुमाता है और केवल एक विचित्र स्वरभङ्गी उत्पन्न करता है। उसे सुनकर कोई आनन्द से विह्वल हो उठता हो या घृणा के भाव से भर जाता हो तो वह ऐसा बन जाय। यह उसकी व्यक्तिगत बात हुई। कला का यह उद्देश्य नहीं है। कवि अपनी कल्पना के बल पर शब्द तथा अर्थ की अभिव्यञ्जनामात्र करता है, वह उससे उत्पन्न फल या प्रभाव के झमेले मे नही पड़ता कि वह मंगलमय है या अमंगलमय? कल्याण करने की क्षमता रखता है या नहीं? कला का यह उद्देश्य नही है जो अनेक आलोचक मानते आये हैं।

काव्य भी कला ही है। अतः कलाविषयक समस्त लक्षण काव्य पर भी घटित होते हैं। काव्य क्या है? काव्य को न तो हम अनुभूति कह सकते हैं न मूर्तविधान और न दोनों का संयोग, बल्कि वह है 'अनुभूति का चिन्तन' या 'गीतिमय प्रतिभान' या 'विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान'। प्रातिभ ज्ञान या स्वयंप्रकाश ज्ञान को विशुद्ध कहने का अभिप्राय यह है कि कविता मे जिस मूर्तविधान का उपन्यास किया जाता है उसकी सत्यता या असत्यता का कोई

1 Art must not be confused with other forms directed to the production of certain effects, whether these consist in pleasure, enjoyment and utility, or in goodness and right-eousness. —Croce.

प्रश्न नही रहता, न किसी प्रकार का ऐतिहासिक निर्देश का विचार किया जाता है और न किसी प्रकार का विचारात्मक उल्लेख अपेक्षित होता है। कविता यथार्थतः विशुद्ध स्वयप्रकाश ज्ञान है[1] जिसमें जीवन की विशुद्ध गति या चलन का आदर्शरूप में, प्रत्ययरूप मे विवरण रहता है।

क्रोचे की समीक्षा

क्रोचे की काव्यभावना या कलाभावना का संक्षिप्त विवेचन अब तक प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी के वर्तमान कवियों तथा आलोचकों की दृष्टि इस सिद्धान्त की ओर आजकल विशेषरूप से आकृष्ट हुई है, परन्तु समीक्षा करने पर अभिव्यञ्जनावाद के पूर्वोक्त निर्दिष्ट विवरण में बहुत सी बाते ऐसी हैं जो भारतीय परम्परा से एकदम विरुद्ध पड़ती हैं। एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

काव्यसम्बन्धिनी भावना के रूप के विषय मे दोनो सिद्धांतों में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है। क्रोचे ने काव्य की भावना मे कल्पना को समधिक महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने कल्पनापक्ष का प्राधान्य मानकर काव्य-भावना का रूप 'ज्ञानात्मक' अगीकार किया है। हमारे यहाँ के रससिद्धान्त के अनुसार उसका मूल रूप 'भावात्मक' या 'अनुभूत्यात्मक' माना गया है। इस भाव के भीतर ही बोध या प्रतीति एक अवयवमात्र है। समग्र कल्पना को काव्य के लिए उपादेय मानना क्या ठीक है? कल्पना कवि तथा पाठक के मन मे कुछ मूर्तरूप या आलम्बन खड़ा करती है जिसके प्रति किसी भाव का अनुभव होता है! कल्पना का क्षेत्र विस्तृत है। उसे कला के क्षेत्र तक सीमित मानना उचित नहीं है। क्या वैज्ञानिक या दार्शनिक विचार मे मूर्त विधान का प्रयोजन नही होता? क्या इनमे कल्पना

---

1 Poetry most be called neither feeling nor image, nor yet the sum of the two, but as 'contemplation of feeling', or 'lyrical intuition or 'pure intuition'–pure of all historical and critical reference to the reality or unreality of the images of which it is woven, and apprehending the pure throb of life into ideality —Croce.

का उपयोग नही रहता ? तो काव्यसम्बन्धिनी कल्पना की विशिष्टता क्या है ? काव्यविधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा संचारित हो अथवा भाव का प्रवर्तन तथा संचारण करती हो। क्रोचे ने कल्पना के इस वैशिष्ट्य पर ध्यान नही दिया।

वे काव्य की अनुभूति को भाव की अनुभूति से पृथक् मानते हैं। अर्थात् काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में नही होती। क्रोचे की युक्ति है कि भावानुभूति सुखात्मक या दुःखात्मक हुआ करती है। यदि काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप मे ही होती तो उसकी अनुभूति भी दुःखात्मक होती। विषय है करुणरस का विवेचन। शोक की लौकिक अनुभूति अवश्यमेव दुःखात्मक हुआ करती है। प्रिय के मरण होने पर हमारा हृदय शोक से व्याकुल हो उठता है—हृदय में शोक का तूफान उठता है; आँखों से आँसुओं की धारा प्रवाहित होने लगती है; हिचकी बँध जाती है। यह तो वास्तविक अनुभूति का स्वरूप ठहरा। काव्य में उसका चित्रण दुःखात्मक होता है या सुखात्मक है ? इस विषय को लेकर पाश्चात्य तथा प्राच्य आलोचको ने बड़ा अनुसन्धान किया है। उनके मत भी विचित्र तथा विलक्षण से दीखपड़ते हैं।

शोकावसायी नाटक के प्रदर्शन से आनन्दोद्भूति अवश्यमेव होती है। इसका मुख्य कारण क्या है ? अरस्तू का कहना[1] है कि शोकावसायी अभिनय के देखने से द्रष्टा के हृदय के करुणा तथा भय के भावो का बाह्य निष्काशन होता है—भावों का 'विरेचन' (purgation) हो जाता है और हमारे दैनिक जीवन में इन भावों की विशुद्धि हो जाने से हम पहले से अधिक स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द हो जाते हैं। मल की सत्ता होने पर शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है। विरेचन के द्वारा मलनिःसारण होने पर शरीर लघु, नीरोग तथा स्फूर्तिमय बन जाता है। ठीक यही दशा होती है हमारे हृदय की।

---

1. Witnessing a tragedy effected 'a purgation of the feeling of pity and terror' and left us freer of these emotions in our daily life. —Aristotle.

हृदय को भय बोझ की तरह दबाये रहता है, दया का भाव उसे क्षुब्ध किये रहता है। अतः शोकावसायी नाटक के देखने से हमारे ये भाव बाहर निकल जाते हैं। हमारा हृदय विशुद्ध तथा चित्त हल्का बन जाता है। फ्रायड इस मत को मानने के लिए उद्यत नहीं हैं। उनका कहना है[1] कि किसी भावातिरेक के प्रदर्शन के अनन्तर हमारे चित्त को शान्ति अवश्य प्राप्त होती है, परन्तु उसी समय हमारे चित्त में शान्ति या सन्तोष का उदय क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर क्या है? फ्रायड का कथन है कि ऐसे नाटक में नायक का होता है—पतन और यह पतन ही हमारे सन्तोष का कारण बनता है, क्योंकि हम अनजाने ही उस नायक को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझने लगते हैं। प्रतिद्वन्द्वी का विनाश हर्ष का कारण बनता ही है। परन्तु अन्य मनोवैज्ञानिकों की व्याख्या इन दोनों से विलक्षण है[2]। उनका कहना है कि जब हमारे जीवन का प्रवाह सुखद गति से प्रवाहित होता है, तब हमे किसी किञ्चिन्मात्र दुःखद घटना से भी आनन्द उत्पन्न होता है। सुखी जीवन बितानेवाले व्यक्ति के सामने यदि शोकमयी घटना भी आ जाय, तो पूर्व अभ्यास के वश उसे उस घटना से भी आनन्द ही जनमता है। अंग्रेजी भाषा के निख्यात कवि शेली का तर्क इससे भिन्न है। उनका तो स्पष्ट कथन है कि हमारे सुन्दरतम हास्य में भी किञ्चिन्मात्र दुःख का पुट बना ही रहता है। हमारी सबसे मधुर गीतें वे ही होती हैं जो सब से अधिक क्लेश देनेवाले विचारों का वर्णन करती हैं'—

---

1 Freud—the above theory is not sufficient. We have relief *after* some emotional outburst but it does not account for our satisfaction at that time. Freud says that we triumphed in the hero's fall because we unconsciously look upon him as a rival.

2 Common sense view—When our life follows a smooth and easy course, we enjoy emotional stimulation even of a slightly painful kind.

—Modern Psychology and Education by Stuart and Oagden p. 113.

We look before and after,
And pine for what is not;
Our sincerest laughter,
With some pain is fraught,
Our sweetest songs are those that tell
of saddest thought.

—kylark

शेली ने अपने कविताविषयक प्रौढ़ निबन्ध में इसी बात को फिर दुहराया है—वे कहते हैं कि शोकावसायी नाटक हमें इसीलिए प्रसन्न करत हैं कि शोक में रहनेवाले सुख की छाया की अनुभूति वह हमें करता है इनका आग्रह है कि शोक में जिस आनन्द का निवास है वा आनन्द के भी आनन्द से बढ़कर है[१]। एक महाकवि की या आत्मानुभूति है। अतः इसे सत्य मानना ही उचित होगा

संस्कृत-साहित्य के आदिकवि हैं—वाल्मीकि और आदिकाव्य है—वाल्मीकीय रामायण। संस्कृत की आद्य कविता का उन्मेष भी हुआ शोकमय प्रसङ्ग से—क्रौञ्चवध को दृष्टि गोचर करने पर वाल्मीकि की वाग् वैखरी करुणरस से आप्लुत होकर बह चली। उनका क्रौञ्चद्वन्द्व के वियोग से उत्पन्न शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया। **क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः**— (ध्वन्यालोक)। रामायण मे करुणरस की ही मुख्यता है। भवभूति थे वाल्मीकि के अनन्य भक्त, प्रेमी अनुयायी। स्वभावतः उनके उत्तररामचरित मे करुणरस की पराकाष्ठा स्फुरित होती

---

1 Our sympathy in tragic fiction depends on this principle : tragedy delights by affording a shadow of that pleasure which exists in pain. This is the source of melancholy which is inseparable from the sweetest melody The pleasure that is in sorrow in sweeter than the pleasure of pleasure itself.

—Shelley ; Defence of Poetry.

है। उन्होंने समग्र रसों में करुण को प्रकृतिरस माना है। अन्य रस तो उसके विकृतिमात्र हैं। यह सिद्ध पद्य भवभूति की करुणरस-भावना का पर्याप्त पोषक है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्॥

[एक करुण ही मुख्य रस, निमित भेद से सोइ।
पृथक् पृथक् परिणाम में, भासत बहुविध होइ॥
बुदबुद, भँवर, तरंग जिमि होत प्रतीत अनेक।
पै यथार्थ मैं सबनि कौ, हेतु रूप जल एक॥
—सत्यनारायण]

इससे स्पष्ट है कि भवभूति ने करुणरस को मुख्यरस मानने के कारण आनन्दमय अवश्य स्वीकार किया है। रस का रूप ही ठहरा आनन्दमय। अतः मुख्य रसरूप करुण को नितान्त आनन्दमय होना हो युक्तियुक्त है। करुणप्रधान नाटक के देखने से दर्शकों के नेत्रों मे आँसू झलकने लगते हैं। इसका भी कारण आलोचकों की दृष्टि में स्पष्ट है। विश्वनाथ कविराज का कहना है कि ये शोक के आँसू न होकर आनन्द के ही आँसू हैं जो चित्त के द्रवीभूत होने से स्वतः प्रवाहित होते हैं।

करुणरस की आनन्दजनकता के विषय में हमारे आलंकारिकों ने खूब विचार किया है। उनकी युक्ति यह है कि शोक मे दुःखाभिव्यञ्जना की शक्ति तभी तक है जब तक वह लौकिक विषयों के साथ सम्बद्ध है अर्थात् लौकिक वृत्त के विषय मे शोक निश्चयरूप से दुःखदायक होता ही है, परन्तु काव्य या नाट्य में प्रदर्शित होने पर शोक अलौकिक वस्तु की विभावना करने लगता है। फलतः उससे आनन्द की ही प्राप्ति होती है, दुःख की नहीं—

अलौकिकविभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया।
सदुक्त्या च सुखं तेभ्यः स्यात् सुव्यक्तमिति स्थितिः॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु २। ५। १०६

इस युक्ति के अतिरिक्त सहृदयों का अनुभव भी इसमें प्रमाण माना जा सकता है। समस्त चेतन व्यक्ति करुणप्रधान नाटक के देखने पर, आनन्द का ही अनुभव करता है। यदि ऐसा नही होता, तो रामायण से जिसमें राम का विलाप विशेषतः दिखलाया गया है दुःख की उत्पत्ति होती। तब हनुमान को नित्य रामायण सुनने की स्पृहा क्यों? क्या दुःखद वस्तु के देखने या सुनने का कोई कभी आग्रह कर सकता है? अश्रुपात, रोमाञ्च आदि की अभिव्यक्ति का भी यही रहस्य है। चित्त के द्रवीभूत होने पर ही ये बाह्य चिह्न प्रकट होते हैं :—

> करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
> सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥

जर्मनी के एक मान्य कवि कर्नर (kerner) की यही अनुभूति है[1]। करुणरस के नाटक तथा काव्य आदि के पढ़ने या देखने से दर्शकों या श्रोताओं को आँसू क्यों आ जाते हैं? आँसुओं का आना भावोद्रेक का ही बाह्य लक्षण है। अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से यह साफ़ प्रकट होता है कि काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होती है। इस स्पष्ट वैज्ञानिक तथ्य की अवहेलना क्या क्रोचे के लिए उचित है?

रस, अलकार आदि नाना काव्यतत्त्वों का निरूपण क्रोचे की दृष्टि मे कला की समीक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है—वह शास्त्रपक्ष मे सहायक होता है। उसका मूल्य वैज्ञानिक समीक्षा के सम्बन्ध मे है, कलासम्बन्धी समीक्षा से उनका कोई भी सरोकार नहीं है। यह मत भी समीचीन नहीं है। कला का समीक्षण भी तो विचारात्मक समीक्षा के द्वारा ही हो सकता है। उसमे कल्पनामयी पदावली से भला कोई तत्त्व उन्मीलित किया जा सकता है? किसी कलासमीक्षा को बोधगम्य होने के लिए उसे बुद्धि की कसौटी पर

---

1 Born of deep pain is the poet's art,
And the song that alone is true,
Is wrung from a throbbing human heart
That sorrow is burning through.

—Translated by Ellis

कसना ही पड़ेगा—बुद्धितत्त्व का उपयोग करना ही पडेगा। बुद्धि बतलाती है कि काव्य में रसनामक पदार्थ की सत्ता रहती ही है तथा अलकारो के द्वारा काव्य की शोभा का उन्मीलन होता ही है। अवश्य ही अलकारो को रसानुकूल होना चाहिए। हम कह आये हैं कि भावाभिव्यञ्जक होने में ही अलंकार का अलकारत्व सिद्ध होता है। अतः किसी भी काव्य-समीक्षा में इन उपादेय तत्त्वों का तिरस्कार कथमपि नही किया जा सकता[१]।

क्रोचे और कुन्तक

क्रोचे का यह 'अभिव्यञ्जनावाद' एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' हो सकता है, परन्तु यह उस वक्रोक्तिवाद से सर्वथा भिन्न ही है जिसका प्रतिपादन आचार्य कुन्तक ने किया है। ऊपर विस्तार से दिखलाया गया है कि कुन्तक की वक्रोक्ति सकीर्ण अर्थ मे गृहीत 'चमत्कार' से सर्वथा भिन्न है। वह इतनी व्यापक काव्यभावना है कि इसके भीतर रस तथा ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमिट कर विराजता है। दोनों में यदि साम्य है तो इसी बात मे कि दोनों काव्य मे व्यापार का प्राधान्य मानते हैं। अन्तर तो विस्पष्ट है। अभिव्यञ्जनावाद केवल स्थूलरूप मे चमत्कारवाद है जिसमे न तो रस के लिए आग्रह है और न अलंकार के लिए प्रेम। वह कला के नैतिक आधार में विश्वास नहीं रखता। यहाँ कला का स्वतः मूल्य कला ही है। वक्रोक्ति-वाद में यह त्रुटि नहीं दीख पड़ती। उसमें रस का मञ्जुल सन्निवेश है और अलकार का भी विलास विद्यमान है। वह कविता को नैतिक आधार से शून्य नही मानता। वह काव्य के छोटे छोटे अंगो मे जिस प्रकार सामञ्जस्य का पक्षपाती है उसी प्रकार व्यापक दृष्टि से समग्र प्रबन्ध मे 'कार्यान्वय' का पोषक है। कुन्तक की वक्रोक्ति केवल वाग्वैदग्ध्य नहीं है जो केवल शब्द में या अर्थ मे चमत्कार उत्पन्न करके ही सन्तोष करता है। काव्य में वक्रता वहीं तक अपेक्षित होती है जहाँ तक वह हृदय की किसी अनुभूति से सम्बन्ध

---

१ विशेषरूप से द्रष्टव्य Scott-James · The Making of Literature पृ० ३२१-३५

थोरेहिं द्यौस तें खेलन तेऊ लगी उनसो जिन्है देखि कै जीजै।
नाह के नेह के मामिले आपनी छाहँहु की परितीति न कीजै ॥

अन्यसंभोगदुःखिता नायिका रतिचिन्हो से चिन्हित अपने सखी से उक्ति-वैचित्र्य द्वारा अपना क्रोध प्रकट कर रही है—हे सखी, ऐसा जी चाहता है कि आज से अँगिया न पहनूँ और नींद को भी पास न आने दूँ और सखी के नाते लज्जा को भी अपने पास न रखूँ। अँगिया, नींद, लज्जा—ये तीनों भी तो स्त्री ही हैं और मेरे साथ साथ पति के पास जा सकती हैं। मुझे भय है कि कही ये भी मेरे पति को उपपति न बना ले, क्योंकि मैं देखती हूँ कि थोड़े दिनों से वे भी, जिन्हे मैं अत्यन्त प्यार करती हूँ, मेरे पति के साथ खेल करने लगी हैं—खेल शब्द रति-क्रीडा का द्योतक है। अतः मैंने तो यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि पतिप्रेम के बारे मे अपनी छाया का भी विश्वास न करना चाहिए। 'छाया' भी तो आखिर स्त्री ही ठहरी—वह भी अगर मेरे प्रियतम के गले लग जाय तो गजब हो गया! शब्द बड़े ही सीधे-सादे है! उक्ति बड़ी चुटीली तथा पैनी है। अँगिया, नींद, लज्जा तथा छाया के स्त्रीलिग होने की उपपत्ति कितनी मार्मिकता से सिद्ध की गई है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य केशवदास जी वक्रोक्ति का प्रयोग केवल उक्ति-वैचित्र्य के अर्थ मे कर रहे हैं। कुन्तक की व्यापक वक्रोक्ति से उनका परिचय नहीं है।

यही दशा अन्य आलंकारिकों की भी है। कहने का अर्थ यह है कि हिन्दी के अधिकाश आचार्य तो वक्रोक्ति को 'शब्दालंकार' ही मानते हैं। कुछ लोगों ने इसे अर्थालंकार मानकर उक्तिवैचित्र्य तक सीमित किया। परन्तु कुन्तक की काव्य की प्राणभूता वक्रोक्ति से वे नितान्त अपरिचित ही हे। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। जब सस्कृत के भी मान्य आलकारिक वक्रोक्ति के सिद्धान्त से कोरे रहे, तब बेचारे हिन्दी आलकारिको की बात क्या कही जाय?

हिन्दी के लक्षणग्रन्थों से दृष्टि हटाकर लक्ष्यग्रन्थो की ओर डालने से वक्रोक्ति का विशाल साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है। वक्रोक्ति का स्वरूप ही इतना मृदुल और मनोरम है कि वक्रकथन के क्षेत्र में बिना पदार्पण किये काव्यकला की पूर्णता उन्मीलित नहीं होती। इस परिच्छेद के आरम्भ मे

मैंने वक्रकथन या अतिशयकथन के प्रति आलोचको की श्रद्धा का उल्लेख किया है। हिन्दी कवियों मे हम महाकवि सूरदास को यदि 'वक्रोक्ति का बादशाह कहे, तो कुछ भी अनुचित न होगा। उनका सूरसागर एक महासागर है जिसमें नाना प्रकार की वक्रोक्तियाँ आकर मिली हैं। उसमे रुद्रट की शब्दालंकाररूप वक्रोक्ति विद्यमान है, वामन की सादृश्य लक्षणात्मिका वक्रोक्ति भी तथा कुन्तक की व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त वक्रोक्ति की भी एक विशाल राशि यहाँ प्रस्तुत की गई है। कुछ उक्तियाँ तो बड़े ही साधारण ढग की हैं, परन्तु अधिकांश उक्तियों मे सरस कविहृदय झाँकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। सूरदास मे जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है। किसी बात के कहने के न मालूम कितने टेढ़े-सीधे ढग उन्हे मालूम थे। 'भ्रमरगीत' मे गोपियो की उक्तियाँ इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। इनमें कृष्ण को अपने पुराने प्रेम को भुला देने के लिए कितना उलाहना दिया गया है। गोपियों के वचनो मे कितनी विदग्धता और वक्रता भरी हुई है। उपालम्भ को मूल आश्रय मानकर वक्रोक्तियो का जो महान् प्रासाद सूरदास ने इस प्रसङ्ग मे खडा किया है वह नितान्त हृदयावर्जक, आकर्षक तथा रोचक है। उनकी शब्दक्रीड़ा भी बड़ी मनोहर है। क्रीड़ारसिक रसिकशिरोमणि साँवरे कृष्ण के प्रेमी उपासक सूर को शब्दों के साथ खेल करते देखकर हमें आश्चर्य नही होता। 'कूट' काव्य की सृष्टि सूरदास की इसी क्रीड़ा-प्रवृत्ति का अत्यन्त उज्ज्वल उदाहरण है। सूर की गोपिका उस परदेसी की बात पूछ रही है—

> कहै कोई परदेसी को बात (टेक)
> मन्दिर अरध अवधि हरि वदि गये हरि-अहार चलि जात।
> अजया-भख अनुसारत नाही कैसे के दिवस सिरात॥

परन्तु इस प्रश्न का विधान जिस प्रकार कूटरीति से किया गया है उससे इसके उत्तर मिलने की आशा तो बहुत ही कम है। वह कोई पण्डित ही होगा जो इस गूढार्थ उक्ति के भीतर प्रवेश कर इसके मर्म समझने मे समर्थ होगा।

'रूपकातिशयोक्ति' का आश्रय लेकर सूरदास ने जो अनुपम बाग लगाया है वह भी देखने ही योग्य है—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीडत है तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत वसे ता ऊपर ता अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव तापर शुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मणिधर नाग॥

यह अद्भुत अनुपम बाग है श्री व्रजनन्दिनी राधासुन्दरी की देहयष्टि। इसकी अनुपमेयता पर तो दृष्टिपात कीजिए। यहाँ दो कमलो (चरणों) के ऊपर गज (मन्द गमन) खेल कर रहा है और उसके ऊपर सिंह (कटि) प्रेम कर रहा है! सिंह के ऊपर है सरोवर (नाभि) और उस सरोवर के ऊपर विराजता है तुंगशिखर पर्वत (कुच) जिसके ऊपर कमल (मुख) विकसित हो रहा है। उस कमल मे रहता है कपोत (कण्ठ) जिसके ऊपर अमृतमय फल (चिबुक, ठुड्डी) लगा हुआ है। उस सरस फल के ऊपर लगा है फूल (गोदना) जिसके ऊपर पल्लव (होठ) लहरा रहा है। उस पर अनेक चीजे बैठी हैं—शुक (नासिका), पिक (वाणी), मृगमद (कस्तूरीबिन्दु) और काग (काकपक्ष, पाटी), खजन (नेत्र), धनुष् (भौहे), जिस पर चन्द्रमा (अष्टमी का चन्द्रमा—ललाट) चमकता है और इस चन्द्रमा के ऊपर विराजता है एक मणिधर साँप (वेणी)। इस प्रकार कवि ने श्री राधिका को एड़ी से लेकर चोटी तक के अगो का बड़ा ही सुहावना और अद्भुत वर्णन प्रस्तुत किया है।

यहाँ सूरदास ने संस्कृत कवियों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण किया है। संस्कृत के एक प्राचीन कवि ने इस अलकार की समृद्धि से नायिका के शरीर को एक विचित्र बावडी के रूप मे चित्रित किया है।

वापी कापि स्फुरति गगने तत् परं सूक्ष्मपद्या
सोपानालीमधिगतवती काञ्चनीमैन्द्रनीली।

अग्रे शैलौ सुकृतिसुलभौ चन्दनच्छन्नदेशौ
तत्रत्याना सुलभममृत सन्निधानात् सुधांशोः॥

आकाश (शून्याधार अतीवक्षीण कटि) मे एक वापी (नाभि) झलकती है। उसके आगे इन्द्रनीलमणि की बनी हुई एक पद्या है जो सोने की चनी हुई सोपानपक्ति के ऊपर से जाती है—नाभि के ऊपर त्रिवलि से जाने वाली रोमरेखा की ओर सकेत है। उसके आगे दो पहाड़ (कुच) हैं जिनके प्रदेश चन्दन से ढके हुए हैं तथा पुण्यवानों के ही लिए जो सुलभ हैं। सुधाकर (मुख) के सान्निध्य के कारण वहाँ के निवासियों के लिए अमृत (अधररस) सदा सुलभ है। इस कमनीय पद्य मे कवि रूपकातिशयोक्ति के सहारे नायिका के सातिशय सौन्दर्य की सूचना देता है।

'उपालम्भ' भी अतीव सजीव वस्तु है। उक्तिविचित्रता से उसमें अत्यधिक सजीवता का सचार हो जाता है। इसका सर्वाङ्गशोभन उदाहरण 'भ्रमर-गीत' के प्रसङ्ग में सूरदास ने उपस्थित किया है। उद्धव के ऊपर व्यापारी के कार्य का आरोप कितनी सरसता तथा सजीवता का सूचक है—

आयो घोप बड़ो व्योपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज मे आय उतारी॥
फाटक देकर हाटक मांगत भोरे निपट सुधारी।
धुर ही ते खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी॥
इनके कहे कौन डहकावै ऐसो कौन अजानी।
अपनो दूध छाड़ि को पीवै खार कूप को पानी॥

सचमुच यह वडा विचित्र व्यापारी व्रज मे आ धमका है। विना समझे बूझे ही उसने ज्ञान-योग का खेप (बोझ) लादकर ब्रज मे उसे उतारा है। उसकी चालाकी तो देखिये। फटकन देकर वह सोना माँगता है। उसने हम लोगों को निरा मूर्ख ही समझ रखा है। वड़ी ही मर्मस्पर्शिणी उक्ति है !!!

उपमानों की आनन्ददशा का वर्णन करके सूरदास ने 'अप्रस्तुतप्रशसा' द्वारा राधा के अगो और चेष्टाओं का विरह से द्युतिहीन तथा मलिन होना व्यञ्जित किया है—

तब तें इन सबहिन सचु पायो।
जब तें हरि सन्देस तिहारो सुनत ताँवरो आयो ॥
फूले व्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे बैठि बिहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो ॥
निकसि कन्दरा ते केहरिहू माथे पूंछ हिलायो।
वन गृह तें गजराज निकसि कै अँग अँग गर्व जनायो ॥

श्री राधाजी की चेष्टाओं और अंगों का मन्द तथा श्रीहीन होना कारण है और उपमानों का आनन्दित होना कार्य है। सूरदास ने अप्रस्तुत कार्य का वर्णनकर प्रस्तुत कारण की व्यञ्जना की है। इस उक्ति मे चमत्कार है तथा नितान्त रसात्मकता भी है।

कहीं कहीं सूर की उक्तियो में चमत्कार का ही विशेष विधान लक्षित होता है। सातिशय कल्पना के सहारे उन्होंने इतनी विचित्र उक्तियाँ कह डाली हैं कि उनमे अस्वाभाविकता भी दृष्टिगोचर हो रही है, परन्तु उक्ति का वैचित्र्य पूर्णमात्रा में यहाँ उन्मीलित हो रहा है। एक उक्ति देखिए जिसमे चन्द्रमा की दाहकता से चिढ़कर एक गोपी वियोगिनी राधा से कह रही है—

कर धनु लै किन चन्दहि मारि।

तू हरुवाय जाय मँदिर चढि ससि संमुख दर्पन विस्तारि।
याही भाँति बुलाय, मुकुर महि अति बल खड खंड करि डारि ॥

आशय है कि तू मन्दिर के ऊपर चढ़ जाओ, चन्द्रमा के सामने दर्पण रख दो जब चन्द्रमा उसमें चला आवे, तब उसे खण्ड खण्ड कर डालो। न रहेगा बाँस न बाजेगी बाँसुरी। न रहेगा चन्द्रमा, न रहेगी चाँदनी जो तुम्हे सन्तप्त बना रही है। इस उक्ति मे जो अस्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है वह विरहोन्माद के कारण समर्थित की जा सकती है। पागल को चेतन-अचेतन का ध्यान नहीं रहता। वियोग से उन्मत्त व्यक्ति उचित अनुचित का विचार कभी नहीं करता। सूर की यह उक्ति श्रीहर्ष की उक्ति के आधार पर प्रस्तुत की गई जान पडती है। दमयन्ती के विरहवर्णन मे कवि कहता है—

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं
बहिरितो मुकुरं च कुरुष्व मे।
विशति तत्र यदैव विधुस्तदा
सखि ! सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ॥

—नैषधचरित ४ । ५६

सुन्दर सरस उक्तियों का सद्भाव जायसी की कविता मे भी कम नही है। जायसी की उक्तियो में प्रकृति के कोमल निरीक्षण के साथ साथ कवि की भावुकता स्पष्ट रूप से झलकती दीखती है। एक उक्ति के सौन्दर्य का अवलोकन कीजिए—

सरवर-हिया घटत नित जाई।
टूक टूक होइ कै बिहराई॥
बिहरत हिता करहु पिउ टेका।
दीठी-दवँगरा मेरवहु एका॥

वैशाख मास के सम्बन्ध मे यह उक्ति है। जब तालो का पानी सूखने लगता है तब पानी सूखे हुए स्थानों मे बहुत सी दरारे पड़ जाती हैं जिससे उसका तल कटा हुआ दिखाई पडता है। वर्षा के आरम्भ मे जब झड़ी (दवँगरा) पड़ती है, तब ये दरारें फिर मिलकर एक हो जाती हैं। इसी दृश्य का वर्णन कवि यहाँ कर रहा है। विरह के कारण विदीर्ण होनेवाला नायिका-हृदय सरोवर के समान है और प्रियतम का दृष्टिपात वर्षाकालीन झड़ी के समान है। कवि का आशय है कि जिस प्रकार वर्षा की आरम्भिक झड़ी दरारों को भरकर एक कर देती है, उसी प्रकार नायक का स्निग्ध दृष्टिपात विरह से विदर्ण हृदय को—दरारो को स्निग्धता से भरकर फिर पूरा कर देगा। कितनी कोमल तथा रसस्निग्ध यह उक्ति है! कवि का प्रकृति-निरीक्षण बिल्कुल सटीक है। साथ ही सादृश्य की भावना कितनी माधुर्यपूर्ण तथा स्वाभाविक है। यह भी व्यापक वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही चमत्कार है।

महाकवि **घनानन्द** का काव्य वक्रोक्तियो का खजाना ही है। कवि व्रजभाषा का प्रौढ़ पारखी है और शृगाररस का मर्मी है। उसकी उक्तियाँ

इतनी सरस, चमत्कारी तथा रसाभिव्यञ्जक हैं कि यदि हिन्दी साहित्य में उन्हे अनुपम कहा जाय, तो कुछ अनुचित नही है। घनानन्द विप्रलम्भ शृंगार के कवि हैं। उनकी उक्तियाँ एक से एक चमत्कारपूर्ण तथा प्रकृत भाव को हृदयंगम करानेवाली हैं। एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

तव तौ छबि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित-पोप के तोप सुप्रान पले, बिललात महा दुख-दोष-भरे।
घन-आनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे॥

संयोग तथा वियोग की दशाओ का तारतम्य दिखलाया जा रहा है। नायक नायिका मे वियुक्त होकर अपना दिन काट रहा है। वह अपनी दशा की तुलना पूर्व जीवन से कर रहा है। उस समय तो शोभा पीते हुए, रूप निरखते हुए जीते थे। अब सोच के मारे मेरे नेत्र जरे जाते हैं। जो नेत्र छविसुधा से पूर्ण थे आज वे ही शोकाग्नि से जल रहे हैं। तब प्रेम के पोषण से प्राण अघाकर सन्तुष्ट थे। आज वे ही प्राण महान् क्लेश से व्याकुल होते हैं। सुजान मीत के बिना सुख के समस्त साज आज हट गये हैं। उस समय छाती पर लटकने वाली हार आलिंगन में व्याघातक होने के कारण पहाड़ के समान जान पड़ता था, आज हम दोनो के बीच में आकर पहाड़ पड़ गये हैं अर्थात् दोनो के बीच अलङ्घ्य पर्वत आ गये हैं जिससे मिलने की बात सपना हो गई है। पूरी सवैया कवि की विदग्धता तथा सरसता की पूर्ण परिचायिका है। अन्तिम चरण की उक्ति तो नितान्त चमत्कारपूर्ण है। साथ ही साथ रसपेशल भी है। सवैये का अन्तिम चरण इस प्राचीन संस्कृत पद्य के भाव से भलीभाँति समता रखता है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्—सागर—भूधराः॥

परन्तु घनानन्द की उक्ति मे जो नोंकझोंक दीख पड़ता है वह संस्कृत के सरल पद्य मे कहाँ!

एक दूसरी उक्ति का सौन्दर्य देखिए—

कन्त रमै उर अन्तर मैं सु लहै नहीं क्यों सुख-रासि निरन्तर।
दंत रहै गहि आँगुरि, ते जु वियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौ घन आनँद रैनि दिना बिन जान सुतंतर।
जानै वेई दिन-रात, बखाने ते जाय परै दिनराति को अंतर॥

नायिका अपनी विरहदशा का वर्णन कर रही है—यदि कोई कहे कि प्रिय तो तुम्हारे हृदय मे बसता है तो तुम सन्तत सुख की राशि क्यों नहीं पाती? इसका उत्तर तो यही है कि प्रेम के वश में रहनेवाले तथा वियोग की आग मे अपने शरीर को पकानेवाले भी लोग मेरी विरह-ज्वाला देखकर आश्चर्य से दाँतो तले अँगुली दबा लेते हैं। दिन-रात जो दुःख मैं अनुभव कर रही हूँ उसे तो वे दिन-रात ही जानते हैं, और स्वतन्त्र वृत्तिवाला कौन जान सकता है। यदि मैं अपने वियोग का वर्णन करूँ तो वास्तव स्थिति और कथन मे दिन-रात का सा अन्तर मालूम पड़ने लगता है। अर्थात् दुःख के अनुभव की स्थिति और कथित स्थिति मे महान् अन्तर पड़ जाता है। विरहवेदना केवल अनुभवैकगम्य है। उसका कथन उसकी उग्रता तथा वास्तविकता को कथमपि प्रकट नहीं कर सकता! यह चारु उक्ति भाव को नितान्त तीव्र बना रही है। उक्ति का वैचित्र्य कौतूहलजनक नहीं है, प्रत्युत रसोद्बोधक है। घनानन्द की कविता में कुन्तक की वक्रोक्ति के नाना प्रकारों का दर्शन हमे मिलता है।

उर-भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी विराजति बात-बनी।
मृदु मञ्जु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रस-रूप-मनी।
रसना-अली कान-गली मधि ह्वै पधरावति लै चित सेज ठनी।
घन-आनँद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान-धनी॥

बातरूपी दुलहिन हृदय के भवन मे मौन का घूँघट काढ़कर छिपकर बैठी हुई है—बात हृदय के भीतर मौन की ही आड़ मे रह जाती है, बाहर प्रकट नही होती। प्रीतिपूर्ण रूप की मणि कोमल सुन्दर पदार्थो (पद के अर्थ) तथा गहनो (उपमा आदि अलंकारो) से शोभित होकर अच्छी

तरह से विलास कर रही है। यदि नवोढ़ा लज्जा के वश में होकर प्रियतम से मिलने के लिए नहीं जाती—स्वयं अग्रसर नहीं होती, तो उसकी कोई अन्तरंग सखी प्रियतम को ही महल में बुलाकर दोनों का संयोग रचाती है। उसी प्रकार यहाँ भी सखी प्रियतम को पधरा रही है। यहाँ जीभ ही सखी है जो कानरूप गली के बीच से होकर प्रिय को चित्त की सजी हुई सेज पर लाकर बैठाती है। तब स्नेही सुजान प्रिय बुद्धि के अंक में बैठकर विलास कर रहा है। यह साङ्ग रूपक कितना सुन्दर तथा रमणीय है। चमत्कार-भरी उक्ति के द्वारा कवि बुद्धि और ज्ञान के मिलन की कैसी मनोहर झाँकी दे रहा है! यह उक्ति रिझवारों को अवश्यमेव रिझाने-वाली है। समझदारों की हृदयकली इसके श्रवणमात्र से खिल उठती है!

सचमुच घनानन्द जी की आनन्द-भरी उक्तियों का आनन्द वही उठा सकता है जिसने हृदय की आँखों से स्नेह की पीड़ा का स्वतः अनुभव किया हो—

समुझै कविता घनआनँद की हिय-आँखिन नेह की पीर तकी।

+ + + +

उपसंहार

आचार्य कुन्तक के महनीय **वक्रोक्तिवाद** का यही विशिष्ट परिचय है। इसके रूपानुशीलन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **वक्रोक्ति** काव्य का नितान्त व्यापक, रुचिर तथा सुगूढ़ तत्त्व है जिसके अस्तित्व के ऊपर कविता मे चमत्कृति का संचार होता है। कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं; परन्तु उनकी अभिधा शब्दों का शक्तिरूप आद्य एकदेशीय व्यापार नहीं है, प्रत्युत उनकी अभिधा के भीतर लक्षणा तथा व्यञ्जना का समग्र ससार विराजमान है। बालरुचि वाले कवियों को पसन्द आनेवाले चमत्कार के वे पक्षपाती नही हैं, प्रत्युत वे रस को काव्य का मुख्य अर्थ माननेवाले आचार्य हैं।

वे अपनी वक्रोक्ति के अन्तर्गत वर्णचमत्कार तथा पदचमत्कार को ही नहीं मानते, प्रत्युत अलंकार, गुण, रीति, रस, ध्वनि जैसे मुख्य काव्यतत्त्वों का भी समावेश मानते हैं। उक्ति में चमत्कार की सत्ता मानने पर भी वे क्रोचे के समान कलापक्ष के समर्थक नहीं हैं—वे काव्य में हृदयपक्ष के पोषक हैं। उनकी सम्मति मे काव्य जगत् के प्राणियों का मंगल करता है, उन्हें नैतिक आदर्श की भव्य झाँकी दिखलाता है जिससे वे अपने जीवन को मंगलमय, कल्याणमय तथा स्फूर्तिमय बना सकें। पाश्चात्य आलोचकों ने भी वक्रोक्ति का विधान काव्य में उपयुक्त बतलाया है परन्तु एक सामान्य-चर्चा के अतिरिक्त वे उसका विशेष विस्तार कर न सके। वहाँ वक्रोक्ति बीज-रूप में ही है। यहाँ वह फलद वृक्ष के रूप मे विराजती है। कुन्तक की आलोचना की प्रौढ़ता तथा सूक्ष्मता का परिचय इसीसे लग सकता है कि पश्चाद्वर्ती ध्वनिवादी आलंकारिकों ने उनकी वक्रोक्ति के समग्र प्रकारों को ध्वनि का प्रभेद मानकर अंगीकार कर लिया है। यदि भेद है तो केवल नाम का। कुन्तक के उद्भावित तथ्य की अवहेलना कथमपि नहीं की जा सकती। उनकी आलोचनाशक्ति इतनी तलस्पर्शिनी है, लेखनशैली इतनी मार्मिक है, हृदय इतना रसपेशल है, बुद्धि इतनी विषयग्राहिणी है कि हम उनकी गणना भारत के महिमामय मान्य आलोचकों की श्रेणी मे करने से पराङ्मुख नहीं हो सकते। वे आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त जैसे उदात्त आलंकारिकों की कोटि के आलोचक थे, इसमें किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं है।

अन्त में हम आचार्य कुन्तक के इस कमनीय पद्य से वक्रोक्तिवाद का यह विवेचन समाप्त करते हैं जिसमे वैदग्ध्यमण्डित वाणी की तुलना सुन्दरी की रमणीय कटाक्षछटा से ही की गई है।

स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवणया माधुर्यमुद्राङ्कया
विच्छित्या हृदयेऽभिजातमनसामन्तः किमप्युल्लिखत् ।
आरूढरसवासना-परिणतेः काष्ठां कवीनां परं
कान्तानां च विलोकितं विजयते वैदग्ध्यवक्रं वचः ॥

अपने अभिप्राय के प्रकट करने मे चतुर तथा, माधुर्य की मुद्रा से अंकित चमत्कार के द्वारा ये दोनों सहृदयो के हृदय में किसी अनिर्वचीय तत्त्व को प्रकट करते हैं। ये दोनो कवियों की रसवासना की परिपक्वता के उत्कर्ष पर आरूढ़ होनेवाले हैं—इन दोनों में से एक है कान्ता का स्निग्ध विलोकन और दूसरा है विदग्धता से मण्डित वक्रवचन ! ऐसे वैदग्ध्यमण्डित वक्र-वचन को केवल चमत्कारजनक वचन मानना क्या कथमपि न्याय्य है ? महा-कवियो का मार्ग ही निराला होता है जिसमे वक्र उक्तियाँ विभूषण होती हैं—वाक्य के अर्थ का बाध ही परम उत्कर्ष होता है—अभिधाशक्ति से वाच्य अर्थ का प्रकट करना ही दोष होता है। सचमुच वह व्यञ्जना-प्रधान टेढ़ा मार्ग सबसे निराला है—

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः ।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥

परिशिष्ट

(१)

ग्रन्थकार

२

ग्रन्थ

—:o:—

विषय